आर्यशूर-कृत

जातकमाला

जातक १–२०

मूल संस्कृत और हिन्दी अनुवाद

सम्पादक और अनुवादक

सूर्यनारायण चौधरी, एम० ए०

प्रकाशक

संस्कृत-भवन, कठोतिया

पो० काझा, जिला पूर्णिया (बिहार)

प्रथम संस्करण 1 नवम्बर १९५२ ई० मूल्य ३)

प्रकाशक
संस्कृत-भवन, कठोतिया
पो० काझा, जिला पूर्णिया (विहार)

प्रथम संस्करण
मार्गशीर्ष, विक्रम-संवत् २००९
१००० प्रतियाँ

मुद्रक
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव,
भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, बनारस।

भूमिका

जातकमालामें बुद्धके पूर्व-जन्मोंकी कथाएँ हैं। बुद्ध सर्वज्ञ थे। वे अपने पूर्व-जन्मोंकी घटनाओंको भी जानते थे। गीता (४।५) में भी कृष्णने कहा है—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥

हे अर्जुन, मेरे और तेरे अनेक जन्म बीत चुके हैं। हे परंतप, मैं उन सब जन्मोंको जानता हूँ, तू नहीं जानता।

बुद्धने एक जन्मके ही प्रयत्नोंसे बुद्धत्व नही पाया था। उन्होंने असंख्य जन्मोंतक बुद्धत्व-प्राप्तिके लिए भगीरथ-प्रयत्न किये थे। जब वे अपने पूर्व-जन्मोंमें सद्गुणोंका विकास और सत्कर्मोंका आचरण कर रहे थे, तब उनकी संज्ञा बोधिसत्त्व थी। बोधिका अर्थ है बुद्धत्व और सत्त्वका अर्थ है प्राणी। इस प्रकार बोधिसत्त्वका अर्थ है बुद्धत्व-प्रप्तिके लिए प्रयत्न करनेवाला प्राणी। बोधिसत्त्वको हम भावी बुद्ध भी कह सकते हैं। बुद्ध तो सर्वज्ञ थे ही, किंतु बोधिसत्त्व भी कभी कभी अपने पूर्व जन्मको स्मरण कर सकते थे। बोधिसत्त्व कोशल-अधिपतिने (देखिये कुल्माषपिण्डी-जातक) अपने अतीत जन्मको स्मरण करते हुए कहा था कि पूर्व जन्ममें जब वे मजदूर थे तब भिक्षुओंको कुछ भोजन देनेके फल-स्वरूप ही वे दूसरे जन्ममें कोशलके अधिपति हुए और उनकी धर्मपरायणा रानीने भी (जो बोधिसत्त्व नहीं थी) अपने अतीत जन्मको स्मरण करते हुए कहा कि पूर्व जन्ममें जब वह दासी थी तो किसी मुनिको कुछ भोजन देने के फलस्वरूप ही वह कोशलाधिपतिकी रानी हुई।

बुद्धके जीवनमें सैकड़ों बार ऐसे अवसर आये जब कि तत्कालीन किसी घटनाको देखकर उन्हें पूर्व-जन्मकी घटना स्मरण हो जाती थी और वे उस जन्मकी घटना उपस्थित श्रोताओंको सुनाकर वर्तमानके साथ अतीतका मेल बैठा दिया करते थे। और वह उनकी एक जन्म-कथा या जातक-कथा हो

जाती थी। इस प्रकारकी ५४७ जातक-कथाएँ पालिमें उपलब्ध हैं। विशेपतः इन्हीं पालि-जातकों[1] और कुछ श्रुति-परम्परागत बौद्ध कथाओंसे भी आर्यशूरने अपनी माला या संग्रहके लिए जातकोंका चयन किया है।

मैक्समूलर (Maxmuller) और स्पेयर (Speyer) इन जातकों को बुद्धके पूर्व-जन्मोके वास्तविक वृत्तान्त न मानकर उपदेश-प्रद कथाएँ मानते हैं। इस प्रकारकी कथाओंकी परम्परा बुद्धसे पहलेसे ही भारतमें आरही थी। बुद्ध और बौद्ध आचार्योंने भिक्षु संघ और जनताको धर्मोपदेश देनेके लिए इन कथाओंका उपयोग किया है। बुद्धके समयमें और उनके पीछे इनकी संख्यामें वृद्धि हुई हैं। जातकमालाका व्याघ्री-जातक पालि-जातकोंमें उपलब्ध नहीं है। आर्यशूरने श्रुति-परम्परासे ही इसे अपने गुरुसे सुना था। जातक-ग्रन्थके अतिरिक्त पञ्चतन्त्र और कथासरित्सागर भारतवर्षके दो प्राचीन प्रमुख कथा-ग्रन्थ हैं। पञ्चतन्त्रका पूर्वरूप नष्ट हो गया तथा कथासरित्सागरका आधार बृहत्कथा[2] भी अनुपलब्ध है। कितनेही जातकोसे मिलती-जुलती कथाएँ पञ्चतन्त्र और कथासरित्सागरमें पाई जाती हैं। भारतीय कथा-साहित्य प्राचीनकालमें ही विश्वके विभिन्न भागोंमें पहुँचकर वहाँके साहित्यका अविभाज्य अङ्ग हो गया है।

पालि-जातक-ग्रन्थमें सब प्रकारके जातक हैं। अधिकाश तो पञ्चतन्त्र और हितोपदेशकी कथाओंकी तरह नीति-परक और मनोरञ्जक हैं और कुछ बौद्ध-धर्मके आध्यात्मिक उपदेशोके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। पालि-जातक मस्तिष्क और हृदय दोनोंके ही गुणोंके दृष्टान्त हैं, किंतु ये संस्कृत-जातक मुख्यतः हृदयके सद्गुणोंके दृष्टान्त हैं। पालि-जातकोंमें भले-बुरे लोक-व्यवहार और अधम-उत्तम नीतिकी जितनी झलक मिलती है उतनी हृदयके सद्गुणोंकी नहीं, किंतु इन संस्कृत-जातकोंमें हृदयको मृदु और उदार बनानेवाले तत्त्वोंकी ही प्रधानता है।

---

१ पालि-जातकोंका अंग्रेजी, जर्मन, बंगला और हिन्दीमें अनुवाद हुआ है। बंगला-अनुवाद श्री ईशानचन्द्र घोषने और हिन्दी-अनुवाद भदन्त आनन्द कौसल्यायनने किया है। हिन्दी-अनुवादके चार खण्ड ही अबतक हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयागसे प्रकाशित हुए हैं।

२ देखिये लेखकका हर्षचरित, पूर्वार्ध, पृष्ठ ४।

जातकमालाके सब ३४ जातकों[1] मेंसे जो जातक पालिसे लिये गये हैं उनका मुख्यांश तो मूलका ही है, किंतु इनमें कवि शूरने उपयुक्त परिवर्तन भी किया है। कुछ जातकोंको सुरुचिपूर्ण बनानेके लिए कविने मूलके बीभत्स दृश्योंको छोड़ भी दिया है (देखिये शिबि-जातक और क्षान्तिवादी-जातक)। जातकमालाके सभी जातकोंके प्रधान पात्र बोधिसत्त्व हैं। वे मनुष्योंकी योनिमें कभी राजा, कभी आचार्य, कभी तपस्वी और कभी श्रेष्ठीके रूपमें प्रकट होते हैं; देव-योनिमें देवताओंके अधिपति शक्र होते हैं और पशु-पक्षियोंकी योनिमें शशक मत्स्य मृग या हंस होकर जन्म लेते हैं। जिस किसी भी योनिमें उत्पन्न हों वे बचपनसे ही बड़े होनहार होते हैं, अल्पकालमें ही सर्वगुणसम्पन्न हो जाते हैं। बोधिसत्त्वके जीवनका प्रधान लक्ष्य है—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

मैं न राज्य चाहता हूँ, न स्वर्ग, न मोक्ष। मैं चाहता हूँ कि दुःखी प्राणियोंका दुःखनाश हो।

वे उस बाघिनके आगे, जो भूखकी ज्वालासे व्याकुल होकर अपने सद्यःप्रसूत शावकोंको खानेके लिए उद्यत थी, अपना शरीर उत्सर्ग करते हुए उसकी प्राण-रक्षा और धर्म-रक्षा करते हैं। वे सर्वस्वदानसे ही सन्तुष्ट न होकर अपने शरीरका अवयव भी प्रसन्नतापूर्वक देते हैं। दान-कर्ममें भयानक विघ्न उपस्थित होनेपर भी वे अपने कर्मसे विचलित नहीं होते। तपस्या-कालमें जब वे केवल कमल-नाल खाकर रहते थे तब लगातार कई दिनों तक इन्द्रके द्वारा उनका आहार लुप्त किया जानेपर भी उनके मनमें विकारका उदय नहीं होता है। मनुष्यका ताजा मांस और गर्म रुधिर चाहनेवाले भूखे और प्यासे यक्षोंको अपने ही शरीरसे मांसके टुकड़े खिलाकर और

---

१ हेमचन्द्रने अपने अभिधानचिन्तामणि नामक कोषमें जहाँ बुद्धके अन्य नाम दिये हैं वहाँ उन्हें चतुस्त्रिंशज्जातकज्ञ (अर्थात् अपने ३४ पूर्व-जन्मोंके ज्ञाता) भी कहा है और व्याख्यामें बतलाया है—"चतुस्त्रिंशतं जातकानि व्याघ्रीप्रभृतीनि जानाति चतुस्त्रिंशज्जातकज्ञः।" इसके बाद उन्होंने व्याघ्री-आदि जातकोंके नाम गिनाये हैं, जो जातकमालामें पाये जाते हैं। इस सूचनाके लिए मैं डा० श्रीवासुदेवशरण अग्रवालका अनुगृहीत हूँ।

रुधिरकी धारा पिलाकर वे उन क्रूर-हृदयोंमें भी करुणाका सञ्चार करनेमें समर्थ होते हैं। शशककी योनिमें उत्पन्न होकर वे भूखे अतिथिके लिए अपने सुन्दर शरीरकोही अग्निमें डालकर अतिथि-सत्कारका अलौकिक दृष्टान्त उपस्थित करते हैं। वे आजन्म-आचरित अहिंसाके प्रभावसे समुद्रमें संकटापन्न जहाजके संत्रस्त यात्रियों की प्राण-रक्षा करनेमे समर्थ होते हैं। वे अपने अमात्यकी अत्यन्त रूपवती पत्नीको देखकर मोहित होते हैं और अमात्यद्वारा पत्नी अर्पित की जानेपर भी उसे अस्वीकार करते हुए शीघ्र ही मोह-मुक्त होकर सन्मार्गका उपदेश करते हैं। वे देवेन्द्र शक्र होकर मद्य-पानमें आसक्त राजाको मद्य-पान से विरत कर राजा और उसकी प्रजाका कल्याण करते है।

बोधिसत्त्वके कर्म दिव्य और अद्भुत हैं। उनका जीवन अलौकिक और आदर्श है। उनके सदाचरणसे हम प्रेरणा लें। हम भूखी बाघिनके आगे अपना शरीर उत्सर्ग न करें; किन्तु भूखे प्राणियों—पशुओं और मनुष्यों—की वेदनासे द्रवीभूत होकर उनकी भूखकी ज्वाला शान्त करनेके लिए कुछ उद्योग अवश्य करें। हम परोपकार करना सीखें। उससे प्राप्त होनेवाला दिव्य आनन्द ही हमारा अपूर्व पुरस्कार होगा।

जातकमालाका दूसरा नाम है बोधिसत्त्वावदानमाला। अवदानका अर्थ सुकर्म है। इस प्रकार बोधिसत्त्वावदानमालाका अर्थ होगा बोधिसत्त्वके अवदानों अर्थात् सुकर्मोंकी माला।

जातकमाला गद्य-पद्य-मिश्रित संस्कृतमें है। गद्य-पद्य-मिश्रित रचना हमारे लिए कोई कुतूहलका विषय नहीं है। हमारे यहाँ लोक-कथाओं और ग्रन्थ-कथाओंमें भी यह प्रणाली अपनाई गई है। पञ्चतन्त्र गद्य-पद्य-मिश्रित रचनाका एक प्राचीन उदाहरण है। इस प्रणालीकी उत्पत्तिका बीज पालि-जातकोंमें निहित है। पालि-जातक अत्यन्त सरल गद्य शैलीमें हैं; प्रत्येक जातकमें एक या अधिक गाथाएँ (=श्लोक) भी हैं। जातकमालाकी शैली उदात्त, ओजस्वी और अलंकृत है। अश्वघोष की रचनाओंकी तरह जातकमाला भी एक कलाकारकी कृति है। आर्यशूर और अश्वघोषके पद्योंमें विशेष अन्तर नहीं है। अश्वघोषके पद्य कुछ अधिक सरल हैं। कहीं कहीं शूरके भी पद्य अत्यन्त सरल हैं और साथ ही मार्मिक भी (देखिये विश्वन्तर-जातक, श्लोक ६५–७२)। छन्दोंकी विविधताके

लिए आर्यशूर विख्यात हैं। जातकमालाके गद्यके वाक्य और समास लम्बे लम्बे हैं, किंतु उनका अर्थ स्पष्ट है। निस्सन्देह बाणभट्टकी क्लिष्ट गद्य-शैलीकी अपेक्षा आर्यशूरकी गद्य-शैली बहुत सुबोध है। जातकमालाकी भाषा पाणिनीय व्याकरण-की अनुगामिनी है।

हालैंडके श्रीकर्ण (Kern) द्वारा सम्पादित जातकमालाके आधार हैं कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयकी दो पाण्डुलिपियाँ (संख्या १३२८ और १४१५) तथा पेरिसके राष्ट्रीय ग्रन्थागारकी पाण्डुलिपि (सं० ९५)। मैक्समूलरके इस कथनमें बहुत सत्य है कि कर्णने जातकमालाका जो संस्करण प्रस्तुत किया है वह उत्कृष्ट है और सम्भवतः उसमें परिवर्तन न हो सकेगा। रायल एसियाटिक सोसाइटी कलकत्तासे १९४७ ई० की जनवरी-फर्वरीमें मुझे सूचना मिली है कि वहाँ जातकमालाकी दो पाण्डुलिपियाँ हैं, दोनों नेपालसे आई हैं और `वारी लिपिमें लिखी हुई हैं। उनमेंसे एक (जी ९९८०) खण्डित है, जो ताल-पत्रपर ११ वीं शतीकी नेवारी लिपिमें लिखी हुई है। इसमें अविषह्य-जातकसे आरम्भ होनेवाले पाँच जातक हैं। दूसरी पाण्डुलिपि (बी १३) कागजपर १८वी शतीकी नेवारी लिपिमें है। इसमें सुभाषराज नामक एक अधिक जातक है। दोनों पाण्डुलिपियाँ कर्णके संस्करणसे प्रायः मिलती हैं। पहलीका पाठ अधिक अच्छा है, दूसरी का पाठ कुछ अशुद्ध है।[1] इच्छा रहते भी अनुकूल परिस्थितिके अभावमें मै इन पाण्डुलिपियोंका अवलोकन और उपयोग न कर सका।

---

१ रायल एसियाटिक सोसाइटी कलकत्ताके सहायक पुस्तकाध्यक्ष १५-१-१९४७ के अपने पत्रमें लिखते हैं —

"We have two Mss. of the Jātakamālā, of which one is fragmentary.

(i) G 9980 Palmleaf and paper cut in the form of palmleaf : Folio, 8 (paper) and 16 (palmleaf): paper, modern restoration: Palmleaves written in old Newari: damaged: contains five Jātakas beginning with the Aviṣahya."

जातकमालाका चीनी भाषामें अनुवाद ९६० और ११२७ ई० के बीच हुआ। इस अनुवादमे केवल १४ जातक हैं। इत्सिगके अनुसार ७ वी शतीके अन्तिम भागमें भारतवर्षमे जातकमालाका व्यापक प्रचार था। अजन्ताकी पत्थरकी दीवारोंपर जातकमालाके क्षान्तिवादी, मैत्रीबल, महाहंस, रुरु, शिबि, महा-कपि, महिष आदि जातकोंके दृश्य चित्रित हुए हैं और दृश्य-परिचयके लिए उन जातकोंसे उपयुक्त श्लोक भी उद्धृत हुए हैं। श्लोकोंके अभिलेखकी लिपि छठी शती की है। इससे अनुमान होता है कि ५ वी शतीमें जातकमालाकी ख्याति हो चुकी थी। कहा जाता है कि आर्यशूरने कर्म-फलपर एक सूत्र लिखा था, जिसका चीनी अनुवाद ४३४ ई० में हुआ था। यदि इस सूत्रके लेखक शूर ही हैं तो ये अवश्य ही इस अनुवाद-कालसे पहले हुए हैं।

कला और सौन्दर्यके उपासक, रूप और ऐश्वर्यके प्रशंसक प्रवृत्ति-परक कवि कालिदासने अपनी कृतियोंमें अपने जीवनपर कुछ प्रकाश नही डाला तो त्याग-तपस्या करुणा और परोपकारके अमृत-रसकी धारा बहानेवाले निवृत्ति-परक कवि आर्यशूरको अपने जीवनकी कथा लिखनेकी क्या चिन्ता हो सकती थी? जातकमालाकी पाण्डुलिपियों तथा उसके चीनी अनुवादमें ग्रन्थ-प्रणेताका नाम आर्यशूर ही है। व्याघ्री-जातकके आरम्भमें उन्होंने श्रद्धापूर्वक अपने गुरुका उल्लेखमात्र किया है। ग्रन्थके आरम्भमें अपनी काव्य-कृतिका प्रयोजन बतलाते हुए कविने कहा है:—"मुनि (= बुद्ध) ने अपने पूर्वजन्मोंमें जो सुकर्म किये

(ii) B. 13. Nepali paper: Folio 135: Modern Newari; fresh: contains one more Jātaka than Dr. Kern's edn., viz., "Subhāsarāja."

The two Mss. generally agree with Dr. Kern's edn. But Ms. G 9980 gives better reading and Ms. B. 13 is rather somewhat incorrect."

वे पुन: २४-२-१९४७ के अपने पत्रमें लिखते हैं—

"The Mss. (Nos. G 9980 & B 13) are from Nepal. Their approximate dates of copying are 11 & 18 cen. A. D. respectively."

थे उन्हें मैं अपने काव्यरूपी फूलोंसे पूजूँगा। इन सुकर्मोंसे बोधि-मार्ग प्रकाशित होगा और रूखे मनवालोंका रूखापन दूर होकर उन्हें मृदुता और प्रसन्नता प्राप्त होगी। लोक-कल्याणके उद्देश्यसे उन लोकोत्तमके चरितोंका वर्णन कर अपनी काव्य-प्रतिभाको श्रुतिप्रिय बनानेका प्रयत्न करूँगा।" संक्षेपमें, बुद्ध-पूजा लोक-कल्याण और काव्य-प्रतिभाका सदुपयोग, यहीं था उनकी इस रचनाका प्रयोजन।

तिब्बतके बौद्ध धर्मके प्रसिद्ध इतिहासकार तारनाथका कथन है कि आर्य-शूरने एक बाघिन और उसके बच्चेको भूखसे मरते देखकर अपना शरीर उनके आगे उत्सर्ग करना चाहा। पहले उन्हें कुछ भय हुआ, किन्तु बुद्धके स्मरणसे निर्भय होकर उन्होंने अपने रक्तसे ७० श्लोकोंकी एक स्तुति लिखी। फिर अपने शरीरका रक्त पीनेके लिए बाघिन और उसके बच्चेको दिया। रक्त पीकर जब उनके भीतर कुछ शक्ति का संचार हुआ तब आचार्यने अपना शरीर उनके आगे समर्पित कर दिया। उन्होंने अपने गुरुसे सुने हुए व्याघ्री-जातकके बोधिसत्वके अलौकिक कृत्यका अनुसरण किया। जिस कवि और आचार्यने हृदयकी समस्त श्रद्धा और भक्ति-भावके साथ प्रतिभा-प्रसूत काव्य-कुसुमाञ्जलियों से बोधिसत्वके दिव्य और अद्भुत कर्मोंको पूजा है उसने यदि अवसर उपस्थित होनेपर बोधिसत्त्वके अनुकरणमें अपना शरीर भी उत्सर्ग कर दिया हो तो इसमें कुछ आश्चर्य नही।

जौन्स्टनने बुद्धचरितके अंग्रेजी अनुवादकी भूमिकामें पृष्ठ ३७ पर लिखा है कि जातकमालाकी दो व्याख्याएँ विद्यमान हैं। बहुत दिनों तक मैं इस भ्रममें रहा कि ये व्याख्याएँ संस्कृतमें लिखी गई कहीं अप्रकाशित पड़ी हैं। देशके कई विद्वानों और संस्थाओंसे पत्र-व्यवहार करनेपर केवल डा० राघवन् (मद्रास विश्वविद्यालय) से उनके ५–१२–१९५० के पत्रमें यह निश्चयात्मक उत्तर मिला—"दोनों व्याख्याएँ तिब्बती भाषामें सुरक्षित हैं। देखिये पी० कोर्डियरका सूचीपत्र, भाग ३, पृष्ठ ४१७ और ५१३। दो व्याख्याओंमेंसे पहली है टीका, जिसके लेखक कोई धर्मकीर्ति बतलाये गये हैं और दूसरी है पञ्जिका, जिसके लेखकका नाम नहीं दिया गया है[1]।" डा० राघवन्के सौजन्यसे मेरा भ्रम दूर

---

१ The two commentaries mentioned by Johnston are preserved in the Tibetan. See Catalogue of

हुआ। मैं उनका कृतज्ञ हूं। यदि इन व्याख्याओं और चीनी अनुवादके अंग्रेजी या हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत हो जायँ तो इनसे आर्यशूर और जातकमालापर कुछ नया प्रकाश पड़े।[१]

कर्णद्वारा सम्पादित जातकमाला अमेरिकाकी हार्वर्ड-प्राच्य-माला (Harvard Oriental Series) के प्रथम ग्रन्थके रूपमें १८९० ई० में हार्वर्ड विश्वविद्यालय प्रेसमें मुद्रित होकर प्रकाशित हुई तथा स्पेयर-कृत अंग्रेजी अनुवाद आक्सफोर्ड की बौद्ध-धर्मग्रन्थ-माला (Sacred Books of the Buddhists) के प्रथम ग्रन्थके रूपमें १८९५ ई० में आक्सफोर्ड विश्व-विद्यालय प्रेसमें छपकर प्रकाशित हुआ। पहली ग्रन्थमालाके प्रधान सम्पादक हैं मैक्समूलर और दूसरीके लैनमन (Lanman)। इंगलैण्ड और अमेरिका के

P. Cordier Pt. 3, pp. 417 & 513. A Dharmakirti is mentioned as the author of the first, a Tīkā and the second (a) Pañcikā, is enterd anonymous."—Dr. V. Raghavan.

१ भूमिका लिखनेके उपरान्त डा० श्रीवासुदेवशरण अग्रवालके सौजन्यसे मुझे विदित हुआ है कि जातकमालाके रचयिता आर्यशूरने पारमितासमास नामक एक दूसरा ग्रन्थ भी लिखा था जिसकी मूल प्रति नेपाल महाराजके पुस्तकालयमें सुरक्षित है। उसकी प्रतिलिपि इटलीके प्रसिद्ध विद्वान् डा० तुचिने की थी। उसे आधार मानकर उनकी शिष्या डा० फेरारी (A. Ferrari) ने इटली भाषामें अनुवादके साथ पारमिता-समासका एक संस्करण १९४६ में रोमसे एनाली लेटरेनेन्सी (Annali Lateranensi) नामक पत्रिकाके भाग १० में प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थमें दान-पारमिता शील-पारमिता क्षान्ति-पारमिता वीर्य-पारमिता ध्यान-पारमिता और प्रज्ञा-पारमिता नामक छः समास या सर्ग हैं और ३६४ श्लोक हैं। पारमिता अर्थात् नैतिक और आध्यात्मिक पूर्णताका जो आदर्श जातकमालाकी कथाओंमें पाया जाता है वही इस पारमिता-समासमें भी प्रतिपादित हुआ है। इसकी भाषा भी जातक-मालाकी भाँति सरल है।

विश्व-विख्यात दो विद्या-केन्द्रों से योरोपके इन दो प्राच्य महाविद्वानोंके प्रधान सम्पादकत्वमें कर्ण और स्पेयर-सदृश विशेषज्ञों द्वारा क्रमशः सम्पादित और अनूदित होकर जातकमालाका भव्य मनोरम और शीर्षस्थानीय रूपमें प्रकाशित होना जहाँ एक ओर इस ग्रन्थ-रत्नकी उत्कृष्टताको प्रमाणित करता है वहाँ दूसरी ओर पाश्चात्य देशोंके भारतीय-विद्या-विषयक अनुरागका उज्ज्वल दृष्टान्त भी उपस्थित करता है।

जातकमालाका अमेरिकन संस्करण सब प्रकारसे सुन्दर होनेपर भी कीमती है। १९४७ ई० में मैंने बैङ्क द्वारा ४ डालर ४१ सेन्ट भेजकर हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेससे इसकी एक प्रति मँगाई थी। इस समय भारतीय प्राच्य-पुस्तक विक्रेताओंसे २५) रु० में एक प्रति मिलती है। इसके एक सुलभ संस्करणकी आवश्यकता निर्विवाद है। काशीसे जो जातकमाला प्रकाशित हुई है उसमें परीक्षोपयोगी चुने हुए १०-११ जातक ही हैं। इस सद्ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद होना भी आवश्यक है। कोई २० वर्ष पूर्व पटना-निवासी श्री महेशचन्द्रने चुने हुए कुछ जातकोंका संक्षिप्त अनुवाद छपवाया था और वह भी वर्षोंसे अप्राप्य है।

ऐसी परिस्थितिमें, आशा है, मेरा यह प्रयास उपयोगी सिद्ध होगा। इसमें आदिसे २० जातक दिये गये हैं। यदि पाठकोंने इसे अपनाया तो शेष १४ जातकोंको भी इसी रूपमें प्रकाशित करूँगा।

विजया दशमी, संवत् २००६ } **सूर्यनारायण चौधरी**

विषय-सूची

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध
२	६	श्लाघ्यै०
२	१९	सर्वसत्त्वेष्व०
४	३	०वृत्तिन्युदितोदिते
१८	२१	समभिलषितमनो०
२०	६	चक्षुःप्रदाना०
२२	४	योज्यते
२२	१८	नैककारण०
२६	१४	देवेन्द्र०
२८	४	निगूहितुं
३०	३	बतौदार्य०
३०	१३	०निमेष०
३६	१८	रेणेषु
३६	२०	लभे
४१	२३	अल्पज्ञो
४४	३-४	ज्ञानाग्निनिर्दग्ध०
४४	२१	भवन०
४६	२१	०दृते
५२	१	गदितुं
६०	१२	समभि०
८२	११	स तथैव
९८	२२	नालम्बते
१००	१८	कीदृशं
११०	२०	मनःसमुत्सर्पण०
११४	१७	अज्ञानाच्च
११६	१९	मतिस्त्वदर्पणा०
११८	४	तदेवं
११८	८-९	प्रतिज्ञातमेव
१२०	१७	०मभिरुह्य
१२२	५-६	समुच्छ्रिता०
१२२	१८	यशोधर्मौ
१३४	९	यथार्हमतिसृज्य
१४०	११-१२	स्नेहावेगा०
१५०	१	देवि मा
१५२	४	विवेद
१६६	४	निभृते
१७४	५	न तु
१७४	६	सत्त्वान्यमूनि
१७४	९	रिपवस्तु
१७८	४	प्रभूततरं
१८०	६	युक्तमिव
१८२	२१	लज्जां
१९२	८	प्रभुत्वेन
२१४	१४	मरुद्वसूंश्च
२२०	९	भाग्यसम्पद्वैकल्या०
२२४	१६	व्यापारयोगं
२३०	१४	सत्यवचनेऽभियोगः
२५१	२७	उपवेदो[२]
२५६	१७	०शब्देन
२६६	१२	विडम्बनेव
२६७	५	विडम्बक[१]
२६८	११	श्वश्रूर्दुहितर०

श्रीमदार्यशूरविरचिता

जातकमाला

बोधिसत्त्वावदानमालापराख्या

मालामिमां सौगतजातकानां
दिव्याद्भुतां हिन्द्यनुवादयुक्तां ।
लोकस्य मुद्रापयितां हितार्थं
गृह्णातु विद्वानविचिन्त्य दोषान् ॥

जातकमाला

ओं नमः श्रीसर्वबुद्धबोधिसत्त्वेभ्यः ॥

श्रीमन्ति सद्‌गुणपरिग्रहमङ्गलानि
कीर्त्यास्पदान्यनवगीतमनोहराणि ।
पूर्वप्रजन्मसु मुनेश्चरिताद्‌भुतानि
भक्त्या स्वकाव्यकुसुमाञ्जलिनार्चयिष्ये ॥ १ ॥
श्लाघ्यैरमीभिरभिलक्षितचिह्नभूतै-
रादेशितो भवति यत्सुगतत्वमार्गः ।
स्यादेव रूक्षमनसामपि च प्रसादो
धर्म्याः कथाश्च रमणीयतरत्वमीयुः ॥ २ ॥
लोकार्थमित्यभिसमीक्ष्य करिष्यतेऽयं
श्रुत्यार्षयुक्त्यविगुणेन पथा प्रयत्नः ।
लोकोत्तमस्य चरितातिशयप्रदेशैः
स्वं प्रातिभं गमयितुं श्रुतिवल्लभत्वम् ॥ ३ ॥
स्वार्थोद्यतैरपि परार्थचरस्य यस्य
नैवान्वगम्यत गुणप्रतिपत्तिशोभा ।
सर्वज्ञ इत्यवितथाक्षरदीप्तकीर्तिं
मूर्ध्ना नमे तमसमं सहधर्मसंघम् ॥ ४ ॥

१ व्याघ्री-जातकम्

सर्वसत्त्वेष्वकारणपरमवत्सलस्वभावः सर्वभूतात्मभूतः पूर्वजन्मस्वपि स भगवानिति बुद्धे भगवति परः प्रसादः कार्यः ॥ तद्यथानुश्रूयते रत्नत्रयगुरुभिः प्रतिपत्तिगुणाभिराधितगुरुभिर्गुणप्रविचयगुरुभिरस्मद्‌गुरुभिः परिकीर्त्यमानमिदं भगवतः पूर्वजन्मावदानम् ।

सभी बुद्धों और बोधिसत्त्वोंको प्रणाम।

मुनिने अपने पूर्व-जन्मोंमे जो उज्ज्वल, सद्गुणोंसे परिपूर्ण, मङ्गलमय, कीर्ति-प्रद, अनिन्द्य (निर्दोष), मनोहर और अद्भुत कर्म किये थे उन्हें अपनी काव्य-कुसुमाञ्जलि (मुट्ठी मुट्ठी काव्यरूपी फलो) से भक्तिपूर्वक पूजूँगा। ॥१॥

इन स्तुत्य एवं (मार्गके) चिह्न-स्वरूप[1] कर्मोंसे बोधि-मार्गका उपदेश होता है। इन (कर्मों) से रूखे मनवालोंको भी प्रसन्नता होगी तथा धर्म-कथाएँ और भी रमणीय होगी। ॥ २ ॥

लोक-कल्याणके उद्देश्यसे परंपरा और शास्त्र (सम्मतपद्धति) के अनुसार उन लोकोत्तमके अद्भुत चरितों (कार्यो) का वर्णन कर अपनी (काव्य–) प्रतिभाको श्रुति-प्रिय बनानेका प्रयत्न करूँगा। ॥ ३ ॥

स्वार्थमें तत्पर रहनवाले लोग जिन परार्थचारी (—लोकोपकारी) के सुन्दर सदाचरणका अनुकरण न कर सके तथा 'सर्वज्ञ' इस सार्थक शब्दसे जिनकी कीर्ति प्रज्वलित है, धर्म और संघके साथ उन अनुपम (मुनि) के आगे शिर नवाता हूँ। ॥ ४ ॥

१ व्याघ्री-जातक

भगवान् बुद्ध पूर्वजन्मोंमें भी सभी प्राणियोंसे अकारण ही अत्यन्त स्नेह किया करते थे और उनके साथ एकात्मभावको प्राप्त हो गये थे। इसलिए हमें उन भगवान्‌में परम श्रद्धा होनी चाहिए। इसका यह दृष्टान्त यहाँ दिया जा रहा है। रत्न-त्रय (—बुद्ध, धर्म और संघ) के उपासक, सद्गुणोंके संचयसे गौरवशाली, सद्गुणोंके अभ्यासके कारण गुरुजनोसे पूजित हमारे गुरुवर भगवान्‌के पूर्वजन्मके इस सुकर्मका कीर्तन किया करते थे।

१ टिप्पणीके लिए देखिये परिशिष्ट।

बोधिसत्त्वः किलायं भगवान्भूतः प्रतिज्ञातिशयसदृशैर्दानप्रियवचनार्थचर्याप्रभृतिभिः प्रज्ञापरिग्रहनिरवद्यैः कारुण्यनिस्यन्दैर्लोकमनुगृह्णन् स्वधर्माभिरत्युपनतशुचिवृत्तिन्युदितोदित महति ब्राह्मणकुले जन्मपरिग्रहं चकार ।। स कृतसंस्कारक्रमो जातकर्मादिभिरभिवर्धमानः प्रकृतिमेधावित्वात्सानाथ्यविशेषाज्ज्ञानकौतूहलादकौसीद्याच्च नचिरेणैवाष्टादशसु विद्यास्थानेषु स्वकुलक्रमाविरुद्धासु च सकलासु कलास्वाचार्यकं पदमवाप ।

स ब्रह्मवद्ब्रह्मविदां बभूव राजेव राज्ञां बहुमानपात्रम् ।
साक्षात्सहस्राक्ष इव प्रजानां ज्ञानार्थिनामर्थचरः पितेव ।। ५ ।।

तस्य भाग्यगुणातिशयसमावर्जितो महाँल्लाभसत्कारयशोविशेषः प्रादुरभूत् । धर्माभ्यासभावितमतिः कृतप्रव्रज्यापरिचयस्तु बोधिसत्त्वो न तेनाभिरेमे ।

स पूर्वचर्यापरिशुद्धबुद्धिः कामेषु दृष्ट्वा बहुदोषजातम् ।
गार्हस्थ्यमस्वास्थ्यमिवावधूय कंचिद्वनप्रस्थमलंचकार ।। ६ ।।

स तत्र निःसङ्गतया तया (च) प्रज्ञावदातेन शमेन चैव ।
प्रत्यादिदेशेव कुकार्यसङ्गाद्विश्लिष्टशिष्टोपशमं नृलोकम् ।। ७ ।।

मैत्रीमयेण प्रशमेन तस्य विस्यन्दिनेवानुपरीतचित्ताः ।
परस्परद्रोहनिवृत्तभावास्तपस्विवद् व्याडमृगा विचेरुः ।। ८ ।।

आचारशुद्धया निभृतेन्द्रियत्वात्संतोषयोगात्करुणागुणाच्च ।
असंस्तुतस्यापि जनस्य लोके सोऽभूत् प्रियस्तस्य यथैव लोकः ।। ९ ।।

ये बोधिसत्व, जो पीछे भगवान् बुद्ध हुए, जब (बार बार जन्म लेकर) अपनी असाधारण प्रतिज्ञाके अनुरूप दान, प्रियवचन, उपकार आदि बुद्धिमत्ता-पूर्ण निर्दोष (स्तुत्य) कार्यो तथा दयाकी वृष्टिसे संसारपर अनुग्रह कर रहे थे तब (एकबार) स्वधर्मानुरागके कारण पवित्र शीलवाले किसी उन्नत और महान्-ब्राह्मण-कुलमें उन्होंने जन्म-ग्रहण किया। उनके जात-कर्म आदि संस्कार क्रमसे सपन्न हुए। वह (धीरे-धीरे) बढ़ने लगे। स्वभावतः मेधावी, उत्तम सहायतासे[1] युक्त, ज्ञानार्जनके लिए उत्सुक और आलस्य-रहित (उद्-योगी) होनेके कारण उन्होंने अल्पकालमें ही अठारहों विद्या-स्थानों एवं वंश-परंपराके अनुरूप सकल कलाओंमें आचार्य-पद प्राप्त कर लिया।

वह ब्रह्म-वेत्ताओंके लिए ब्रह्मके समान, राजाओंके लिए सन्मानित (अधीश्वर) राजाके समान[2], प्रजाओंके लिए साक्षात् इन्द्रके समान और विद्यार्थियोके लिए अनुकूल व उपकारी पिताके समान थे। ॥ ५ ॥

अपने सौभाग्यके कारण उन्हें महान् सम्पत्ति, सत्कार और कीर्ति प्राप्त हुई। किंतु धर्म-शास्त्रके अभ्याससे जिनकी बुद्धि पवित्र हो गई थी और प्रव्रज्या (=संन्यास) से जिनका परिचय हो गया था उन बोधिसत्त्वको उस (लाभ) से आनन्द नही हुआ।

पूर्वके आचरणसे उनकी बुद्धि शुद्ध हो गई थी। भोगोंमें उन्होंने अनेक दोष देखे। अतः गृहस्थीको रोगके समान छोड़कर उन्होंने किसी वन-गिरिको अलङ्कृत किया। ॥६॥

वहाँ उन्होंने अपनी अनासक्ति और प्रज्ञा-विमल शान्तिके द्वारा मनुष्य-लोकको, जो कुकार्योमें आसक्त होनेके कारण सज्जनोंकी शान्तिसे वञ्चित था, मानो तिरस्कृत और लज्जित किया। ॥ ७ ॥

उन्होंने मैत्रीसे परिपूर्ण शान्ति-रसकी धारा बहाई, जो हिंसक पशुओंके हृदयमें घुस गई, जिससे आपसके वैर-भावको छोड़कर वे तपस्वियोंकी भाँति विचरने लगे। ॥ ८ ॥

पवित्र आचरण, इन्द्रिय-संयम, संतोष और करुणाके कारण वह अपरिचित जनताके भी उतने ही प्रिय हो गये जितना प्रिय कि उन्हें समस्त जीवलोक था। ॥९॥

अल्पेच्छभावात्कुहनानभिज्ञस्त्यक्तस्पृहो लाभयशःसुखेषु ।
स देवतानामपि मानसानि प्रसादभक्तिप्रवणानि चक्रे ॥१०॥

श्रुत्वाथ तं प्रव्रजितं मनुष्या गुणैस्तदीयैरवबद्धचित्ताः ।
विहाय बन्धूंश्च परिग्रहांश्च तच्छिष्यतां सिद्धिमिवोपजग्मुः ॥११॥

शीले शुचाविन्द्रियभावनायां स्मृत्यप्रमोषे प्रविविक्ततायाम् ।
मैत्र्यादिके चैव मनःसमाधौ यथाबलं सोऽनुशशास शिष्यान् ॥१२॥

अथ कदाचित्स महात्मा परिनिष्पन्नभूयिष्ठे पृथूभूते शिष्यगणे प्रतिष्ठापितेऽस्मिन्कल्याणे वर्त्मन्यवतारिते नैष्क्रम्यसत्पथं लोके संवृतेष्विवापायद्वारेषु राजमार्गीकृतेष्विव सुगतिमार्गेषु दृष्टधर्मसुखविहारार्थं तत्कालशिष्येणाजितेनानुगम्यमानो योगानुकूलान् पर्वतदरीनिकुञ्जाननुविचचार ॥

अथात्र व्याघ्रवनितां ददर्श गिरिगह्वरे ।
प्रसूतिक्लेशदोषेण गतां निस्पन्दमन्दताम् ॥१३॥

परिक्षामेक्षणयुगां क्षुधा छाततरोदरीम् ।
आहारमिव पश्यन्तीं बालान्स्वतनयानपि ॥१४॥

स्तन्यतर्षादुपसृतान्मातृविस्रम्भनिर्व्यथान् ।
रोरूयितरवैः क्रूरैर्भर्त्सयन्तीं परानिव ॥१५॥

बोधिसत्त्वस्तु तां दृष्ट्वा धीरोऽपि करुणावशात् ।
चकम्पे परदुःखेन महीकम्पादिवाद्रिराट् ॥१६॥

महत्स्वपि स्वदुःखेषु व्यक्तधैर्याः कृपात्मकाः ।
मृदुनाप्यन्यदुःखेन कम्पन्ते यत्तदद्भुतम् ॥१७॥

अल्पेच्छताके कारण वह बगुला-भगती[1] से अनभिज्ञ थे। उन्होंने लाभ, यश और सुखकी अभिलाषा छोड़ दी थी। अतः देवताओंके भी मन श्रद्धा और भक्तिसे उनकी ओर झुक गये। ॥१०॥

वह प्रव्रजित (संन्यासी) हो गये है, ऐसा सुनकर लोग, जो (पहलेसे ही) उनके गुणोंपर मुग्ध थे, स्वजन परिवार और सम्पत्तिको छोड़कर, उनके शिष्य क्या बन गये मानो सिद्धि प्राप्त कर ली। ॥ ११ ॥

उन्होंने पवित्र शील, इन्द्रिय-संयम, स्मृतिकी रक्षा (=सतत जागरूकता) एकान्त-सेवन और मैत्री-भावना आदिसे युक्त मानसिक समाधिके विषयमें अपने शिष्योंको यथाशक्ति उपदेश दिया। ॥ १२ ॥

जब उनकी शिष्यमण्डली बहुत बढ गई और उसमेंसे अनेकोने सिद्धि प्राप्त कर ली, जब (संसारमें) कल्याण-मार्ग स्थापित हो गया और लोग वैराग्यके सन्मार्गपर आरूढ़ हो गये, जब दुर्गतिके द्वार मानो बन्द हो गये और सुगतिके मार्ग मानो राजमार्ग (की तरह प्रशस्त समतल और सुगम) बन गये तब एक बार वह महात्मा इसी जन्ममें सुखपूर्वक विहार करनेके लिए अपने तत्कालीन शिष्य अजितके साथ योगके अनुकूल पर्वत-कन्दराओं और निकुञ्जोंमें घूमने लगे।

तब उन्होंने पर्वतकी कन्दरामें एक युवती बाघिनको देखा, जो प्रसवकी पीड़ासे सुस्त हो गई थी, चल-फिर नही सकती थी। ॥ १३ ॥

भूखसे उसकी आँखें धँस गई थी और उदर क्षीण हो गया था। वह अपने नन्हें बच्चोंको भी अपने आहारके तौरपर देख रही थी। ॥ १४ ॥

दूधकी प्याससे समीपमें आये हुए और मातृ-विश्वाससे निर्भय उन बच्चोंपर क्रूरतापूर्वक बार बार गर्जती हुई वह ऐसे गुर्रा रही थी जैसे शत्रुओंपर। ॥१५॥

उस बाघिनको देखकर बोधिसत्त्व धीर होनेपर भी करुणाके वशीभूत, हो गये और दूसरेके दुःखसे ऐसे काँपने लगे जैसे भूकम्पसे गिरि-राज काँप रहा हो। ॥ १६ ॥

दयालु व्यक्ति अपने भारी दुःखोंमें भी धैर्य धारण करते है और दूसरेके हल्के दुःखसे भी विचलित हो जाते है, यह आश्चर्य है। ॥ १७ ॥

अथ स बोधिसत्त्वः ससंभ्रमाम्रेडितपदं स्वभावातिशयव्यञ्जकं करुणाबलसमाहिताक्षरं शिष्यमुवाच। वत्स वत्स।

पश्य संसारनैर्गुण्यं मृग्येषा स्वसुतानपि।
लङ्घितस्नेहमर्यादा भोक्तुमन्विच्छति क्षुधा ॥१८॥

अहो बतातिकष्टेयमात्मस्नेहस्य रौद्रता।
येन मातापि तनयानाहारयितुमिच्छति ॥१९॥

आत्मस्नेहमयं शत्रुं को वर्धयितुमर्हति।
येन कुर्यात् पदन्यासमीदृशेष्वपि कर्मसु ॥२०॥

तच्छीघ्रमन्विष्यतां तावत्कुतश्चिदस्याः क्षुद्दुःखप्रतीकारहेतुर्यावन्न तनयानात्मानं चोपहन्ति। अहमपि चैनां प्रयतिष्ये साहसादस्मान्निवारयितुम्। स तथेत्यस्मै प्रतिश्रुत्य प्रक्रान्तस्तदाहारान्वेषणपरो बभूव॥ अथ बोधिसत्त्वस्तं शिष्यं सव्यपदेशमतिवाह्य चिन्तामापेदे।

संविद्यमाने सकले शरीरे कस्मात्परस्मान्मृगयामि मांसम्।
यादृच्छिकी तस्य हि लाभसंपत् कार्यात्ययः स्याच्च तथा ममायम् ॥२१॥

अपि च।

निरात्मके भेदिनि सारहीने दुःखे कृतघ्ने सतताशुचौ च।
देहे परस्मायुपयुज्यमाने न प्रीतिमान्यो न विचक्षणः सः ॥२२॥

स्वसौख्यसङ्गेन परस्य दुःखमुपेक्ष्यते शक्तिपरिक्षयाद्वा।
न चान्यदुःखे सति मेऽस्ति सौख्यं सत्यां च शक्तौ किमुपेक्षकः स्याम् ॥२३॥

सत्यां च शक्तौ मम यद्युपेक्षा स्यादाततायिन्यपि दुःखमग्ने।
कृत्वेव पापं मम तेन चित्तं दह्येत कक्षं महताग्निनेव ॥२४॥

तब करुणाकी शक्तिसे प्रेरित होकर बोधिसत्त्वने संवेगमे आकर बार बार अपने सुन्दर स्वभावके अनुरूप ये शब्द अपने शिष्यसे कहे :—

"वत्स, वत्स,

संसारकी निर्गुणता (=असारता) को देखो ! भूखसे व्याकुल यह बाघिन (सन्तति–) स्नेहके नियमको तोड़कर[1] अपने बच्चोंको ही खाना चाहती है। ॥ १८ ॥

अहो ! धिक्कार है आत्म-स्नेह (=शरीर-प्रेम) की इस क्रूरताको[2], जिससे माता भी अपने पुत्रोंको ही अपना आहार बनाना चाहती है। ॥ १९ ॥

किसके लिए यह उचित है कि वह आत्म-स्नेहरूप शत्रुको बढ़ाये, जिससे कि मनुष्य इस प्रकारके (कु–) कर्मोमें भी पैर रख सकता है ? ॥२०॥

जबतक कि यह अपने पुत्रोंकी और अपनी भी हत्या नहीं कर लेती है तबतक शीघ्र ही कहींसे इसकी भूखकी पीड़ाको मिटानेके लिए कुछ खोज लाओ। मै भी बाघिनको इस दुस्साहससे रोकनेकी चेष्टा करूँगा।" बहुत अच्छा' कहकर वह चला गया और उसके आहारकी खोजमे लग गया। तब बोधिसत्त्व उस शिष्यको बहानेसे दूर हटाकर सोचने लगे—

"इस सम्पूर्ण शरीरके रहते मै किस दूसरे प्राणीका मास खोजूं[3] ? क्योंकि उसका मिलना भी निश्चित नहीं है और मेरा यह कार्य भी बिगड़ सकता है। ॥२१॥

और भी—

अनात्म, असार, विनाशवान्, दुःखमय, कृतघ्न और सदा अपवित्र रहनेवाले इस शरीरके दूसरेके उपयोगमें आनेपर जो मनुष्य प्रसन्न नहीं होता है वह बुद्धिमान् नही है। ॥ २२ ॥

अपने सुखकी आसक्तिसे या अपनी शक्ति क्षीण होनेसे दूसरेके दुःखकी उपेक्षा की जाती है। किंतु दूसरेको दुःख रहते मुझे सुख नही हो सकता और शक्तिके रहते मैं क्यों उपेक्षा करूँ ? ॥ २३ ॥

यदि आततायी (अत्याचारी) भी दुःखमें मग्न (पड़ा) हो और शक्तिके रहते मैं उसकी उपेक्षा करूँ तो मानो पाप करके[4] उस पापसे मेरा चित्त ऐसे जलेगा जैसे अग्नि-पुञ्जसे तृण जल जाय। ॥ २४ ॥

तस्मात्करिष्यामि शरीरकेण तटप्रपातोद्गतजीवितेन ।
संरक्षणं पुत्रवधाच्च मृग्या मृग्याः सकाशाच्च तदात्मजानाम् ॥२५॥

किं च भूयः ।

संदर्शनं लोकहितोत्सुकानामुत्तेजनं मन्दपराक्रमाणाम् ।
संहर्षणं त्यागविशारदानामाकर्षणं सज्जनमानसानाम् ॥२६॥

विषादनं मारमहाचमूनां प्रसादनं बुद्धगुणप्रियाणाम् ।
व्रीडोदयं स्वार्थपरायणानां मात्सर्यलोभोपहतात्मनां च ॥२७॥

श्रद्धापनं यानवराश्रितानां विस्मापनं त्यागकृतस्मयानाम् ।
विशोधनं स्वर्गमहापथस्य त्यागप्रियाणामनुमोदि नृणाम् ॥२८॥

कदा नु गात्रैरपि नाम कुर्यां हितं परेषामिति यश्च मेऽभूत् ।
मनोरथस्तत्सफलीक्रियां च संबोधिमग्र्यामपि चाविदूरे ॥२९॥

अपि च ।

न स्पर्धया नैव यशोऽभिलाषान्न स्वर्गलाभान्न च राज्यहेतोः ।
नात्यन्तिकेऽप्यात्मसुखे यथायं ममादरोऽन्यत्र परार्थसिद्धेः ॥३०॥

तथा ममानेन समानकालं लोकस्य दुःखं च सुखोदयं च ।
हर्तुं च कर्तुं च सदास्तु शक्तिस्तमः प्रकाशं च यथैव भानोः ॥३१॥

दृष्टे गुणेऽनुस्मृतिमागतो वा स्पृष्टः कथायोगमुपागतो वा ।
सर्वप्रकारं जगतो हितानि कुर्यामजस्रं सुखसंहितानि ॥३२॥

एवं स निश्चित्य परार्थसिद्ध्यै प्राणात्ययेऽप्यापतितप्रमोदः ।
मनांसि धीराण्यपि देवतानां विस्मापयन्स्वां तनुमुत्ससर्ज ॥३३॥

अतः प्रपात (—पहाडके खडे किनारे) मे गिरकर प्राण छोडूंगा और तब इस क्षुद्र (निष्प्राण) शरीरके द्वारा पुत्र-वध (के पाप) से बाघिनको और बाघिनसे उसके बच्चोंको बचाऊँगा। ॥ २५ ॥

और (इस कार्यके द्वारा)

लोकोपकारके लिए उत्सुक रहनेवालोंको रास्ता दिखलाऊँगा, आलसी लोगोंको (पराक्रमके लिए) उत्तेजित करूंगा, त्यागी पुरुषोंको हर्षाऊंगा, सज्जनोंके चित्तको आकृष्ट करूंगा। ॥ २६ ॥

मारकी महासेनाको निराश करूँगा, बुद्धके भक्तोंको प्रसन्न करूँगा, स्वार्थी, द्वेषी और लोभी मनुष्योंको लज्जित करूँगा। ॥ २७ ॥

बुद्ध-यान (या महा-यान) के आश्रितोंकी श्रद्धा बढाऊंगा[1], त्यागपर हंसनेवालोंको चकित करूंगा। स्वर्ग-प्राप्तिके महापथको साफ करूंगा, जिससे त्याग-प्रिय व्यक्तियोंको आनन्द होगा। ॥ २८ ॥

'कब अपना शरीर देकर भी दूसरोंकी भलाई करूँगा' यह जो मेरा मनोरथ था उसे अब पूरा करूँगा और निकट भविष्यमे ही सम्यक् बोधि (- बुद्धत्व) प्राप्त करूँगा। ॥ २९ ॥

(मै जो परोपकार करना चाहता हूँ वह) स्पर्धा (या होड) से नही, यशकी अभिलाषासे नही, स्वर्ग-प्राप्तिके लिए नही, राज्यके लिए नही। परोपकारको छोड़कर दूसरी किसी भी चीजमें, आत्यन्तिक आत्म-सुखकी प्राप्तिमें भी, मेरी यह अभिरुचि नही है। ॥ ३० ॥

इसके द्वारा एक ही साथ जीव-लोकका दुःख दूर करनेकी तथा उसे सुख पहुँचानेकी शक्ति मेरेमें सर्वदा बनी रहे, जैसे एक ही समयमें सूर्य अन्धकार दूर करता है और प्रकाश फैलाता है। ॥ ३१ ॥

सद्गुणकी चर्चा होनेपर अनुस्मरण (याद) किया जाऊँ या कथाके सिलसिलेमें व्यक्त किया जाऊँ, मै सब प्रकारसे निरन्तर जगतका हित साधन करता रहूँ और उसे सुख पहुँचाता रहूँ। ॥ ३२ ॥

ऐसा निश्चय कर परोपकारके लिए प्राण छोडनेमें भी आनन्दित होते हुए और शान्तचित्त देवताओंको भी विस्मित करते हुए उन्होंने शरीरोत्सर्ग कर दिया। ॥ ३३ ॥

अथ सा व्याघ्री तेन बोधिसत्त्वस्य शरीरनिपातशब्देन समुत्थापितकौतूहलामर्षा विरम्य स्वतनयवैशसोद्यमात्ततो नयने विचिक्षेप। दृष्ट्वैव च बोधिसत्त्वशरीरमुद्गतप्राणं सहसाभिसृत्य भक्षयितुमुपचक्रमे ।। अथ स तस्य शिष्यो मांसमनासाद्यैव प्रतिनिवृत्तः कुत्रोपाध्याय इति विलोकयंस्तद्बोधिसत्त्वशरीरमुद्गतप्राणं तया व्याघ्रयुवत्या भक्ष्यमाणं ददर्श । स तत्कर्मातिशयविस्मयात्प्रतिव्यूढशोकदुःखावेगस्तद्गुणाश्रयबहुमानमिवोद्गिरन्निदमात्मगतं ब्रुवाणः शोभेत[1] ।

अहो दयास्य व्यसनातुरे जने स्वसौख्यनैःसङ्ग्यमहो महात्मनः ।
अहो प्रकर्षं गमिता स्थितिः सतामहो परेषां मृदिता यशःश्रियः ।।३४।।

अहो पराक्रान्तमपेतसाध्वसं गुणाश्रयं प्रेम परं प्रदर्शितम् ।
अहो नमस्कारविशेषपात्रतां प्रसह्य नीतास्य गुणातनुस्तनुः ।।३५।।

निसर्गसौम्यस्य वसुंधराधृतेरहो परेषां व्यसनेष्वमर्षिता ।
अहो मदीया गमिता प्रकाशतां खटुङ्कृता विक्रमसंपदानया ।।३६।।

अनेन नाथेन सनाथतां गतं न शोचितव्यं खलु सांप्रतं जगत् ।
पराजयाशङ्कितजातसंभ्रमो ध्रुवं विनिश्वासपरोऽद्य मन्मथः ।।३७।।

सर्वथा नमोऽस्त्वस्मै महाभागाय सर्वभूतशरण्यायातिविपुलकारुण्यायाप्रमेयसत्त्वाय भूतार्थबोधिसत्त्वाय महासत्त्वायेति ।। अथ स तमर्थं सब्रह्मचारिभ्यो निवेदयामास ।

तत्कर्मविस्मितमुखैरथ तस्य शिष्यैर्गन्धर्वयक्षभुजगैस्त्रिदशाधिपैश्च ।
माल्याम्बराभरणचन्दनचूर्णवर्षैश्छन्ना तदस्थिवसुधा वसुधा बभूव ।।३८।।

---

१ 'शोभेत' के स्थानमें 'अशोभत' उपयुक्त होता ।

तब बोधिसत्त्वके शरीरके गिरनेका शब्द सुनकर बाघिनको क्रोध और कुतूहल हो गया। अपने पुत्रवधके उद्योगसे विरत होकर वह इधर-उधर देखने लगी। बोधिसत्त्वके निष्प्राण शरीरको देखते ही वह तेजीसे समीप जाकर उसे खाने लगी।

तब उसका शिष्य मांस पाये विना ही लौट आया। 'आचार्य कहाँ है' इसका पता लगाते हुए उसने देखा कि बोधिसत्त्वके उस निष्प्राण शरीरको वह युवती बाघिन खा रही है। उनके उस महान् कार्यसे विस्मय होनेपर उसके दुःख और शोकका आवेग दब गया। और, उनके सद्गुणोंके प्रति आदर-भाव होनेसे उसने ठीक ही अपना यह उद्गार प्रगट किया[१]:—

"अहो, यह महात्मा दुःखसे पीड़ित प्राणियोंके प्रति कितने दयालु और अपने सुखकी ओरसे कितने लापरवाह थे। इन्होंने सज्जनोंकी मर्यादाको पराकाष्ठापर पहुँचा दिया और असज्जनोंकी कीर्तिको मिट्टीमें मिला दिया। ॥३४॥

अहो, इन्होंने निर्भय होकर पराक्रम किया और गुणोंके आश्रयरूप उत्कृष्ट प्रेमका प्रदर्शन किया। सद्गुणोंसे भरा हुआ इनका शरीर अब विशेष रूपसे वन्दनीय हो गया है। ॥ ३५ ॥

स्वभावसे ही शान्त-चित्त और वसुन्धराके समान धैर्यशाली होनेपर भी वह दूसरोंके दुःखको नही सह सकते थे। उनकी इस वीरतासे मेरी कापुरुषता (या कठोर-हृदयता) प्रकाशित हो गई है। ॥ ३६ ॥

इन नाथ (स्वामी) को पाकर यह जगत् सनाथ हो गया, अब इसके लिए शोक करना उचित नही। अपने पराजयकी आशङ्कासे सक्षुब्ध होकर मन्मथ[२] आज निश्चय ही लम्बी साँसें ले रहा है। ॥३७॥

सब प्राणियोंको शरण देनेवाले इन महाकारुणिक अत्यन्त धैर्यशाली महाभाग्यवान् महापुरुष, लोकोपकारी बोधिसत्त्वको सब प्रकारसे प्रणाम है।"

तब उसने यह बात अपने सहपाठियों (=गुरु-भाइयों) से निवेदन की।

उस कार्यसे विस्मित होकर उनके शिष्यों तथा गन्धर्वों यक्षों नागों और देव-अधिपतियोंने उनकी हड्डीरूपी रत्न-राशिसे युक्त उस भूमिको मालाओं वस्त्रों आभरणों और चन्दन-चूर्णकी वृष्टिसे पाट दिया। ॥ ३८ ॥

तदेवं सर्वसत्त्वेष्वकारणपरमवत्सलस्वभावः सर्वभूतात्मभूतः पूर्वजन्मस्वपि स भगवानिति बुद्धे भगवति परः प्रसादः कार्यः। जातप्रसादैश्च बुद्धे भगवति परा प्रीतिरुत्पादयितव्या। एवमायतनगतो नः प्रसाद इत्येवमप्युन्नेयम्। तथा सत्कृत्य धर्मः श्रोतव्यः। एवं दुष्करशतसमुदानीतत्वात् करुणावर्णेऽपि वाच्यमेवं स्वभावातिशयस्य निष्पादिका परानुग्रहप्रवृत्तिहेतुः करुणेति ॥

इति व्याघ्रीजातकं प्रथमम्

---

२ शिबिजातकम्

दुष्करशतसमुदानीतोऽयमस्मदर्थं तेन भगवता सद्धर्म इति सत्कृत्य श्रोतव्यः॥ तद्यथानुश्रूयते।

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवानपरिमितकालाभ्यासात्सात्मीभूतोपचितपुण्यकर्मा कदाचिच्छिबीनां राजा बभूव। स बाल्यात्प्रभृत्येव वृद्धोपासनरतिर्विनयानुरक्तोऽनुरक्तप्रकृतिः प्रकृतिमेधावित्वादनेकविद्याधिगमविपुलतरमतिरुत्साहमंत्रप्रभावशक्तिदैवसंपन्नः स्वा इव प्रजाः प्रजाः पालयति स्म।

तस्मिंस्त्रिवर्गानुगुणा गुणौघाः संहर्षयोगादिव संनिविष्टाः।
समस्तरूपा विबभुर्न चासु विरोधसंक्षोभविपन्नशोभाः॥ १॥

बिडम्बनेवाविनयोद्धतानां दुर्मेधसामापदिवातिकष्टा।
अल्पात्मनां या मदिरेव लक्ष्मीर्बभूव सा तत्र यथार्थनामा॥ २॥

उदारभावात्करुणागुणाच्च वित्ताधिपत्याच्च स राजवर्यः।
रेमेऽर्थिनामीप्सितसिद्धिहर्षादक्लिष्टशोभानि मुखानि पश्यन्॥ ३॥

इस प्रकार भगवान् बुद्ध पूर्व-जन्मोंमें भी सभी प्राणियोंसे अकारण ही अत्यन्त स्नेह किया करते थे और उनके साथ एकात्मभावको प्राप्त हो गये थे। इसलिए हमें उन भगवान्में परम श्रद्धा होनी चाहिए। और भगवान् बुद्धमें श्रद्धा उत्पन्न होनेपर हमें अत्यन्त आनन्दित होना चाहिए। इस प्रकार हमारी श्रद्धा स्थिर हो जायगी, यह निष्कर्ष भी निकालना चाहिए। तथा आदरपूर्वक धर्म श्रवण करना चाहिए, क्योंकि शत-शत कष्टोंको झेलकर धर्म (हमारे लिए यहाँ) लाया गया है। करुणाकी स्तुति करते समय भी इस प्रकार कहना चाहिए—करुणाके ही कारण उत्तम स्वभावका निर्माण होता है और दूसरोंपर अनुग्रह करनेकी प्रवृत्ति होती है।

व्याघ्री-जातक प्रथम समाप्त।

---

२ शिबि-जातक (दान)

उन भगवान्ने अनेक दुष्कर कार्यों द्वारा हमारे लिए जिस सद्धर्मको उपस्थित किया उसे आदरपूर्वक सुनना चाहिए। तब जैसी कि अनुश्रुति है।

जब यह भगवान् बोधिसत्त्व ही थे तो अनन्त कालके अभ्याससे उपार्जित पुण्य-राशिके प्रतापसे एकबार शिबियोंके राजा हुए। बाल्य-कालसे ही वह बड़े-बूढ़ोंकी सेवामें लगे रहते थे, बड़े विनयी थे और प्रजा भी उन्हें प्यार करती थी। स्वभावसे ही मेधावी होनेके कारण उन्होंने अनेक विद्याएँ सीख ली, जिससे उनकी बुद्धिका विकास हुआ। उत्साह मंत्रणा और प्रभुताकी (राजोचित) शक्तियों[१] तथा दैवी सम्पत्तिसे युक्त होकर वह अपनी सन्तानके समान प्रजाका पालन करते थे।

त्रिवर्ग[२]-साधनके अनुरूप सकल गुण-गण मानो आनन्दातिरेकसे उनमें प्रविष्ट हुए। एक साथ रहते हुए वे शोभित हुए, (पारस्परिक) विरोध-जन्य क्षोभ (के अभाव) से उनकी शोभा नष्ट नही हुई। ॥ १ ॥

जो लक्ष्मी दुर्विनीतोंके लिए उपहासके समान, मूर्खोंके लिए दारुण विपत्तिके समान और असंयमियोंके लिए मदिराके समान होती है वही लक्ष्मी उनके यहाँ अपने नामके अनुरूप सिद्ध हुई। ॥ २ ॥

अपनी उदारता, करुणा और ऐश्वर्यके कारण वह उत्तम राजा इच्छित वस्तुकी प्राप्तिके आनन्दसे याचकोंके खिलते हुए चेहरोंको देखकर आनन्दित होते थे। ॥३॥

अथ स राजा दानप्रियत्वात्समन्ततो नगरस्य सर्वोपकरणधनधान्यसमृद्धा दानशालाः कारयित्वा स्वमाहात्म्यानुरूपं यथाभिप्रायसंपादितं सोपचारं मनोहरमनतिक्रान्तकालसुभगं दानवर्षं कृतयुगमेघ इव ववर्ष । अन्नमन्नार्थिभ्यः पानं पानार्थिभ्यः शयनासनवसनभोजनगन्धमाल्यरजतसुवर्णादिकं तत्तदर्थिभ्यः ॥ अथ तस्य राज्ञः प्रदानौदार्यश्रवणाद्विस्मितप्रमुदितहृदया नानादिगभिलक्षितदेशनिवासिनः पुरुषास्तं देशमुपजग्मुः ।

परीत्य कृत्स्नं मनसा नृलोकमन्येष्वलब्धप्रणयावकाशाः ।
तमर्थिनः प्रीतमुखाः समीयुर्महाह्रदं वन्यगजा यथैव ॥ ४ ॥

अथ स राजा समन्ततः समापततो लाभाशाप्रमुदितमनसः पथिकजननेपथ्यप्रच्छादितशोभस्य वनीपकजनस्य ।

विप्रोषितस्येव सुहृज्जनस्य संदर्शनात्प्रीतिविजृम्भिताक्षः ।
याच्ञां प्रियाख्यानमिवाभ्यनन्दद्दत्त्वा च तुष्ट्यार्थिजनं जिगाय ॥५॥

दानोद्भवः कीर्तिमयः सुगन्धस्तस्यार्थिनां वागनिलप्रकीर्णः ।
मदं जहारान्यनराधिपानां गन्धद्विपस्येव परद्विपानाम् ॥ ६ ॥

अथ कदाचित्स राजा दानशालाः समनुविचरंस्तृप्तत्वादर्थिजनस्य प्रविरलं याचकजनसंपातमभिसमीक्ष्य दानधर्मस्यानुत्सर्पणान्न तुष्टिमुपजगाम ।

तर्षं विनिन्येऽर्थिजनस्तमेत्य न त्वर्थिनः प्राप्य स दानशौण्डः ।
न ह्यस्य दानव्यवसायमर्थी याच्ञाप्रमाणेन शशाक जेतुम् ॥ ७ ॥

तस्य बुद्धिरभवत् अतिसभाग्यास्ते सत्पुरुषविशेषा ये विस्रम्भनिर्यन्त्रणप्रणयमर्थिभिः स्वगात्राण्यपि याच्यन्ते । मम पुनः प्रत्याख्यानरूक्षाक्षरवचनसंतर्जित इवार्थिजनो धनमात्रकेऽप्रगल्भप्रणयः संवृत्त इति ॥

उस दान-प्रिय राजाने नगरके चारों ओर धन-धान्य आदि सभी उप-करणोंसे भर-पूर दानशालाएँ बनवाईं तथा अपने माहात्म्य के अनुरूप एवं अपने अभिप्रायके अनुसार उचित समयपर विधिवत् मनोहर दान-वृष्टि की, जैसे कृतयुगका मेघ जल बरसा रहा हो। अन्न चाहनेवालोंको अन्न, पेय (पदार्थ) चाहनेवालोको पेय, शयन-आसन-वसन-भोजन-सुगन्धि-माला-चाँदीसोना में से जो कुछ जो कोई चाहे उसे वही चीज देते थे। तब उस राजाकी दानशीलताको सुनकर चारों ओरके देशोके रहनेवाले लोग विस्मय और आनन्दके साथ उस देशमें पहुँचे।

चित्त द्वारा सम्पूर्ण मनुष्य-लोकमें विचरणकर और दूसरोंके यहाँ प्रार्थना (याचना) करनेका अवसर न पाकर याचकगण उनके ही समीप गये, जैसे जंगलके हाथी महासरोवरके पास जा रहे हो। ॥ ४ ॥

चारों ओरसे झुण्डके झुण्ड भिक्षुक आने लगे। लाभकी आशासे उनके चित्त प्रसन्न थे। बटोहियोंकी वेष-भूषामें उन याचकोको,

प्रवाससे लौटे हुए बन्धुओंकी तरह देखकर राजाकी आँखें आनन्दसे विकसित हो गईं। प्रिय समाचारके समान याचनाके शब्द सुनकर उन्हे आनन्द हुआ और दान देकर याचकोसे भी अधिक संतोष हुआ। ॥ ५ ॥

दानसे उत्पन्न होनवाली उनकी कीर्तिमय सुगन्ध ने, जिसे याचकोंने अपनी वाणीरूपी हवासे (दिग्-दिगन्तरोंमें) फैलाया, दूसरे राजाओके मदका अपहरण किया, जिस प्रकार गन्ध-कुञ्जरकी सुगन्ध (हवामे फैलकर) दूसरे हाथियोंका अभिमान चूर्ण करती है। ॥ ६ ॥

एकबार दान-शालाओंमें घूमते हुए राजाने देखा कि याचकोंकी इच्छाएं तृप्त होनेसे उनकी संख्या कम हो गई है। अतः दान-धर्ममें रुकावट पड़नेसे राजाको संतोष नहीं हुआ।

उनके समीप पहुँचकर याचकोंने अपनी प्यास मिटाई, किंतु याचकोको पाकर उस दान-वीरकी प्यास न मिटी। याचक याचना द्वारा उनकी दान देनेकी इच्छा (निश्चय) को न जीत सके। ॥ ७ ॥

उन्होंने सोचा—"वे सज्जन अत्यन्त भाग्यवान् है, जिनसे याचकगण विश्वास और निर्भयतापूर्वक शरीरके अङ्गोंकीभी याचना करते है। किंतु मेरे फटकारके कठोर वचनोंसे मानो भयभीत होकरवे मुझसे केवल धन माँगनेका ही साहस करते है।"

अथ क्षितीशस्य तमत्युदारं गात्रेष्वपि स्वेषु निवृत्तसङ्गम् ।
विज्ञाय दानाश्रयिणं वितर्कं पतिप्रिया स्त्रीव मही चकम्पे ॥८॥

अथ शक्रो देवेन्द्रः क्षितितलचलनादाकम्पिते विविधरत्नप्रभोद्भासिनि सुमेरौ पर्वतराजे किमिदमिति समुत्पतितवितर्कस्तस्य राज्ञ इमं वितर्कातिशयं धरणीतलचलननिमित्तमवेत्य विस्मयावर्जितहृदयश्चिन्तामापेदे ।

दानातिहर्षोद्धतमानसेन वितर्कितं किं स्विदिदं नृपेण ।
आबध्य दानव्यवसायकक्ष्यां स्वगात्रदानस्थिरनिश्चयेन ॥ ९ ॥

तन्मीमांसिष्ये तावदेनमिति ॥ अथ तस्य राज्ञः पर्षदि निषण्णस्यामात्यगणपरिवृतस्य समुचितायां कृतायामर्थिजनस्य कः किमिच्छतीत्याह्वानावघोषणायामुद्घाट्यमानेषु कोशाध्यक्षाधिस्थितेषु मणिकनकरजतधननिचयेषु विश्लेष्यमाणासु पुटासु विविधवसनपरिपूर्णगर्भासु समुपावर्त्यमानेषु विनीतविविधवाहनस्कन्धप्रतिष्ठितयुगेषु विचित्रेषु यानविशेषेषु प्रवृत्तसंपातेऽर्थिजने शक्रो देवानामिन्द्रो वृद्धमन्धं ब्राह्मणरूपमभिनिर्माय राज्ञश्चक्षुःपथे प्रादुरभवत् । अथ तस्य राज्ञः कारुण्यमैत्रीपरिभावितया धीरप्रसन्नसौम्यया प्रत्युद्गत इव परिष्वक्त इव च दृष्ट्या केनार्थ इत्युपनिमन्त्र्यमाणः क्षितिपानुचरै र्नृपतिसमीपमुपेत्य जयाशीर्वचनपुरःसरं राजानमित्युवाच ।

दूरादपश्यन्स्थविरोऽभ्युपेतस्त्वच्चक्षुषोऽर्थी क्षितिपप्रधान ।
एकेक्षणेनापि हि पङ्कजाक्ष गम्येत लोकाधिप लोक-यात्रा ॥१०॥

अथ स बोधिसत्त्वः समभिलषित मनोरथप्रसिद्ध्या परं प्रीत्युत्सवमनुभवन् किं स्विदिदं सत्यमेवोक्तं ब्राह्मणेन स्यादुत विकल्पाभ्यासान्ममैवमवधारितमिति जातविमर्षश्चक्षुर्याच्ञाप्रियवचनश्रवणतृषितमतिस्तं चक्षुर्याचनकमुवाच ।

अङ्गोसे भी आसक्ति हटाकर दान देनेके सम्बन्धमें राजाके उस उदार विचारको जानकर, पतिसे प्यार करनेवाली पत्नीकी भाँति पृथ्वी काँपी। ॥८॥

भूकम्पके कारण विविध रत्नोंकी प्रभासे उद्भासित पर्वत-राज सुमेरुके काँपनेपर देवेन्द्र शक्र सोचन लगे "यह क्या हुआ"। फिर राजाके उस अलौकिक विचारको भूकम्पका कारण जानकर उन्होंने विस्मित हृदयसे सोचा—

"क्या दान देनेके हर्षातिरेकसे उद्धतचित्त[1] होकर राजाने यह विचार किया है? क्या दान देने के लिए कटिबद्ध होकर उन्होंने अपने अङ्ग दान करनेका दृढ़ निश्चय किया है?

अच्छा, मैं उनकी परीक्षा करूँगा।"

जब अपनी सभामें राजा अमात्योंसे घिरे हुए बैठे थे तब 'याचकोंमें कौन क्या चाहता है' इस तरह पुकारकर समुचित घोषणा की जानेपर कोषाध्यक्षके अधीन सोना-चाँदी-रत्न-सम्पत्तिके भण्डार खोले जाने लगे, भाँति भाँतिके कपडोंसे भरी हुई पिटारियाँ खोली जाने लगी, चित्र-विचित्र उत्तम उत्तम यान (=सवारियाँ)—जिनके जुए शिक्षित (अश्व आदि) विविध वाहनोंके कंधोंपर रखे हुए थे—लाई जान लगी और झुण्डके झुण्ड याचक-गण आने लगे। उस समय देवोंके अधिपति शक्र बूढे और अन्धे ब्राह्मणका रूप बनाकर राजाके दृष्टि-पथपर प्रकट हुए। राजाने अपनी दयार्द्र मैत्रीपूर्ण धीर, प्रसन्न और सौम्य दृष्टिसे मानो उनका स्वागत और आलिङ्गन किया। राजपुरुषोंने पूछा—"आप क्या चाहते है?" वह राजाके समीप पहुंचकर आशीर्वाद देते हुए बोले—"हे राजेन्द्र, दूर देशसे आया हूँ, बूढ़ा और अन्धा हूँ, मैं आपका एक नेत्र माँगता हूँ। हे कमलनयन, हे भूपति, एक नेत्रसे भी लोक-यात्रा की जा सकती है।" ॥१०॥

तब अपनी अभिलाषाके पूरी होनेपर, परम आनन्द अनुभव करते हुए 'क्या इस ब्राह्मणने सत्य ही कहा है या अपनी इच्छाके अभ्याससे मैंने ही ऐसी कल्पना कर ली है' इस प्रकार विचार-विमर्श करते हुए बोधिसत्त्वने नेत्र-याचनाके प्रिय शब्द सुननेकी प्याससे नेत्रके याचकसे कहा—

केनानुशिष्टस्त्वमिहाभ्युपेतो मां याचितुं ब्राह्मणमुख्य चक्षुः ।
सुदुस्त्यजं चक्षुरिति प्रवादः संभावना कस्य मयि व्यतीता ॥११॥

अथ स ब्राह्मणवेषधारी शक्रो देवेन्द्रस्तस्य राज्ञ आशयं विदित्वोवाच ।

शक्रस्य शक्रप्रतिमानुशिष्ट्या त्वां याचितुं चक्षुरिहागतोऽस्मि ।
संभावनां तस्य ममैव चाशां चक्षुः प्रदानात्सफलीकुरुष्व ॥१२॥

अथ स राजा शक्रसंकीर्तनान्नूनमस्य ब्राह्मणस्य भवित्री देवतानुभावादनेन विधिना चक्षुःसंपदिति मत्वा प्रमोदविशदाक्षरमेनमुवाच ।

येनाभ्युपेतोऽसि मनोरथेन तमेष ते ब्राह्मण पूरयामि ।
आकाङ्क्षमाणाय मदेकमक्षि ददामि चक्षुर्द्वयमप्यहं ते ॥१३॥

स त्वं विबुद्धनयनोत्पलशोभितास्यः
संपश्यतो व्रज यथाभिमतं जनस्य ।
स्यात् किं सोऽयमुत नेतिविचारदोला-
लोलस्य सोऽयमिति चोत्थितविस्मयस्य ॥१४॥

अथ तस्य राज्ञोऽमात्याश्चक्षुःप्रदानावसायमवेत्य ससंभ्रमावेगविषादव्यथितमनसो राजानमूचुः ।

दानातिहर्षादनयमसमीक्ष्याहितोदयम् ।
प्रसीद देव मा मैवं न चक्षुर्दातुमर्हसि ॥१५॥

एकस्यार्थे द्विजस्यास्य मा नः सर्वान्पराकृथाः ।
अलं शोकाग्निना दग्धुं सुखं संवर्धिताः प्रजाः ॥१६॥

धनानि लक्ष्मीप्रतिबोधनानि श्रीमन्ति रत्नानि पयस्विनीर्गाः ।
रथान् विनीताश्च युजः प्रयच्छ मदोर्जितश्रीललितान् द्विपान्वा ॥१७॥

"किसका आदेश पाकर, हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ, आप मुझसे नेत्र माँगनेके लिए यहाँ आए है? कहते है कि नेत्रका परित्याग करना अत्यन्त कठिन है। फिर मेरे प्रति किसकी ऐसी सभावना (=श्रद्धा) हुई है?" ॥ ११ ॥

तब उस ब्राह्मण-वेष-धारी देवेन्द्र शक्रने राजाका आशय जानकर कहा—

"शक्रके शक्रोचित आदेशसे मैं आपसे चक्षु माँगन के लिए यहाँ आया हूँ। चक्षु देकर आप उनकी संभावना (=श्रद्धा) और मेरी आशाको सफल करें।" ॥ १२ ॥

तब शक्रका नाम सुनकर, अवश्य ही देवताके प्रभावसे इस ब्राह्मणको दृष्टिरूपी सम्पत्ति प्राप्त होगी—यह समझकर उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक स्पष्ट शब्दोंमें कहा—

"जिस मनोरथको लेकर, हे ब्राह्मण, आप आये है मै उसे यह पूरा करता हूँ। आप मेरी एक आँख चाहते है मै आपको अपनी दोनों आँखे देता हूँ ॥ १३ ॥

आपके कमलनयन विकसित होनेसे आपके मुखकी शोभा बढ़े, आप जहाँ चाहें जायें। और आपको देखकर यह जनसमूह 'क्या यह वही है या नही' इस प्रकार संशय करता हुआ, आश्चर्य-चकित होकर कहे—'हाँ यह वही है'।" ॥ १४ ॥

तब नेत्र-दानका निश्चय जानकर, घबड़ाहट और दुःखसे व्याकुल होकर, अमात्योंने राजासे कहा—

"दानके आनन्दातिरेकके कारण आप इस दुर्नीतिसे होनेवाली बुराईको नहीं देख रहे हैं। हे देव, प्रसन्न हों, ऐसा न करें। आप अपना नेत्र नही दे सकते। ॥ १५ ॥

इस एक द्विजके लिए आप हम सबकी उपेक्षा न करें। सुखमें पली हुई प्रजाको आप शोकाग्निसे न जलायें। ॥ १६ ॥

लक्ष्मीको जगाने (बुलाने) वाले धन, उज्ज्वल रत्न, पयस्विनी गाएँ, रथ और विनीत (शिक्षित, घोड़ा आदि) वाहन, या सुन्दर बलवान् हाथी दें। ॥ १७ ॥

समुच्चरन्नूपुरनिस्वनानि शरत्पयोदाभ्यधिकद्युतीनि ।
गृहाणि सर्वर्तुसुखानि देहि मा दाः स्वचक्षुर्जगदेकचक्षुः ॥१८॥

विमृश्यतामपि च तावन्महाराज ।

अन्यदीयं कथं नाम चक्षुरन्यत्र योज्यते ।
अथ देवप्रभावोऽयं त्वच्चक्षुः किमपेक्ष्यते ॥१९॥

अपि च देव ।

चक्षुषा किं दरिद्रस्य पराभ्युदयसाक्षिणा ।
धनमेव यतो देहि देव मा साहसं कृथाः ॥२०॥

अथ स राजा तानमात्यान्सानुनयमधुराक्षरमित्युवाच ।

[अदाने कुरुते बुद्धिं दास्यामीत्यभिधाय यः ।
स लोभपाशं प्रभ्रष्टमात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥२१॥
दास्यामीति प्रतिज्ञाय योऽन्यथा कुरुते मनः ।
कार्पण्यानिश्चितमतेः कः स्यात्पापतरस्ततः ॥२२॥
स्थिरीकृत्यार्थिनामाशां दास्यामीति प्रतिज्ञया ।
विसंवादनरूक्षस्य वचसो नास्ति निष्कृतिः ॥२३॥

यदपि चेष्टं देवतानुभावादेव चक्षुरस्य किं न संभवतीत्यत्र श्रूय-
ताम् ।

[नैककारणसाध्यत्वं कार्याणां ननु दृश्यते ।
कारणान्तरसापेक्षः स्याद्दैवोऽपि विधिर्यतः ॥२४॥]

तन्न मे दानातिशयव्यवसाये विघ्नाय व्यायन्तुमर्हन्ति भवन्त
इति ॥

अमात्या ऊचुः । धनधान्यरत्नानि देवो दातुमर्हति न स्वचक्षुरिति
विज्ञापितमस्माभिः । तन्न देवं वयमतीर्थे प्रतारयामः ॥ राजोवाच ।

शरद् ऋतुके बादलोंसे भी उज्ज्वल, सब ऋतुओंमें सुखदायक, (रमणि-योंके) नूपुरोंकी ध्वनिसे झंकृत गृह दें; किन्तु, हे संसारके एकमात्र नेत्र आप अपना नेत्र न दें। ॥ १८ ॥

और भी। हे महाराज, सोचिये तो—

दूसरेका नेत्र भला दूसरेमें कैसे जोड़ा (या लगाया) जा सकता है? यदि देवताके प्रभावसे यह संभव भी हो तो आपके नेत्रकी क्यों अपेक्षा की जाती है? ॥ १९ ॥

और भी। हे देव,

दरिद्रको नेत्रसे क्या प्रयोजन? इससे तो दूसरोंका अभ्युदय ही देखा जा सकता है[1]। अतः धन ही दें। दुस्साहस न करें।" ॥ २० ॥

तब राजाने उन अमात्योंसे अनुनयपूर्वक मधुर वाणीमें कहा—

'दूंगा' कहकर जो नहीं देनेका विचार करता है वह उस लोभ-पाशको पहनता है, जिसे कि उसने पहले फेंका था[2]। ॥ २१ ॥

'दूंगा' यह प्रतिज्ञा कर जो अपना विचार परिवर्त्तन करता है, जो कृपणताके कारण अपना निश्चय तोड़ता है उससे बढ़कर पापी कौन है? ॥ २२ ॥

'दूंगा' इस प्रतिज्ञा द्वारा जो याचकोंकी आशाको स्थिर करता है और फिर (पीछे हटकर) विरोधमें कठोर वचन कहता है उसकी मुक्ति नहीं है। ॥ २३ ॥

यदि यह कहें कि देवताके प्रभावसे ही इसे नेत्र क्यों नहीं हो जाता है, तो इस सम्बन्धमें (मैं जो कहता हूँ उसे) सुनिये—

अनेक कारणोंसे कार्योंकी सिद्धि होती देखी जाती है, इसलिए दैवको भी दूसरे कारणकी (आवश्यकता) होती है। ॥ २४ ॥

अतः मेरे महादानके निश्चयमें आप विघ्न डालनेकी चेष्टा न करें।"

अमात्योंने उत्तर दिया—"हमने तो इतना ही निवेदन किया है कि देव धन-धान्य-रत्न दे सकते हैं किंतु अपना नेत्र नहीं। अतः हम देवको अतीर्थ (–कुघाट, अपुण्य, अशास्त्र) की ओर नहीं बहका रहे हैं।"

यदेव याच्येत तदेव दद्यान्नानीप्सितं प्रीणयतीह दत्तम् ।
किमुह्यमानस्य जलेन तोयैः दास्याम्यतः प्रार्थितमर्थमस्मै ॥२५॥

अथ तस्य राज्ञो दृढतरविस्रम्भप्रणयः स्नेहावेगादनपेक्षितोपचारोऽमात्यमुख्यस्तं राजानमित्युवाच। मा तावद् भोः।

या नाल्पेन तपः समाधिविधिना संप्राप्यते केनचि-
द्यामासाद्य च भूरिभिर्मखशतैः कीर्तिं दिवं चाप्नुयात्।
संप्राप्तामतिपत्य तां नृपतितां शक्रर्द्धिविस्पर्धिनीं।
किं दृष्ट्वा नयने प्रदित्सति भवान्कोऽयं कुतस्त्यो विधिः॥२६॥

लब्धावकाशस्त्रिदशेषु यज्ञैः कीर्त्या समन्तादवभासमानः।
नरेन्द्रचूडाद्युतिरञ्जिताङ्घ्रिः किं लिप्समानो नु ददासि चक्षुः॥२७॥

अथ स राजा तममात्यं सानुनयमित्युवाच।

नायं यत्नः सार्वभौमत्वमाप्तुं नैव स्वर्गं नापवर्गं न कीर्तिम्।
त्रातुं लोकानित्ययं त्वादरो मे याच्ञाक्लेशो मा च भूदस्य मोघः॥२८॥

अथ स राजा नीलोत्पलदलशकलरुचिरकान्तिनयनमेकं वैद्यपरिदृष्टेन विधिना शनकैरक्षतमुत्पाट्य परया प्रीत्या चक्षुर्याचनकाय प्रायच्छत्। अथ शक्रो देवेन्द्रस्तादृशमृद्ध्यभिसंस्कारं चक्रे यथा ददर्श स राजा सपरिजनस्तत्तस्य चक्षुश्चक्षुःस्थाने प्रतिष्ठितम्। अथोन्मिषितैकचक्षुषं चक्षुर्याचनकमभिवीक्ष्य स राजा परमेण प्रहर्षेण समापूर्यमाणहृदयो द्वितीयमप्यस्मै नयनं प्रायच्छत्॥

ततः स राजा नयने प्रदाय विपद्मपद्माकरतुल्यवक्त्रः।
पौरैरसाधारणतुष्टिरासीत्समग्रचक्षुर्ददृशे द्विजश्च॥ २९॥

राजाने कहा—

"जो चीज माँगी जाय वही देनी चाहिए। अनचाही वस्तु देनेसे प्रसन्नता नही होती है। बाढ़में बहते हुए को पानी का क्या प्रयोजन ? अतः मै माँगी हुई वस्तु ही इन्हें दूंगा।" ॥ २५ ॥

तब प्रधान मंत्रीने, जिसपर राजाका अटूट विश्वास और प्रेम था, शिष्टाचारकी उपेक्षा करते हुए राजासे कहा—"ऐसा न करें।"

जिसे कोई कोई ही महान् तपस्या और समाधिसे प्राप्त करता है और जिसे पाकर मनुष्य सैकड़ों बड़े-बड़े यज्ञों द्वारा स्वर्ग और कीर्त्ति प्राप्त कर सकता है, शक्रकी समृद्धिसे स्पर्धा करनेवाली वह राज्य-लक्ष्मी आपको प्राप्त है और आप उसका अतिक्रमण कर रहे है ! क्या (लाभ) देखकर आप नेत्र देना चाहते है ? यह कौनसा कैसा तरीका है ? ॥ २६ ॥

आपने यज्ञों द्वारा देवताओंके बीच स्थान प्राप्त किया है, आप अपनी कीर्त्तिसे चहुँ ओर प्रकाशित है, (प्रणाम करते हुए) राजाओंकी चूडामणियों-की कान्तिसे आपके चरणकमल रञ्जित होते है, ऐसा वह क्या है, जिसे प्राप्त करनेकी इच्छासे आप नेत्र-दान कर रहे है ?" ॥ २७ ॥

तब राजाने अनुनयपूर्वक उस अमात्यसे कहा—

"मेरा यह प्रयत्न सम्पूर्ण पृथ्वीका आधिपत्य, स्वर्ग, अपवर्ग, या कीर्त्ति प्राप्त करनेके लिए नही, किंतु लोकरक्षाके लिए है। इसलिए मै चाहता हूँ कि याचना करनेमें इन्हें जो कष्ट हुआ है वह व्यर्थ न हो।" ॥ २८ ॥

तब राजाने नीले कमलकी पंखुड़ीके समान कान्तिमान् नेत्रको वैद्यके बताये तरीकेसे धीरे-धीरे अखण्डित ही उखाड़कर अत्यन्त आनन्दपूर्वक उस नेत्र माँगनेवालेको दे दिया। और, देवेन्द्र शक्रने ऐसा ऋद्धि—चमत्कार किया कि परिजन-सहित राजाने उस नेत्रको उसके नेत्र-स्थानमें प्रतिष्ठित देखा। नेत्र माँगनेवालेका एक नेत्र विकसित हो गया, यह देखकर राजाका हृदय अत्यन्त आह्लादसे भर गया और उन्होंने दूसरा नेत्र भी उसे दे दिया।

जब राजाने अपने दोनों नेत्र दे दिये तब उनका मुख कमल-रहित सरोवरके समान (कान्ति-हीन) हो गया और उस ब्राह्मणके नेत्र अखण्ड दिखाई पड़े। इससे राजाको तो आनन्द हुआ, किंतु पुरवासियोंको नही। ॥२९॥

अन्तःपुरेऽथ मनुजाधिपतेः पुरे च
शोकाश्रुभिर्वसुमती सिषिचे समन्तात् ।
शक्रस्तु विस्मयमवाप परां च तुष्टिं
संबोधये नृपमकम्प्यमतिं समीक्ष्य ॥३०॥

अथ शक्रस्य विस्मयावर्जितहृदयस्यैतदभवत्

अहो धृतिरहो सत्त्वमहो सत्त्वहितैषिता ।
प्रत्यक्षमपि कर्मेदं करोतीव विचारणाम् ॥३१॥

तन्नायमाश्चर्यसत्त्वश्चिरमिमं परिक्लेशमनुभवितुमर्हति । यतः प्रयतिष्ये चक्षुरस्योपायप्रदर्शनादुत्पादयितुम् ॥ अथ तस्य राज्ञः क्रमात्संरूढनयनव्रणस्यावगीतप्रतनूभूतान्तःपुरपौरजानपदशोकस्य प्रविवेककामत्वादुद्यानपुष्करिण्यास्तीरे कुसुमभरावनतरुचिरतरुवरनिचिते मृदुसुरभिशिशिरसुखपवने मधुकरगणोपकूजिते पर्यङ्केण निषण्णस्य शक्रो देवेन्द्रः पुरस्तात्प्रादुरभवत् । क एष इति च राज्ञा पर्यनुक्तोऽब्रवीत् ।

शक्रोऽहमस्मि देवेन्द्रस्त्वत्समीपमुपागतः ।

राजोवाच । स्वागतम् । आज्ञाप्यतां केनार्थ इति ॥ स उपचारपुरःसरमुक्तो राजानं पुनरुवाच ।

वरं वृणीष्व राजर्षे यदिच्छसि तदुच्यताम् ॥३२॥

अथ स राजा प्रदानसमुचितत्वादनभ्यस्तयाच्ञाकार्पण्यमार्गो विधृत्य विस्मयशौटीर्यमेनमुवाच ।

प्रभूतं मे धनं शक्र शक्तिमच्च महद्बलम् ।
अन्धभावात्त्विदानीं मे मृत्युरेवाभिरोचते ॥३३॥

[कृत्वाऽपि पर्याप्तमनोरथानि प्रीतिप्रसादाधिकलोचनानि ।
मुखानि पश्यामि न याचकानां यत्तेन मृत्युर्दयितो ममेन्द्र ॥३४॥

अन्त:पुरमें और राजधानीमें धरती दु:खके आँसुओंमें भीग गई। सम्बोधि-प्राप्तिके लिए राजाका निश्चय अविचल देखकर शक्रको विस्मय और अत्यन्त आनन्द हुआ। ॥ ३० ॥

तब विस्मित-हृदय शक्रने यों चिन्तन किया—"अहो, यह धैर्य, यह साहस, यह प्राणिहितैषिता! यद्यपि मैंने अपनी आँखोंमें यह (आश्चर्य) कर्म देखा, तो भी (इसके सत्यासत्यके बारेमें) मैं मानो विचार ही कर रहा हूं (मानो विश्वास नहीं हो रहा है)। ॥ ३१ ॥

यह महापुरुष चिरकाल तक इस (चक्षु-) क्लेशको भोगे यह उचित नहीं। मैं इन्हें कोई उपाय बतलाकर इनके नेत्र उत्पन्न करनेका प्रयत्न करूंगा।"

क्रमसे राजाकी आँखोंका घाव भर गया। अन्त:पुर, नगर-निवासियों और ग्राम-वासियोंका शोक कम हो गया। एकबार एकान्त-सेवनकी इच्छासे उद्यानके सरोवरके तीरपर—जहाँ फूलोंके भारसे सुन्दर सुन्दर तरुवर झुके हुए थे, मृदु सुगन्धित शीतल सुखदायक हवा बह रही थी और भौरे गूँज रहे थे—राजा पर्यङ्क आसनसे बैठे हुए थे। उस समय देवेन्द्र शक्र उनके आगे प्रकट हुए। 'यह कौन है?' इस प्रकार राजाके पूछनेपर उन्होंने उत्तर दिया—

"मैं, देवेन्द्र शक्र, आपके समीप आया हूं।"

राजाने कहा—"स्वागत। आपको किस वस्तुका प्रयोजन है? आज्ञा कीजिए।"

इस प्रकार शिष्टाचारपूर्वक पूछे जानेपर उन्होंने राजासे कहा—

"हे राजर्षि, वर माँगिये। आप जो कुछ चाहते हैं वह कहिए।"

याचनाके कृपण मार्गपर चलनेका अभ्यास न होनेके कारण उस दानशील राजाने अभिमान और आश्चर्यके साथ कहा—

"हे शक्र, मुझे बहुत धन है और बलवती विशाल सेना भी है, किंतु अंधा होनेके कारण अब मुझे मृत्यु ही पसन्द है। ॥३३॥

याचकोंके मनोरथ पूर्ण करनेपर जब आनन्द और तृप्तिसे उनकी आँखें खिल उठती हैं उस समय भी मैं उनके मुखोंको नहीं देख सकता हूँ, अत: हे इन्द्र, मुझे मरण ही प्रिय है।" ॥ ३४ ॥

शक्र उवाच। अलमलमनेन ते व्यवसायेन। सत्पुरुषा एवेदृशान्यनुप्राप्नुवन्ति। अपि च पृच्छामि तावद्भवन्तम्।

इमामवस्थां गमितस्य याचकैः कथं नु ते संप्रति तेषु मानसम्।
प्रचक्ष्व तत्तावदलं निगूहितु व्रजेश्च संप्रत्यपनीय तां यथा ॥३५॥

राजोवाच। कोऽयमस्मान् विकत्थयितुमत्रभवतो निर्बन्धः। अपि च देवेन्द्र श्रूयताम्।

तदैव चैतर्हि च याचकानां वचांसि याच्ञानियताक्षराणि।
आशीर्मयाणीव मम प्रियाणि यथा तथोदेतु ममैकमक्षि ॥३६॥

अथ तस्य राज्ञः सत्याधिष्ठानबलात् पुण्योपचयविशेषाच्च वचनसमनन्तरमेवेन्द्रनीलशकलाक्रान्तमध्यमिव नीलोत्पलदलसदृशमेकं चक्षुः प्रादुरभवत्। प्रादुर्भूते च तस्मिन्नयनाश्चर्ये प्रमुदितमनाः स राजा पुनरपि शक्रमुवाच।

यश्चापि मां चक्षुरयाचतैकं तस्मै मुदा द्वे नयने प्रदाय।
प्रीत्युत्सवैकाग्रमतिर्यथासं द्वितीयमप्यक्षि तथा ममास्तु ॥३७॥

अथाभिव्याहारसमनन्तरमेव तस्य राज्ञो विस्पर्धमानमिव तेन नयनेन द्वितीयं चक्षुः प्रादुरभवत्।

ततश्चकम्पे सधराधरा धरा व्यतीत्य वेलां प्रससार सागरः।
प्रसक्तगम्भीरमनोज्ञनिस्वनाः प्रसस्वनुर्दुन्दुभयो दिवौकसाम् ॥३८॥

प्रसादरम्यं ददृशे वपुर्दिशां रराज शुद्ध्या शरदीव भास्करः।
परिभ्रमच्चन्दनचूर्णरञ्जितं पपात चित्रं कुसुमं नभस्तलात् ॥३९॥

समाययुर्विस्मयफुल्ललोचना दिवौकसस्तत्र सहाप्सरोगणाः।
ववौ मनोज्ञात्मगुणः समीरणो मनस्सु हर्षो जगतां व्यजृम्भत ॥४०॥

शक्रने कहा—"आप इस विचारको छोड़ें। सत्पुरुष ही इस अवस्थाको प्राप्त होते हैं। और भी। मैं आपसे पूछता हूँ—

याचकोंने आपको इस अवस्थामें पहुँचा दिया है। तो भी क्यों आपका मन उन्हींमें लगा हुआ है ? मुझसे छिपाये विना ही आप इसका कारण कहें और इस (दुर्–) अवस्थासे मुक्त हो जायें।" ॥ ३५ ॥

राजाने कहा—"मुझसे आत्म-प्रशंसा करवानेके लिए आप क्यों हठ कर रहे हैं? अच्छा, हे देवेन्द्र, सुनिये—

पहले और अब भी यदि याचकोंके याचनाके वचन मुझे आशीर्वादकी तरह प्रिय लगे हैं तो मेरे एक नेत्रका उदय हो।" ॥ ३६ ॥

यह कहते ही राजाके सत्य-बल और पुण्य-प्रतापसे नीले कमलकी पंखुड़ीके समान एक नेत्र, जिसका मध्यभाग मानो इन्द्रनील नामक मणिके टुकड़ेसे जड़ा हुआ था, प्रकट हो गया। उस नेत्ररूपी आश्चर्यके प्रकट होनेपर प्रसन्नचित्त राजाने पुनः शक्रसे कहा—

"जिसने मुझसे एक नेत्र माँगा उसे खुशीसे दोनों नेत्र देकर यदि मैं आनन्दोल्लासमें तल्लीन हो गया तो मेरा दूसरा नेत्र भी उत्पन्न हो।" ॥ ३७ ॥

इतना कहते ही राजाके उस नेत्रसे मानो स्पर्धा करता हुआ दूसरा नेत्र भी प्रकट हो गया।

उस समय पर्वतों–सहित पृथ्वी काँपी, अपने तीरका अतिक्रमण कर सागर आगे बढ़ा, लगातार गम्भीर और मनोरम ध्वनि करती हुई देव-दुन्दुभियाँ बजीं। ॥ ३८ ॥

दिशाएँ स्वच्छ और सुन्दर हो गई, सूर्य ऐसे चमका जैसे शरद ऋतुमें चमक रहा हो, चन्दन-चूर्णसे रँगे हुए चित्र-विचित्र फूल आकाश-से चक्कर काटते हुए गिरे। ॥ ३९ ॥

विस्मयसे विकसित आँखोंवाले देवगण अप्सराओंके साथ (पृथ्वी-पर) आये, मनोरम हवा बहने लगी, लोगोंके हृदयमें आनन्दका उदय हुआ। ॥ ४० ॥

उदीरिता हर्षपरीतमानसैर्महर्द्धिभिर्भूतगणैः सविस्मयः ।
नृपस्य कर्मातिशयस्तवाश्रयाः समन्ततः शुश्रुविरे गिरः शुभाः ॥४१॥
अहो बतौदार्यमहो कृपालुता विशुद्धता पश्य यथास्य चेतसः ।
अहो स्वसौख्येषु निरुत्सुका मतिर्नमोऽस्तु तेऽभ्युद्गतधैर्यविक्रम ॥४२॥
सनाथतां साधु जगद्गतं त्वया पुनर्विबुद्धेक्षणपङ्कजश्रिया ।
अमोघरूपा बत पुण्यसंचयाश्चिरस्य धर्मेण खलूर्जितं जितम् ॥४३॥

अथ शक्रः साधु साध्वित्येनमभिसंराध्य पुनरुवाच ।

न नो न विदितो राजंस्तव शुद्धाशयाशयः
एवं नु प्रतिदत्ते ते मयेमे नयने नृप ॥४४॥
समन्ताद्योजनशतं शैलैरपि तिरस्कृतम् ।
द्रष्टुमव्याहता शक्तिर्भविष्यत्यनयोश्च ते ॥४५॥

इत्युक्त्वा शक्रस्तत्रैव चान्तर्दधे ॥ अथ बोधिसत्त्वो विस्मयपूर्णमनोभिर्मन्दमन्दनिमषप्रविकसितनयनैरमात्यैरनुयातः पौरैश्चाभिवीक्ष्यमाणो जयाशीर्वचनपुरःसरैश्च ब्राह्मणैरभिनन्द्यमानः पुरवरमुच्छ्रितध्वजविचित्रपताकं प्रवितन्यमानाभ्युदयशोभमभिगम्य पर्षदि निषण्णः सभाजनार्थमभिगतस्यामात्यप्रमुखस्य ब्राह्मणवृद्धपौरजानपदस्यैवमात्मोपनायिकं धर्मं देशयामास ।

को नाम लोके शिथिलादरः स्यात् कर्तुं धनेनार्थिजनप्रियाणि ।
दिव्यप्रभावे नयने ममेमे प्रदानपुण्योपनते समीक्ष्य ॥४६॥

अनेकशैलान्तरितं योजनानां शतादपि ।
अदूरस्थितविस्पष्टं दृश्यं पश्यामि सर्वतः ॥४७॥

परानुकम्पाविनयाभिजाताद्दानात्परः कोऽभ्युदयाभ्युपायः ।
यन्मानुषं चक्षुरिहैव दत्त्वा प्राप्तं मयाऽमानुषदिव्यचक्षुः ॥४८॥

महाऋद्धिशाली प्राणियोंने प्रसन्नचित्त और आश्चर्यचकित होकर राजाके लोकोत्तर कर्मकी प्रशंसामें ये शुभ वचन कहे, जो चारो ओर सुनाई पड़े—॥ ४१ ॥

"अहो, आपका चित्त कितना उदार, कितना कृपालु और कितना विशुद्ध है! अहो, आप अपने सुखोंकी ओरसे कितने उदासीन है! आप धैर्यशाली और पराक्रमीको प्रणाम है। ॥ ४२ ॥

आपके नयनकमलकी शोभा खिल उठनेसे यह पृथ्वी पुनः सनाथा है। आपके चिर-सचित पुण्य सफल हुए। आपने धर्मद्वारा महान् विजय प्राप्त की।" ॥ ४३ ॥

'साधु, साधु' कहकर उनकी प्रशंसा करते हुए शक्रने पुनः कहा—

"हे शुद्धचित्त राजन्, आपका अभिप्राय मुझसे छिपा हुआ नही है। इसीलिए तो मैने बदलेमे ये नेत्र आपको दिये। ॥ ४४ ॥

चारों ओर सौ योजन तक, पहाड़ोके पार भी देखनेकी अप्रतिहत शक्ति आपके इन नयनोकी होगी।" ॥ ४५ ॥

इतना कहकर शक्र वही अन्तर्धान हो गये।

तब विस्मयपूर्वक अपलक एवं विकसित आँखोमे देख रहे अमात्योंके आगे आगे जाते हुए, पुर-वासियों द्वारा देखे जाते हुए, ब्राह्मणों द्वारा जय-जय-कार और आशीर्वादपूर्वक अभिनन्दित होते हुए बोधिसत्त्व अपने नगरमें गये। वहाँ ऊँची ध्वजाएं और रग-बिरंगी पताकाएँ फहरा रही थी, जिसमे राजधानीकी अभ्युदय-शोभामें वृद्धि हो रही थी। वहाँ पहुंचकर वह सभामें बैठ गये और स्वागतके लिए आये हुए अमात्यो, ब्राह्मणों, वृद्धो, नगर-निवासियों और ग्राम-वासियोको स्वानुभूत (श्रेयस्कर) धर्मका यो उपदेश दिया—

"दानके पुण्यसे मुझे ये दिव्य नेत्र प्राप्त हुए. यह देखकर ऐसा कौन है जो धनसे याचकोंका प्रिय (उपकार) करनेकी ओरसे लापरवाह रहेगा? ॥४६॥

चारों ओर सौ योजन तकका दृश्य पहाडोसे ओझल होनेपर भी मुझे साफ-साफ दिखाई पड़ता है, जैसे समीपमें ही स्थित हो। ॥ ४७ ॥

विनय और जीव-दयासे उत्पन्न होनेवाले दानसे बढ़कर अभ्युदयका दूसरा कौन उपाय है? मैने मानुष चक्षु देकर इहलोकमें ही अलौकिक दिव्य चक्षु प्राप्त किया है। ॥ ४८ ॥

एतद्विदित्वा शिबयः प्रदानैर्भोगेन चार्थान् सफलीकुरुध्वम् ।
लोके परस्मिन्निह चैष पन्थाः कीर्तिप्रधानस्य सुखोदयस्य ॥४९॥

धनस्य निःसारलघोः स सारो यद्दीयते लोकहितोन्मुखेन ।
निधानतां याति हि दीयमानमदीयमानं निधनैकनिष्ठम् ॥५०॥

तदेवं दुष्करशतसमुदानीतोऽयमस्मदर्थं तेन भगवता सद्धर्म इति सत्कृत्य श्रोतव्यः । तथागतमाहात्म्ये पूर्ववच्च करुणावर्णेऽपि वाच्यमिहैव पुण्यफलप्रदर्शने चैवं सत्कृत्योपचितानि पुण्यानीहैव पुष्पमात्रमात्मप्रभावस्य कीर्तिसंततिमनोहरं प्रदर्शयन्तीति ॥

इति शिबिजातकं द्वितीयम् ।

---

३ कुल्माषपिण्डीजातकम्

चित्तप्रसादोद्गतं पात्रातिशयप्रतिपादितं च नाल्पकं नाम दानमस्ति विपाकमहत्त्वात् । तद्यथानुश्रूयते ।

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवान्कोशलाधिपतिर्बभूव । तस्योत्साहमन्त्रप्रभुशक्तिसम्पत्प्रभृतीनां प्रकर्षिणामपि राजगुणानां विभूतिमतिशिश्ये दैवसम्पद्गुणशोभा ।

गुणास्तस्याधिकं रेजुर्दैवसम्पद्विभूषणाः ।
किरणा इव चन्द्रस्य शरदुन्मीलितश्रियः ॥ १ ॥

तत्याज दृप्तानपि तस्य शत्रून् रक्तेव रेमे तदपाश्रितेषु ।
इत्यास तस्यान्यनराधिपेषु कोपप्रसादानुविधायिनी श्रीः ॥ २ ॥

यह जानकर, हे शिबियो, दान और उपभोग द्वारा अपनी सम्पत्तिको सफल करो। इहलोक और परलोकमें सुख और कीर्त्ति प्राप्त करनेका यह रास्ता है। ॥४९॥

तुच्छ और असार धनका यही इतना सार है कि वह लोक-हितके लिए दान किया जाता है; क्योंकि जो कुछ दिया जाता है वह (अक्षय) निधि हो जाता है और जो नही दिया जाता है वह नष्ट होता है।" ॥ ५० ॥

इस प्रकार शत-शत कष्टोंको सहकर उन भगवान्ने हमारे लिए इस सद्धर्मको उपस्थित किया। अतः हमें इसे ध्यानपूर्वक सुनना चाहिए। तथागतका माहात्म्य दिखलानेमें, और पूर्ववत् करुणाका वर्णन करनेमें भी तथा इहलोकमे ही पुण्य-फलकी प्राप्ति बतलानेमें यह कथा कहनी चाहिए। इस प्रकार आदरपूर्वक सञ्चित पुण्य इहलोकमें ही अपनी शक्ति (प्रताप) और कीर्त्तिके सुन्दर फूल प्रकट करते है।

शिबि-जातक द्वितीय समाप्त।

---

३ कुल्माषपिण्डी-जातक (दान)

प्रसन्नतापूर्वक सत्पात्रको दिया गया दान महा-फल-दायक होनेके कारण थोड़ा नही कहा जा सकता। परम्परासे ऐसा सुननेमें आता है:—

ये भगवान् (बुद्ध) जब बोधिसत्त्व थे तब कोशलदेशके राजा हुए। उनके उत्साह मन्त्रणा प्रभुता आदि उत्कृष्ट राजोचित गुणोंसे बढ़कर उनकी दैवी सम्पत्ति थी।

दैवी सम्पत्तिसे विभूषित होकर उनके सद्गुण और भी शोभित हुए, जैसे शरद्ऋतुके संयोगसे चाँदनीकी शोभा बढ़ जाती है। ॥ १ ॥

राज्य-लक्ष्मीने उसके अभिमानी शत्रुओंका भी परित्याग किया और उसके आश्रयमें रहनेवालोंके साथ अनुरक्ता स्त्रीके समान रमण (अनुराग) किया। इस प्रकार वह दूसरे राजाओंके ऊपर (अपने स्वामीके अनुसार ही) क्रुद्ध भी हुई और प्रसन्न भी हुई। ॥ २ ॥

धर्मात्मकत्वान्न च नाम तस्य परोपतापाशिवमास चेतः।
भृत्यानुरागस्तु तथा जजृम्भे द्विषत्सु लक्ष्मीर्न यथास्य रेमे ॥ ३ ॥

सोऽनन्तरातीतां स्वजातिमनुसस्मार। तदनुस्मरणाच्च समुपजातसंवेगो विशेषवत्तरं श्रमणब्राह्मणकृपणवनीपकेभ्यः सुखहेतुनिदानं दानमदाच्छीलसंवरमनवरतं पुपोष पोषधनियमं च पर्वदिवसेषु समाददे। अभीक्ष्णं च राजा पर्षदि स्वस्मिंश्चान्तःपुरे पुण्यप्रभावोद्भावनाल्लोकं श्रेयसि नियोक्तुकामः प्रतीतहृदयो गाथाद्वयमिति नियतार्थं बभाषे।

न सुगतपरिचर्या विद्यते स्वल्पिकापि
प्रतनुफलविभूतिर्यच्छ्रुतं केवलं प्राक्।
तदिदमलवणायाः शुष्करूक्षारुणायाः
फलविभवमहत्त्वं पश्य कुल्माषपिण्ड्याः ॥ ४ ॥

रथतुरगविचित्रं मत्तनागेन्द्रनीलं
बलमकृशमिदं मे मेदिनी केवला च।
बहु धनमनुरक्ता श्रीरुदाराश्च दाराः
फलसमुदयशोभां पश्य कुल्माषपिण्ड्याः ॥ ५ ॥

तममात्या ब्राह्मणवृद्धाः पौरमुख्याश्च कौतूहलाघूर्णितमनसोऽपि न प्रसहन्ते स्म पर्यनुयोक्तुं किमभिसमीक्ष्य महाराजो गाथाद्वयमिदमभीक्ष्णं भाषत इति। अथ तस्य राज्ञो वाग्नित्यत्वादव्याहततरप्रणयप्रसरा देवी समुत्पन्नकौतूहला संकथाप्रस्तावागतं पर्षदि पर्यपृच्छदेनम्।

नियतमिति नरेन्द्र भाषसे हृदयगतां मुदमुद्गिरन्निव।
भवति मम कुतूहलाकुलं हृदयमिदं कथितेन तेन ते ॥ ६ ॥
तदर्हति श्रोतुमयं जनो यदि प्रचक्ष्व तत्किं न्विति भाषसे नृप।
रहस्यमेवं च न कीर्त्यते क्वचित्प्रकाशमस्माच्च मयापि पृच्छ्यते॥७॥

धार्मिक होनेके कारण दूसरोंको उत्पीड़ित नही करनेमे उसका चित्त दूषित नही हुआ। उसका भृत्यानुराग[१] बढ़ता ही गया, जिस कारण उसके शत्रुओसे राज्य-लक्ष्मी विमुख हो गई। ॥ ३ ॥

राजाने अपने अन्तिम पूर्व जन्मका स्मरण किया। उसका स्मरण करनेसे उसको संवेग हो गया और उसने सन्यासियों, ब्राह्मणों, दीन-दुःखियों और याचकोंको खूब दान दिया, जो कि सुखका हेतु और आदिकारण है। सदा शील-संवरका पालन किया और पर्वके दिनोमें उपवास (उपोषध) का नियम ग्रहण किया। राजाने निरन्तर अपनी सभामे और अपने अन्तःपुरमे पुण्यका प्रभाव प्रकट करके लोगोको श्रेयमें लगानेकी इच्छासे प्रसन्न-चित्त होकर निश्चित अर्थसे युक्त इन दो गाथाओंको गाया—

यदि सुगतों (आस्रव-रहित साधु-सन्यासियों) की थोड़ी सी भी सेवा की जाय तो उसका फल अल्प नही होता है, ऐसा पहले केवल सुनते थे। अब सूखी-रूखी लाल अलोनी कुल्थीकी दाल (या कुल्फेकी साग) (की भिक्षा देने) का यह महान् फल (प्रत्यक्ष) देखो। ॥ ४ ॥

रथों और घोड़ोंसे चित्र-विचित्र और मतवाले हाथियोंसे श्यामल विशाल सेना सम्पूर्ण पृथ्वी, विपुल धन-राशि, अनुरक्त (अनुकूल) लक्ष्मी, कुलीन स्त्रियाँ—यह सब थोडी-सी कुल्थीकी दाल (या कुल्फेकी साग) देनेका सुन्दर फल है। ॥ ५ ॥

यद्यपि अमात्यों, बृद्ध ब्राह्मणों और प्रधान पुरवासियोंका मन कुतूहलसे आकुल हो गया तो भी वे उनसे न पूछ सके—'क्या देखकर महाराज इन दो गाथाओंका निरन्तर पाठ कर रहे है।' राजा इस वाक्यका नित्य उच्चारण करते हैं, इससे उनकी प्यारी रानीको भी बड़ा कुतूहल हुआ और उसने बातचीतके प्रसङ्गमें सभामें उनसे पूछा—

"हे राजन्, अपने हार्दिक आनन्दको प्रकट करते हुए आप इस वाक्यको निरन्तर कह रहे है; आपके इस वचनसे मेरा यह हृदय कुतूहलसे आकुल हो रहा है। ॥ ६ ॥

अतः यदि यह व्यक्ति सुननेका पात्र है तो बतलाइये कि आप यह क्या कह रहे है। रहस्य (गोपनीय बात) का इस प्रकार कहीं कीर्तन नहीं किया जाता है, यह प्रकाशित करने योग्य है, इसीलिए मैं आपसे पूछ रही हूँ।" ॥ ७ ॥

अथ स राजा प्रीत्यभिस्निग्धया दृष्ट्या समभिवीक्ष्य देवीं स्मित-प्रविकसितवदन उवाच ।

अविभाव्य निमित्तार्थं श्रुत्वोद्गारमिमं मम ।
न केवलं तवैवात्र कौतूहलचलं मनः ॥ ८ ॥

समन्तमप्येतदमात्यमण्डलं कुतूहलाघूर्णितलोलमानसम् ।
पुरं च सान्तःपुरमत्र तेन मे निशम्यतां येन मयैवमुच्यते ॥ ९ ॥

सुप्तप्रबुद्ध इव जातिमनुस्मरामि
यस्यामिहैव नगरे भृतकोऽहमासम् ।
शीलान्वितोऽपि धनमात्रसमुच्छ्रितेभ्यः
कर्माभिराधनसमर्जितदीनवृत्तिः ॥ १० ॥

सोऽहं भृतिं परिभवश्रमदैन्यशालां
त्राणाशयात्स्वयमवृत्तिभयाद्विविक्षुः ।
भिक्षार्थिनश्च चतुरः श्रमणानपश्यं
वश्येन्द्रियाननुगतानिव भिक्षुलक्ष्म्या ॥ ११ ॥

तेभ्यः प्रसादमृदुना मनसा प्रणम्य
कुल्माषमात्रकमदां प्रयतः स्वगेहे ।
तस्याङ्कुरोदय इवैष यदन्यराज-
चूडाप्रभाश्चरणरेणुषु मे निषक्ताः ॥ १२ ॥

तदेतदभिसन्धाय मयैवं देवि कथ्यते ।
पुण्येन च लभे तृप्तिमर्हतां दर्शनेन च ॥ १३ ॥

अथ सा देवी प्रहर्षविस्मयविशालाक्षी सबहुमानमुदीक्षमाणा राजानमित्युवाच । उपपन्नरूपः पुण्यानामयमेवंविधो विपाकाभ्युदयविशेषः । पुण्यफलप्रत्यक्षिणश्च महाराजस्य यदयं पुण्येष्वादरः । तदेवमेव पाप-प्रवृत्तिविमुखः पितेव प्रजानां सम्यक्परिपालनसुमुखः पुण्यगणार्जनाभि-मुखः ।

तब राजाने प्रेमपूर्ण दृष्टिसे रानीको देखकर मुसकराते हुए कहा—

"मेरे इस उद्गारको सुनकर और इसका मूल अर्थ नहीं जानकर केवल तुम्हारा ही मन कौतूहलसे चञ्चल नही है। ॥ ८॥

किंतु मेरे इस उद्गारसे इस सम्पूर्ण मंत्रिमण्डल तथा अन्त:पुर सहित पुरवासियोंका मन कुतूहल (जिज्ञासा) से आकुल और चञ्चल है। अत: सुनिये कि मेरी इस उक्तिका क्या हेतु है। ॥ ९॥

सोकर उठे हुए के समान मैं (अपने पूर्व–) जन्मको स्मरण कर रहा हूँ, जिस (जन्म) मे कि मै इसी नगरमें मजदूर (का काम करता) था। शीलवान् होनेपर भी मै धनमात्रसे गर्वोन्नत लोगोसे उनकी सेवा (मजदूरी) करके अपनी अल्प वृत्ति अर्जन करता था। ॥ १०॥

(अपने तथा अपने परिवारकी) रक्षाके उद्देश्यमे तथा वृत्तिका कही अभाव न हो जाय इस भयसे मैं अपमान थकावट, तथा दीनता (दु:ख) के निवास-स्थान—उस-सेवा-कार्य—के लिए जा ही रहा था कि मैंने चार भिक्षार्थी संन्यासियोंको देखा। वे जितेन्द्रिय थे और जान पड़ता था जैसे संन्यास-लक्ष्मी उनके पीछे चल रही हो। ॥ ११॥

मैंने प्रसन्न और कोमल चित्तसे उन्हें प्रणाम किया और पवित्रतापूर्वक अपने घरमे उन्हें केवल थोड़ी-सी कुलथीकी दाल (या कोई साग) दी। उसीका यह फल है कि मेरे चरणोंकी धूलमें दूसरे राजाओकी चूडामणियो-की किरणें पड़ रही हैं। ॥ १२॥

हे देवि, यही सोचकर मै यह (गाथा-युगल) पढ़ता हूँ। मै पुण्य-कार्योसे और अर्हतो (पूज्य पुरुषों) के दर्शनसे तृप्ति लाभ करता हूँ।"॥१३॥

तब आनन्द और विस्मयसे विकसित आँखोंवाली रानीने राजाको देखते हुए कहा—"पुण्य कर्मोका यह ऐसा सुन्दर फल प्राप्त होना उचित ही है। महाराजने पुण्य कर्मोसे होनेवाले फलका प्रत्यक्ष दर्शन किया है, इसीलिए तो आप पुण्य कर्मोके प्रति आदर (श्रद्धा) प्रकट कर रहे हैं। इसीलिए तो आप पाप-प्रवृत्तिसे विमुख होकर पिताके समान प्रजाजनका उचित रूपसे पालन करनेमें दत्तचित्त हैं और पुण्य-राशिके अर्जनमे संलग्न हैं।

यशःश्रिया दानसमृद्धया ज्वलन्प्रतिष्ठिताज्ञः प्रतिराजमूर्धसु ।
समीरणाकुञ्चितसागराम्बरां चिरं महीं धर्मनयेन पालय ॥१४॥

राजोवाच । किं ह्येतद्देवि न स्यात् ।

सोऽहं तमेव पुनराश्रयितुं यतिष्ये
श्रेयःपथं समभिलक्षितरम्यचिह्नम् ।
लोकः प्रदित्सति हि दानफलं निशम्य
दास्याम्यहं किमिति नात्मगतं निशम्य ॥१५॥

अथ स राजा देवीं देवीमिव श्रिया ज्वलन्तीमभिस्निग्धमवेक्ष्य श्रीसम्पत्तिहेतुकुतूहलहृदयः पुनरुवाच—

चन्द्रलेखेव ताराणां स्त्रीणां मध्ये विराजसे ।
अकृथाः किं नु कल्याणि ! कर्मातिमधुरोदयम् ॥१६॥

देव्युवाच—अस्ति देव किञ्चिदहमपि पूर्वजन्मवृत्तिं समनुस्मरामीति । कथय कथयेदानीमिति च सादरं राज्ञा पर्यनुयुक्तोवाच—

बाल्येऽनुभूतमिव तत्समनुस्मरामि
दासी सती यदहमुद्धृतभक्तमेकम् ।
क्षीणास्रवाय मुनये विनयेन दत्त्वा
सुप्तेव तत्र समवापमिह प्रबोधम् ॥१७॥

एतत्स्मरामि कुशलं नरदेव ! येन
त्वन्नाथतामुपगतास्मि समं पृथिव्या ।
क्षीणास्रवेषु न कृतं तनु नाम किञ्चि-
दित्युक्तवानसि यथैव मुनिस्तथैव ॥१८॥

आप दान देनेसे बढ़ी हुई कीर्तिकी दीप्तिसे प्रज्वलित हो रहे हैं, आपने प्रतिस्पर्धी राजाओंके द्वारा अपनी आज्ञा शिरोधार्य करवायी है, आप वायु-प्रकम्पित समुद्र-वसना (हवासे लहराते हुए समुद्ररूपी वस्त्रवाली) पृथ्वी का चिरकालतक धर्म-नीतिसे पालन करें।" ॥ १४ ॥

राजाने कहा—"क्यों नही, देवि ?

मैं पुनः उसी कल्याण-मार्गका आश्रय लूँगा, जिसके सुन्दर चिन्ह मैंने देख लिये हैं। दानसे प्राप्त होनेवाले फलको सुनकर लोग देनेकी इच्छा करते हैं; तब उसे (दान-फलको) स्वयं अनुभव करके मैं क्यों नही दान दूंगा ?" ॥ १५ ॥

तब देवी (देवता) के समान दीप्तिमती रानीको स्नेहपूर्वक देखकर राजाने उसकी दीप्तिका हेतु जाननेकी इच्छासे पुनः कहा—

"जैसे ताराओंके बीच चाँदनी शोभित होती हैं वैसे ही तुम स्त्रियोंके बीच विराज रही हो। हे कल्याणि, तुमने कौन-सा (पुण्य-) कर्म किया था, जिसका यह मधुर फल तुम्हें प्राप्त हुआ है ?" ॥ १६ ॥

रानीने कहा—"हे देव, हाँ मुझे भी पूर्व-जन्मका एक वृत्तान्त स्मरण हो रहा है।" तब "कहो, कहो" इस प्रकार राजाके द्वारा सादर पूछी जानेपर उसने कहा—

"वह (वृत्तान्त) मुझे ऐसे स्मरण हो रहा है, जैसे मैंने अपने बचपनमें उसे अनुभव किया हो—दासीका काम करती हुई मैं थोड़ा-सा भात निकाल-कर आस्रव-रहित (निर्मल-चित्त) मुनिको विनयपूर्वक देकर वहाँ (उस जन्ममें) मानो सो रही और यहाँ (इस जन्ममें) नोदसे जगी। ॥ १७ ॥

हे राजन्, यही इतना शुभ कर्म मुझे स्मरण हो रहा है, जिस कारण कि पृथ्वीके साथ-साथ मैंने आप सरीखे पतिको प्राप्त किया है। जिनके आस्रव (चित्त-मल) क्षीण हो गये हैं उनका यदि कुछ उपकार किया जाय तो वह थोड़ा (फल-दायक) नहीं होता है, यह जो अभी आपने कहा यही तो तब उस मुनिने भी कहा था।" ॥ १८ ॥

अथ स राजा पुण्यफलप्रदर्शनात्पुण्येषु समुत्पादितबहुमानामभिप्रसन्नमनसं पर्षदं विस्मयैकाग्रामवेत्य नियतमीदृशं किञ्चित्समनुशशास ।

अल्पस्यापि शुभस्य विस्तरमिमं दृष्ट्वा विपाकश्रियः
स्यात्को नाम न दानशीलविधिना पुण्यक्रियातत्परः ।
नैव द्रष्टुमपि क्षमः स पुरुषः पर्याप्तवित्तोऽपि सन्
यः कार्पण्यतमिस्रयावृतमतिर्नाप्नोति दानैर्यशः ॥१९॥

त्यक्तव्यं विवशेन यन्न च तथा कस्मैचिदर्थाय य-
त्तन्न्यायेन धनं त्यजन्यदि गुणं कञ्चित्समुद्भावयेत् ।
कोऽसौ तत्र भजेत मत्सरपथं जानन्गुणानां रसं
प्रीत्याद्या विविधाश्च कीर्त्यनुसृता दानप्रतिष्ठागुणाः ॥२०॥

दानं नाम महानिधानमनुगं चौराद्यसाधारणं
दानं मत्सरलोभदोषरजसः प्रक्षालनं चेतसः ।
संसाराध्वपरिश्रमापनयनं दानं सुखं वाहनं
दानं नैकसुखोपधानसुमुखं सन्मित्रमात्यन्तिकम् ॥२१॥

विभवसमुदयं वा दीप्तमाज्ञागुणं वा
त्रिदशपुरनिवासं रूपशोभागुणं वा ।
यदभिलषति सर्वं तत्समाप्नोति दाना-
दिति परिगणितार्थः को न दानानि दद्यात् ॥२२॥

सारादानं दानमाहुर्धनानामैश्वर्याणां दानमाहुर्निदानम् ।
दानं श्रीमत्सज्जनत्वावदानं बाल्यप्रज्ञैः पांसुदानं सुदानम् ॥२३॥

अथ सा पर्षत्तस्य राज्ञस्तद्ग्राहकं वचनं सबहुमानमभिनन्द्य प्रदानादिप्रतिपत्त्यभिमुखी बभूव ।

तब प्रसन्न विस्मित और एकाग्र सभासदोंको, जिन्हें पुण्य-फल प्रकाशित करनेसे पुण्यके प्रति अत्यन्त आदर-भाव (श्रद्धा) उत्पन्न हो गया था, राजा ने इस प्रकार उपदेश दिया—

"थोड़े-से भी शुभकर्मका यह इतना बड़ा सुन्दर फल मिलता है, यह देखकर कौन मनुष्य दान और शीलके द्वारा पुण्य कर्मोमें तत्पर नहीं होगा? वह पुरुष देखनेके भी योग्य नहीं है, जो सम्पतिशाली होकर भी कृपणता-रूपी अंधकारसे व्याप्त होनेके कारण दान देकर यश प्राप्त नही करता है। ॥ १९ ॥

विवश होकर जिसको छोड़ना ही पड़ेगा और इस प्रकार जो किसी कामका नहीं होता है उस धनका उचित रीतिसे त्याग करता हुआ यदि कोई किसी गुणको प्राप्त करे तो गुणोंका रस जाननेवाला कौन मनुष्य कृपणताके मार्गपर चलेगा? ॥ २० ॥

दान सदा साथ रहनेवाली महानिधि है, चोर आदि (चोर, राजा, अग्नि, जल) की पहुँचसे बाहर है; दान मानसिक कृपणता-लोभ-द्वेषरूपी मलका धोनेवाला है; दान ससार-यात्राकी थकावटको दूर करनेवाला सुख-दायक वाहन (सवारी) है; दान अनेक प्रकारके सुख पहुँचानेके कारण आनन्द-दायक आत्यन्तिक सन्मित्र है। ॥ २१ ॥

सम्पत्तिका उदय या उज्ज्वल शासन (आज्ञा-अधिकार) या स्वर्ग-निवास या (शारीरिक) रूप-शोभा, जो कुछ चाहे सब दानसे प्राप्त कर सकता है; यह लाभ देखकर भला कौन दान नहीं देगा ? ॥ २२ ॥

कहते है कि दान देना सम्पत्तिका सार ग्रहण करना है और दान ऐश्वर्यका आदि-कारण है; दान श्रीमानोंकी सज्जनता है, सुन्दर कर्म है। आल्पज्ञोंद्वारा किया गया धूलि-दान (मिट्टीके बर्तनका या चिथड़ेका दान, या कोई भी तुच्छ दान) सुन्दर दान है।" ॥ २३ ॥

तब उन सभासदोंने राजाके उस प्रेरक वचनका आदरपूर्वक अभिनन्दन किया और दान-आदि क्रियाओंकी ओर उनकी प्रवृत्ति हुई।

तदेवं चित्तप्रसादोद्गतं पात्रातिशयप्रतिपादितं च नाल्पकं नाम दानमस्ति विपाकमहत्त्वादिति प्रसन्नचित्तेनानुत्तरे पुण्यक्षेत्र आर्यसंघे दानं ददता परा प्रीतिरुत्पादयितव्या। अदूरे ममाप्येवंविधा अतो विशिष्ट-तराश्च सम्पत्तय इति।

इति कुल्माषपिण्डी-जातकं तृतीयम्।

---

४ श्रेष्ठिजातकम्

अत्ययमप्यविगणय्य दित्सन्ति सत्पुरुषाः। केन नाम स्वस्थेन न दातव्यं स्यात्। तद्यथानुश्रूयते।

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवान्भाग्यातिशयगुणादुत्थानसम्पदा चाधिगतविपुलधनसमृद्धिरविषमव्यवहारशीलत्वाल्लोके बहुमाननिकेत-भूत उदाराभिजनवाननेकविद्याकलाविकल्पाधिगमविमलतरमतिर्गुणमा-हात्म्याद्राज्ञा समुपहृतसम्मानः प्रदानशीलत्वाल्लोकसाधारणविभवः श्रेष्ठी बभूव।

अर्थिभिः प्रीतहृदयैः कीर्त्यमानमितस्ततः।
त्यागशौर्योन्नतं नाम तस्य व्याप दिशो दश॥ १॥

दद्यान्न दद्यादिति तत्र नाऽसीद्विचारदोलाचलमानसोऽर्थी।
ख्यातावदाने हि बभूव तस्मिन्विस्रम्भधृष्टप्रणयोऽर्थिवर्गः॥२॥

नाऽसौ जुगोपात्मसुखार्थमर्थं न स्पर्धया लोभपराभवाद्वा।
सत्त्वार्थिदुःखं न शशाक सोढुं नास्तीति वक्तुं च ततो जुगोप॥ ३॥

इसलिए प्रसन्नतापूर्वक सत्पात्रको दिया गया दान महा-फल-दायक होनेके कारण थोडा नही कहा जा सकता। निकट भविष्यमें मुझे भी ऐसी ही या इसमे भी अधिक समृद्धि प्राप्त होगी, ऐसा सोचकर प्रसन्न चित्तसे पवित्र आर्य-संघमें—पुण्य (-वपनके उपयुक्त)-क्षेत्रमें—दान देकर परम आनन्द प्राप्त करना चाहिए।

कुल्माषपिण्डी-जातक तृतीय समाप्त।

---

४ श्रेष्ठि-जातक [दान even in विपत्ति/०

अपनी विपत्तिकी उपेक्षा करके भी सत्पुरुष दान देनेकी इच्छा करते हैं। तब जो मनुष्य विपत्तिमें नही है वह क्यों नही दान देगा? ऐसी अनुश्रुति है—

ये भगवान् (बुद्ध) जब बोधिसत्त्व थे तो (एक बार) सेठके कुलमें उत्पन्न हुए। अपने सौभाग्य और सत्प्रयत्नसे उन्होंने बहुत सम्पत्ति प्राप्त की। वे संसार में सबके साथ समान व्यवहार करते थे, अतः[१] वे लोगोके सम्मान-पात्र बन गये। वे उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए थे; अनेक विद्याएँ और कलाएँ प्राप्त करनेसे उनकी बुद्धि निर्मल हो गई थी। उनके सद्गुणोके कारण राजाने भी उनका सम्मान किया। उनकी दानशीलताके कारण उनकी सम्पत्ति सब लोगोके लिए उपभोग्य थी।

याचकोंने प्रसन्न मनसे जहाँ तहाँ उनके नामका कीर्तन किया, जिससे उनकी दान-वीरताका यश दशो दिशाओंमें व्याप्त हो गया। ॥ १ ॥

'देंगे या न देंगे' इस प्रकारकी शंकासे उनके याचकोंका मन दोलायमान नही होता था। उनके उदारताके कार्य विख्यात होनेके कारण याचकगण उनमें विश्वास करते थे और उनसे याचना करनेमें ढीठ हो गये थे। ॥ २ ॥

उन्होंने अपने सुखके लिए या स्पर्धासे या लोभके वशीभूत होकर धन की रक्षा नहीं की। वे प्रार्थियोंका दुःख नहीं सह सकते थे, अतः 'नही है' ऐसा नही कह सकते थे। ॥ ३ ॥

अथ कदाचित्तस्य महासत्त्वस्य भोजनकाले स्नातानुलिप्तगात्रस्य कुशलोदारसूदोपकल्पिते समुपस्थिते वर्णगन्धरसस्पर्शादिगुणसमुदिते विचित्रे भक्ष्यभोज्यादिविधौ तत्पुण्यसम्भाराभिवृद्धिकामो ज्ञानाग्निनिदग्धसर्वक्लेशेन्धनः प्रत्येकबुद्धस्तद्गृहमभिजगाम भिक्षार्थी। समुपेत्य च द्वारकोष्ठके व्यतिष्ठत।

अशङ्किताचञ्चलधीरसौम्यमवेक्षमाणो युगमात्रमुर्व्याः।
तत्राऽवतस्थे प्रशमाभिजातः स पात्रसंसक्तकराग्रपद्मः ॥ ४ ॥

अथ मारः पापीयान्बोधिसत्त्वस्य तां दानसम्पदममृष्यमाणस्तद्विघ्नार्थमन्तरा च तं भदन्तमन्तरा च द्वारदेहलीं प्रचलज्ज्वालाकरालोदरमनेकपौरुषमतिगम्भीरं भयानकदर्शनं सप्रतिभयनिर्घोषं नरकमभिनिर्ममे विस्फुरद्भिरनेकैर्जनशतैराचितम्। अथ बोधिसत्त्वः प्रत्येकबुद्धं भिक्षार्थिनमभिगतमालोक्य पत्नीमुवाच—भद्रे ! स्वयमार्याय पर्याप्तं पिण्डपातं देहीति। सा तथेति प्रतिश्रुत्य प्रणीतं भक्ष्यभोज्यमादाय प्रस्थिता। नरकमालोक्य द्वारकोष्ठकसमीपे भयविषादचञ्चलाक्षी सहसा न्यवर्तत। किमेतदिति च भर्त्रा पर्यनुयुक्ता समापतितसाध्वसापिहितकण्ठी तत्कथञ्चित्तस्मै कथयामास।

अथ बोधिसत्त्वः कथमयमार्यो मद्गृहादनवाप्तभिक्ष एव प्रतियास्यतीति ससम्भ्रमं तत्तस्याः कथितमनादृत्य स्वयमेव च प्रणीतं भक्ष्यभोज्यमादाय तस्य महात्मनः पिण्डपातं प्रतिपादयितुकामो द्वारकोष्ठकसमीपमभिगतस्तमतिभीषणमन्तरा नरकं ददर्श। तस्य किं स्विदिदमिति समुत्पन्नवितर्कस्य मारः पापीयान्भवनभित्तेर्विनिःसृत्य संदृश्यमानदिव्याद्भुतवपुरन्तरिक्षे स्थित्वा हितकाम इव नामाब्रवीत्। गृहपते महारौरवनामायं महानरकः।

एक बार भोजन-कालमें उन महासत्त्व (बोधिसत्त्व) के स्नान और अनुलेपन करनेपर, उनके आगे कुशल पाचकों द्वारा बनाई गई सुन्दर वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि गुणोंसे युक्त भोजन-सामग्री परोसी जाने पर, उनकी पुण्य-राशि बढ़ानेकी इच्छासे एक भिक्षु उनके घरपर आये। वे थे प्रत्येक बुद्ध, जिनके सब क्लेशरूपी इन्धन ज्ञानरूपी अग्निसे जल गये थे। वहाँ पहुँचकर वह द्वारके समीप खड़े रहे।

वह केवल जुएकी दूरी तक पृथ्वीको देखते हुए वहाँ खड़े रहे, वह शङ्का-रहित, चञ्चलता-रहित धीर और सौम्य थे। उनकी आकृति शान्त और सुन्दर थी। उनके हाथका अग्रभाग भिक्षा-पात्रमें लगा हुआ था। ॥ ४ ॥

तब उस पापी मार (शैतान) ने बोधिसत्त्वकी उस उदारताको नहीं सह सकनेके कारण विघ्न खड़ा करनेके लिए उन भदन्त तथा द्वार-देहलीके बीच अनेक पुरुषोंके मापका अत्यन्त गहरा नरक बनाया, जिसका भीतरी भाग चञ्चल ज्वालाओंसे विकराल था, जो देखनेमें भयानक था, जिसका शब्द सुनकर भय होता था और जो जलते व छटपटाते हुए सैकड़ो लोगोंसे भरा हुआ था।

तब बोधिसत्त्वने प्रत्येक बुद्धको भिक्षाके लिए आया हुआ देखकर अपनी पत्नीसे कहा—'भद्रे, स्वयं जाकर आर्यको पर्याप्त भिक्षा दो।' पत्नीने उत्तर दिया 'बहुत अच्छा' और उत्तम भोजन-सामग्री लेकर चली गई। द्वारके समीप नरक देखकर भय और विषादसे उसकी आँखें चञ्चल हो गई और सहसा ही वह लौट आई। 'यह क्या' इस प्रकार पतिद्वारा पूछे जानेपर, भयभीत होनेके कारण अवरुद्ध कण्ठसे उसने किसी किसी तरह वह वृत्तान्त कह सुनाया। 'क्या यह आर्य मेरे घरसे भिक्षा पाये विना ही लौट जायँगे' इस प्रकार चिन्ता करते हुए बोधिसत्त्व पत्नीके कथनकी उपेक्षा करके स्वयं ही उत्तम भोजन-सामग्री लेकर द्वारके समीप पहुँच गये और बीचमें उस अत्यन्त भीषण नरकको देखा। 'यह क्या है' यह विचार जब बोधिसत्त्वके मनमें उत्पन्न हुआ तब पापी मारने घरकी दीवारसे निकलकर अपनी दिव्य एवं अद्भुत आकृति दिखलाते हुए, अन्तरिक्षमें खड़े होकर, हितैषी व्यक्तिके समान कहा—"हे गृहपति, यह महारौरव नामक महानरक है।

अर्थिप्रशंसावचनप्रलुब्धा दित्सन्ति दानव्यसनेन येऽर्थान् ।
शरत्सहस्राणि बहूनि तेषामस्मिन्निवासोऽसुलभप्रवासः ॥ ५ ॥

अर्थस्त्रिवर्गस्य विशेषहेतुस्तस्मिन्हते केन हतो न धर्मः ।
धर्मं च हत्वार्थनिबर्हणेन कथं नु न स्यान्नरकप्रतिष्ठः ॥ ६ ॥

दानप्रसङ्गेन च धर्ममूलं घ्नता त्वयार्थं यदकारि पापम् ।
त्वामत्तुमभ्युद्गतमेतदस्माज्ज्वालाग्रजिह्वं नरकान्तकास्यम् ॥ ७ ॥

तत्साधु दानाद्विनियच्छ बुद्धिमेवं हि सद्यः पतनं न ते स्यात् ।
विचेष्टमानैः करुणं रुदद्भिर्मा दातृभिर्गाः समताममीभिः ॥ ८ ॥

प्रतिग्रहीता तु जनोऽभ्युपैति निवृत्तदानापनयः सुरत्वम् ।
तत्स्वर्गमार्गावरणाद्विरम्य दानोद्यमात्संयममाश्रयस्व ॥ ९ ॥

अथ बोधिसत्त्वो नूनमस्यैतद्दुरात्मनो मम दानविघ्नाय विचेष्टित-मित्यवगम्य सत्त्वावष्टम्भधीरं विनयमधुराविच्छेदं नियतमित्यवोच-देनम् ।

अस्मद्धितावेक्षणदक्षिणेन विदर्शितोऽयं भवतार्यमार्गः ।
युक्ता विशेषेण च दैवतेषु परानुकम्पानिपुणा प्रवृत्तिः ॥१०॥

दोषोदयात्पूर्वमनन्तरं वा युक्तं तु तच्छान्तिपथेन गन्तुम् ।
गते प्रयासं ह्युपचारदोषैर्व्याधौ चिकित्साप्रणयो विघातः ॥११॥

इदं च दानव्यसनं मदीयं शङ्के चिकित्साविषयव्यतीतम् ।
तथा ह्यनादृत्य हितैषितां ते न मे मनः सङ्कुचति प्रदानात् ॥१२॥

दानादधर्मं च यदूचिवांस्त्वमर्थं च धर्मस्य विशेषहेतुम् ।
तन्मानुषी नेयमवैति बुद्धिर्दानादृत धर्मपथो यथार्थः ॥१३॥

याचकोंकी स्तुतिसे मुग्ध होकर जो लोग दान देनेके व्यसनके कारण धन देनेकी इच्छा करते हैं वे हजारों वर्ष तक इसमें निवास करते हैं, जहाँसे उनका निकलना कठिन है। ॥ ५ ॥

अर्थ त्रिवर्ग-साधनका प्रधान कारण है, उसका नाश होनेपर भला धर्मका नाश कैसे नहीं होगा? अर्थ—विनाश द्वारा धर्मका नाश करके भला कैसे नरकमें नहीं निवास करेगा? ॥ ६ ॥

दानकी आसक्तिसे धर्मके मूल-कारण अर्थका नाश करते हुए तूने जो पाप किया है, इसीलिए तेरेको खानेके लिए यह नरकान्तकका मुख आया हुआ है, ज्वालाएँ ही जिसकी जिह्वाएँ हैं। ॥ ७ ॥

दानकी ओरसे अपने मनको अच्छी तरह रोक ले, ऐसा करनेसे तेरा अभी पतन न होगा। छटपटाते हुए और आर्त होकर रोते हुए इन दाताओं-की समानता (=दुर्दशा) को मत प्राप्त हो। ॥ ८ ॥

दान ग्रहण करनेवाला मनुष्य दानरूपी दुर्नीति (कुमार्ग) से निवृत्त होनेके कारण देवत्त्वको प्राप्त होता है। इसलिए स्वर्गके रास्तेको बन्द करनेवाले दान-कर्मसे विरत होकर संयमका आश्रय ले।" ॥ ९ ॥

मेरे दानमें विघ्न करनेके लिए इस दुरात्माकी ही यह चेष्टा है, ऐसा समझकर बोधिसत्त्वने अपने सत्त्वगुणके अनुसार धैर्य धारण करते हुए नम्रता एवं मधुरतापूर्वक यह निश्चित उत्तर दिया—

"हमारे हितको देखनेमें निपुण आपने यह आर्य मार्ग दिखलाया है देवताओंमें दूसरोंपर दया करनेकी प्रवृत्तिका होना विशेष रूपसे उचित है। ॥१०।

रोग होनेसे पहले ही या होते ही उसको रोकनेकी चेष्टा करना उचित है; किंतु उपचारके दोषसे (या उपेक्षा करनेसे) जब रोग बढ़कर दुस्साध्य हो जाता है तब उसकी चिकित्साकी चेष्टा व्यर्थ होती है। ॥ ११ ॥

मेरा यह दान देनेका व्यसन (रोग), मैं समझता हूँ, असाध्य (ला इलाज) हो गया है; इसलिए आपके हितोपदेशका अनादर करके मेर मन दानकी ओरसे विमुख नहीं हो रहा है। ॥ १२ ॥

आपने जो कहा कि दानसे अधर्म होता है और अर्थ धर्मका प्रधान कारण है, सो मेरी मानव बुद्धि नहीं समझ रही है कि दानको छोड़कर भी कोई सच्चा धर्म-मार्ग हो सकता है? ॥ १३ ॥

निधीयमानः स नु धर्महेतुश्चौरैः प्रसह्याथ विलुप्यमानः।
ओघोदरान्तर्विनिमग्नमूर्तिर्हुताशनस्याशनतां गतो वा ॥१४॥

यच्चाथ दाता नरकं प्रयाति प्रतिग्रहीता तु सुरेन्द्रलोकम्।
विवर्धितस्तेन च मे त्वयाऽयं दानोद्यमः संयमयिष्यतापि ॥१५॥

अनन्यथा चास्तु वचस्तवेदं स्वर्गं च मे याचनका व्रजन्तु।
दानं हि मे लोकहितार्थमिष्टं नेदं स्वसौख्योदयसाधनाय ॥१६॥

अथ स मारः पापीयान्पुनरपि बोधिसत्त्वं हितैषीव धीरहस्तेनोवाच—

हितोक्तिमेतां मम चापलं वा समीक्ष्य येनेच्छसि तेन गच्छ।
सुखान्वितो वा बहुमानपूर्वं स्मर्तासि मां विप्रतिसारवान्वा ॥१७॥

बोधिसत्त्व उवाच—मार्ष ! मर्षयतु भवान्।

कामं पतामि नरकं स्फुरदुग्रवह्नि
ज्वालावलीढशिथिलावनतेन मूर्ध्ना।
न त्वर्थिनां प्रणयदर्शितसौहृदानां
सम्मानकालमवमाननया हरिष्ये ॥१८॥

इत्युक्त्वा बोधिसत्त्वः स्वभाग्यबलावष्टम्भाज्जानानश्च निरत्ययतां दानस्य निवारणैकरसमवधूय स्वजनपरिजनं साध्वसानभिभूतमतिरभिवृद्धदानाभिलाषो नरकमध्येन प्रायात्।

पुण्यानुभावादथ तस्य तस्मिन्नपङ्कजं पङ्कजमुद्बभूव।
अवज्ञयेवावजहास मारं यच्छुक्लया केशरदन्तपङ्क्त्या ॥१९॥

यदि उस (तथा-कथित) धर्मके हेतुरूप धनको बन्द करके रखा भी जाय तो वह चोर-डाकुओं द्वारा बलात् लूट लिया जायगा, या जल-प्रवाहके भीतर डूब जायगा या अग्नि-देवके मुखमें चला जायगा। ॥ १४ ॥

आपने यह जो कहा कि दान देनेवाला नरक और दान लेनेवाला इन्द्र-लोकको जाता है, इसके द्वारा, मुझे रोकनेकी इच्छा करते हुए भी, आपने मेरे दानोद्योगको बढाया ही है। ॥ १५ ॥

आपका यह वचन अन्यथा न हो, मेरे याचक स्वर्ग जायँ। मैं चाहता हूँ कि मेरा दान लोक-कल्याणके लिए हो, न कि आत्म-सुख प्राप्त करनेके लिए।" ॥ १६ ॥

तब उस पापी मारने पुनः बोधिसत्त्वसे हितैषीकी तरह धैर्यपूर्वक कहा—

"यह मेरा सदुपदेश है या मेरी चपलता है, इसकी समीक्षा करके तू जिस (रास्ते) से जाना चाहे उससे जा। तू (पीछे) सुखी होकर या अनुतापसे युक्त होकर मेरा सम्मानपूर्वक स्मरण करेगा।" ॥ १७ ॥

बोधिसत्त्वने कहा—"महाशय, क्षमा करें। मैं स्वेच्छासे इस नरकमें उतरूँगा, जिसकी भीषण अग्नि धधक रही है, भले ही लपटोंके स्पर्शसे (झुलसकर) मेरा मस्तक लटक जाय। किंतु जिन याचकोंने प्रार्थना (याचना) द्वारा मित्रता प्रकट की है उनका आदर-सत्कार करनेका यह समय उनका तिरस्कार करनेमें न बिताऊँगा।" ॥ १८ ॥

यह कहकर. बोधिसत्त्व अपने भाग्य-बलपर निर्भर करते हुए तथा दान देनेका परिणाम बुरा नहीं हो सकता है यह जानते हुए, मना करनेमें लगे हुए स्वजन और परिजनकी उपेक्षा करके, दान देनकी बढ़ी हुई अभिलाषाके कारण भय-भीत हुए विना ही नरकके बीचसे चले गये।

तब उनके पुण्य-कर्मोंके प्रभावसे कीचड़के विना ही उस नरकमें कमल उत्पन्न हो गया, जो मानो अपने सफेद केशररूपी दाँत दिखलाकर अनादर-पूर्वक मारका उपहास कर रहा था। ॥ १९ ॥

अथ बोधिसत्त्वः पद्मसंक्रमेण स्वपुण्यातिशयनिर्जातेनाभिगम्य प्रत्येकबुद्धं प्रसादसंहर्षापूर्णहृदयः पिण्डपातमस्मै प्रायच्छत् ।

मनःप्रसादप्रतिबोधनार्थं तस्याथ भिक्षुर्वियदुत्पपात ।
वर्षञ्ज्वलंश्चैव स तत्र रेजे सविद्युदुद्योतपयोदलक्ष्म्या ॥२०॥

अवमृदितमनोरथस्तु मारो द्युतिपरिमोषमवाप्य वैमनस्यात् ।
तमभिमुखमुदीक्षितुं न सेहे सह नरकेण ततस्तिरोबभूव ॥२१॥

तत्किमिदमुपनीतम् । एवमत्ययमप्यविगणय्य दित्सन्ति सत्पुरुषाः । केन नाम स्वस्थेन न दातव्यं स्यात् । न सत्त्ववन्तः शक्यन्ते भयादप्यगतिं गमयितुमित्येवमप्युन्नेयम् ।

इति श्रेष्ठिजातकं चतुर्थम् ।

---

५ अविषह्यश्रेष्ठिजातकम्

न विभवक्षयावेक्षया समृद्ध्याशया वा प्रदानवैधुर्यमुपयान्ति सत्पुरुषाः ॥ तद्यथानुश्रूयते ।

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवांस्त्यागशीलकुलविनयश्रुतज्ञानाविस्मयादिगुणसमुदितो धनदायमानो विभवसंपदा सर्वातिथित्वादनुपरतदानसत्रो लोकहितार्थप्रवृत्तो दायकश्रेष्ठः श्रेष्ठी बभूव । मात्सर्यादिदोषाविषह्योऽविषह्य इति प्रकाशनामा ।

इष्टार्थसंपत्तिविमर्शनाशात् प्रीतिप्रबोधस्य विशेषहेतुः ।
यथार्थिनां दर्शनमास तस्य तथार्थिनां दर्शनमास तस्य ॥ १ ॥

अपनी पुण्य-राशिसे उत्पन्न हुए कमलपर पैर रखकर प्रत्येक बुद्धके समीप पहुंचकर बोधिसत्त्वने प्रसन्न मनसे उन्हे भिक्षा दी।

अपना आन्तरिक आनन्द प्रकट करनेके लिए वह भिक्षु आकाशमें उड़ गये और वहाँ बिजलीके प्रकाशसे युक्त बादलके समान जल बरसाते हुए और प्रज्वलित होते हुए विराजमान हुए। ॥ २० ॥

मारका मनोरथ चूर्ण हो गया और उदासीके कारण उसकी कान्ति नष्ट हो गई। वह बोधिसत्त्वके सन्मुख देख भी नही सका। तब अपने नरकके साथ वह अन्तर्धान हो गया। ॥ २१ ॥

तब इसका क्या साराश निकला? यह कि सज्जन अपनी विपत्तिकी उपेक्षा करके भी दान देनेकी इच्छा करते है। तब जो मनुष्य विपत्तिमें नही हैं वह क्यों नही दान देगा? इससे यह निष्कर्ष भी निकालना चाहिए कि सात्त्विक पुरुष भय दिखलाकर भी कुमार्गपर नही चलाये जा सकते हैं। (विपत्तिमें पडकर भी कुमार्गपर नही चल सकते।)

श्रेष्ठि–जातक चतुर्थ समाप्त।

---

५ अविषह्य-श्रेष्ठि-जातक

धन क्षीण होनेके विचारसे या समृद्धिकी आशासे सत्पुरुष दानसे विरत नही होते। यह बात इस अनुश्रुतिसे साबित होगी—

जब ये भगवान् बोधिसत्त्व ही थे तो एकबार त्याग शील कुल विनय विद्या ज्ञान नम्रता आदि गुणोंसे युक्त श्रेष्ठी हुए। अपनी (प्रचुर) धन-सम्पत्तिके कारण वे कुबेरके समान लगते थे। सबका अतिथि-सत्कार करनेसे उनका दान-यज्ञ कभी बन्द नहीं होता था। वे लोकोपकारमें लगे रहते थे और दाताओंमें श्रेष्ठ थे। कृपणता आदि दोषोंसे अविषह्य (अजेय, अपराजित) होनेके कारण वे अविषह्य नामसे विख्यात हुए।

जैसे याचकोंके लिए उनका दर्शन (प्रिय) था वैसे ही उनके लिए भी याचकोंका दर्शन (प्रिय) था। इच्छा-पूर्त्तिकी आशङ्का नष्ट होनेके कारण (उभय पक्षके लिए) आनन्दित होनेका यह विशेष हेतु (उपयुक्त अवसर) था। ॥ १ ॥

देहीति याच्ञानियतार्थमुक्तो नास्तीति नासौ गदितं शशाक ।
हृतावकाशा हि बभूव चित्ते तस्यार्थसक्तिः कृपया महत्या ॥ २ ॥

तस्यार्थिभिर्निर्ह्रियमाणसारे गृहे बभूवाभ्यधिकप्रहर्षः ।
विवेद स ह्युग्रघनाननर्थानकारणक्षिप्रविरागिणोऽर्थान् ॥ ३ ॥

भवन्ति लोकस्य हि भूयसार्था लोभाश्रयाद्दुर्गतिमार्गसार्थाः ।
परात्मनोरभ्युदयावहत्वादर्थास्तदीयास्तु बभुर्यथार्थाः ॥ ४ ॥

अथ तस्य महासत्त्वस्य यथाभिलषितैरक्लिष्टैः शिष्टोपचारविभूषणैर्विपुलैरर्थविसर्गैर्याचनकजनं समन्ततः संतर्पयतः प्रदानौदार्यश्रवणाद्विस्मयावर्जितमनाः शक्रो देवेन्द्रः प्रदानस्थिरनिश्चयमस्य जिज्ञासमानः प्रत्यहं धनधान्यरत्नपरिच्छदजातं तत्तदन्तर्धापयामास । अपि नामायं विभवपरिक्षयाशङ्कयापि मात्सर्याय प्रतार्येतेति । प्रदानाधिमुक्तस्य तु पुनर्महासत्त्वस्य

यथा यथा तस्य विनेशुरर्थाः सूर्याभिसृष्टा इव तोयलेशाः ।
तथा तथैनान् विपुलैः प्रदानैर्गृहात्प्रदीप्तादिव निर्जहार ॥ ५ ॥

अथ शक्रो देवेन्द्रस्त्यागपरायणमेव तं महासत्त्वमवेत्य प्रक्षीयमाणविभवसारमपि विस्मिततरमतिस्तस्यैकरात्रेण सर्वं विभवसारमन्तर्धापयामासान्यत्र रज्जुकुण्डलाद्दात्राच्चैकस्मात् ॥ अथ बोधिसत्त्वः प्रभातायां रजन्यां यथोचितं प्रतिविबुद्धः पश्यति स्म धनधान्यपरिच्छदपरिजनविभवशून्यं निष्कूजदीनं स्वभवनं राक्षसैरिवोद्वासितमनभिरामदर्शनीयं किमिति च समुत्थितवितर्कः समनुविचरंस्तद्रज्जुकुण्डलकं दात्रं च केवलमत्र ददर्श । तस्य चिन्ता प्रादुरभवत् । यदि तावत्केनचिद्या-

'दीजिये' कहकर याचना करनेपर 'नहीं है' वह नहीं कह मकते थे; क्योंकि महाकरुणाके कारण उनके हृदयमें धनकी आसक्तिके लिए स्थान ही नही रहा। ॥ २ ॥

ज्यो-ज्यों याचकगण उनके घरसे धन ढोकर ले गये, त्यों-त्यों उनका आनन्द बढ़ता ही गया; क्योंकि उन्होंने धनको भारी और भयङ्कर अनर्थोका घर तथा शीघ्र ही अकारण नष्ट होनेवाला समझा। ॥ ३ ॥

अत्यधिक धन, लोभका आश्रय पाकर, मनुष्यको दुर्गति-मार्गपर ले चलता है; किंतु दूसरोके लिए तथा अपने लिए भी श्रेयस्कर होनेके कारण उनका धन सार्थक था। ॥ ४ ॥

जब वह महापुरुप चारों ओर याचकोंको शिष्टाचार और उदारता-पूर्वक यथेष्ट धन-राशि देकर सतुष्ट कर रहे थे तब उनकी उदार दान-शीलताके बारेमें मुनकर देवेन्द्र शक्रके मनमें विस्मय हुआ। उनके दान देनेके निश्चयकी स्थिरताका पता लगानेके लिए देवेन्द्र प्रतिदिन उनका धन-धान्य, रत्न और वस्त्र आदि सामग्री छिपाने लगे। शक्रने सोचा शायद धन क्षीण होनेकी आशङ्कासे वह कृपणताकी ओर बहकाया जा सके। किंतु वह महापुरुष तो दान देने पर तुले हुए थे।

मूर्यके सम्पर्कसे (मूखते हुए) पानीके समान ज्यों-ज्यों उनका धन-क्षीग होता गया त्यों-त्यों अधिकाधिक दान देकर उन्होने उसे घरसे ऐसे निकाला जैसे उसमें आग लगी हो। ॥ ५ ॥

'धन क्षीण होते रहनेपर भी वह महापुरुष दानपरायण ही है' यह देखकर देवेन्द्र शक्र और भी विस्मित हुए। तब उन्होंने एक ही रातमे उनकी सारी धन-सम्पत्ति, केवल कुण्डलाकार कुछ रस्सी और एक हँसियेको छोड़कर, छिपा दी। रातके बीतनेपर प्रातःकाल पूर्ववत् यथासमय जगकर बोधिसत्त्वने देखा कि उनका घर धन-धान्य, वस्त्र आदि सामग्री और नौकर-चाकरसे रहित है, निःशब्द दीन-मलिन और श्री-हीन है, जैसे राक्षसों-ने उसे तहस-नहस (नष्ट-भ्रष्ट) कर दिया हो। 'ऐसा क्यों' इस प्रकार सोच-विचार करते, चारों ओर घूमते हुए उन्होंने केवल रस्सीका एक कुण्डल और एक हँसिया देखा। उन्होंने सोचा—"यदि अपने पराक्रमसे

चितुमनुचितवचसा स्वविक्रमोपार्जितोपजीविना मद्गृहे प्रणय एवं दर्शितः । सूपयुक्ता एवमर्थाः । अथ त्विदानीं मद्भाग्यदोषादुच्छ्रयमसहमानेन केनचिदनुपयुक्ता एव विद्रुतास्तत्कष्टम् ।

चलं सौहृदमर्थानां विदितं पूर्वमेव मे ।
अर्थिनामेव पीडा तु दहत्यत्र मनो मम ।। ६ ।।

प्रदानसत्कारसुखोचिताश्चिरं
विविक्तमर्थैरभिगम्य मद्गृहम् ।
कथं भविष्यन्ति नु ते ममार्थिनः
पिपासिताः शुष्कमिवागता ह्रदम् ।। ७ ।।

अथ स बोधिसत्त्वः स्वधैर्यावष्टम्भादनास्वादितविषाददैन्यस्तस्यामप्यवस्थायामनभ्यस्तयाच्ञाक्रमत्वात् परान् याचितुं परिचितानपि न प्रसेहे । एवं दुष्करं याचितुमिति च तस्य भूयसी याचनकेष्वनुकम्पा बभूव ।। अथ स महात्मा याचनकजनस्वागतादिक्रियावेक्षया स्वयमेव तद्रज्जुकुण्डलकं दात्रं च प्रतिगृह्य प्रत्यहं तृणविक्रयोपलब्धया विभवमात्रयार्थिजनप्रणयसम्माननां चकार ।। अथ शक्रो देवेन्द्रस्तस्येमामविषादितां परमेऽपि दारिद्रचे प्रदानाभिमुखतां चावेक्ष्य सविस्मयबहुमानः संदृश्यमानदिव्याद्भुतवपुरन्तरिक्षे स्थित्वा दानाद्विच्छन्दयंस्तं महासत्त्वमुवाच । गृहपते ।

सुहृन्मनस्तापकरीमवस्थामिमामुपेतस्त्वमतिप्रदानैः ।
न दस्युभिर्नैव जलानलाभ्यां न राजभिः संह्रियमाणवित्तः ।। ८ ।।

तत्त्वां हितावेक्षितया ब्रवीमि नियच्छ दाने व्यसनानुरागम् ।
इत्थंगतः सन्नपि चेन्न दद्या यायाः पुनः पूर्वसमृद्धिशोभाम् ।। ९ ।।

आजीविका उपार्जन करनेवाले किसी ऐसे व्यक्तिने, जिसे भिक्षा माँगनेका अभ्यास नही है, मेरे घरपर इस प्रकार प्रेम प्रकट किया है तो मेरे धनका सदुपयोग ही हुआ है। या यदि मेरे भाग्यके दोषसे मेरी उन्नतिको न सह सकनेवाले किसीने मेरे धनका उपयोग किये बिना ही लोप कर दिया है तो यह दुःखकी बात है।"

"धनकी मित्रता स्थिर नही होती है, यह बात मुझे पहले ही मालूम थी। किंतु याचकोंको होनेवाले दुःखसे मेरा मन जल रहा है। ॥ ६ ॥

जिन्होंने चिरकाल तक दान और सत्कारके सुखका अनुभव किया है वे मेरे याचक धनसे रहित मेरे घरपर पहुँचकर, जैसे प्यासे प्राणी सूखे सरोवर पर आकर, किम अवस्थाको प्राप्त होंगे ?" ॥ ७ ॥

अविचल धैर्यके कारण बोधिसत्त्व उदास नहीं हुए। भिक्षा माँगनेका अभ्यास न होनेके कारण वे उस अवस्थामें भी दूसरोंसे, अपने परिचितोसे भी, भीख न माँग सके। भिक्षा माँगना कितना दुष्कर है, यह जानकर याचकोंके प्रति उनकी करुणा और भी बढ़ गई। तब याचकोंका स्वागत आदि करनेके ख्यालसे वह महात्मा स्वयं ही उस रस्सी और हँसियेको लेकर प्रतिदिन घास काटते थे और उसको बेचकर जो कुछ धन मिलता था उससे भिक्षुओंका स्वागत-सत्कार करते थे। घोर दारिद्रचमें भी वे उदास नही है, दान देनेमें प्रवृत्त है, यह देखकर देवेन्द्र शक्रको आश्चर्य और आदर-भाव हुआ। तव अपना दिव्य अद्भुत रूप प्रकट करते हुए अन्तरिक्षमें खड़े होकर उन्होंने उस महापुरुषको दान देनेसे रोकते हुए कहा—"हे गृहपति,

अपने मित्रोके मनको भी संतापित करनेवाली इस अवस्थामें जो आप पहुँचे है सो अत्यन्त दान देने से ही। जल अग्नि राजाओं या डाकुओंने आपके धनका अपहरण नहीं किया है। ॥ ८ ॥

इसलिए आपकी भलाईके ख्यालसे कहता हूँ कि आप दानकी इस आसक्तिको रोकें। इस अवस्थामें भी यदि दान देना छोड़ दें तो आप पुनः पूर्वकालकी समृद्धि प्राप्त कर सकते है। ॥ ९ ॥

शश्वत् कृशेनापि परिव्ययेण कालेन दृष्ट्वा क्षयमर्जनानाम् ।
चयेन वल्मीकसमुच्छ्रयांश्च वृद्ध्यर्थिनः संयम एव पन्थाः ॥१०॥

अथ बोधिसत्त्वः प्रदानाभ्यासमाहात्म्यं विदर्शयञ्छक्रमुवाच ।

अनार्यमार्येण सहस्रनेत्र सुदुष्करं सुष्ठ्वपि दुर्गतेन ।
मा चैव तद्भून्मम शक्र वित्तं यत्प्राप्तिहेतोः कृपणाशयः स्याम् ॥११॥

इच्छन्ति याच्ञामरणेन गन्तुं दुःखस्य यस्य प्रतिकारमार्गम् ।
तेनातुरान् कः कुलपुत्रमानी नास्तीति शुष्काशनिनाभिहन्यात् ॥१२॥

तन्मद्विधः किं स्विदुपाददीत रत्नं धनं वा दिवि वापि राज्यम् ।
याच्ञाभितापेन विवर्णितानि प्रसादयेन्नार्थिमुखानि येन ॥१३॥

मात्सर्यदोषोपचयाय यः स्यान्न त्यागचित्तं परिबृंहयेद्वा ।
स त्यागमेवार्हति मद्विधेभ्यः परिग्रहच्छद्ममयो विघातः ॥१४॥

विद्युल्लतानृत्तचले धने च साधारणे नैकविघातहेतौ ।
दाने निदाने च सुखोदयानां मात्सर्यमार्यः क इवाश्रयेत ॥१५॥

तद्दर्शिता शक्र मयि स्वतेयं हिताभिधानादनुकम्पितोऽस्मि ।
स्वभ्यस्तहर्षं तु मनः प्रदानैस्तदुत्पथे केन धृतिं लभेत ॥१६॥

न चात्र मन्योरनुवृत्तिमार्गे चित्तं भवानर्हति संनियोक्तुम् ।
न हि स्वभावस्य विपक्षदुर्गमारोढुमल्पेन बलेन शक्यम् ॥१७॥

शक्र उवाच । गृहपते । पर्याप्तविभवस्य परिपूर्णकोशकोष्ठागारस्य सम्यक्प्रवृत्तविविधविपुलकर्मान्तस्य विरूढायतेर्लोके वशीकृतैश्वर्यस्यायं क्रमो नेमां दशामभिप्रपन्नस्य । पश्य ।

थोड़ा-थोड़ा करके भी निरंतर खर्च करनेसे उपार्जित धन-राशि भी समय पाकर क्षीण हो जाती है और संचय करनेसे बड़े-बड़े वल्मीक-स्तूप बन जाते है, यह देखकर वृद्धि चाहनेवालेके लिए सयम का ही रास्ता (उचित) है"। ॥ १० ॥

तब दान देनेका माहात्म्य बतलाते हुए बोधिसत्त्वने शक्रसे कहा—

"अत्यन्त कष्टमे भी पड़कर, हे सहस्रनेत्र, आर्यपुरुषके लिए अनार्य-कर्म करना कठिन है। इसलिए, हे शक्र, मुझे वह धन न हो, जिसकी प्राप्तिके लिए मुझे कृपण होना पड़े। ॥ ११ ॥

याचनारूपी मरणसे जिस दुःखका अन्त करना चाहते हैं उस दुःखमे पीड़ित व्यक्तियोंको कौन स्वाभिमानी कुल-पुत्र 'नही है' इस अनभ्र वज्र-पात से मारेगा? ॥ १२ ॥

तब मुझ-जैसा आदमी उस धन, रत्न या स्वर्गके भी राज्यको क्यों लेगा, जिसको लेकर याचनाके सतापसे उदासमुख याचकोंको प्रसन्न न कर सके?॥१३॥

जो कृपणताको बढ़ाये, उदारताको नही, उस परिग्रहरूपी विपत्तिको मुझ-जैसोंके लिए छोड़ना ही उचित है। ॥ १४ ॥

धन बिजलीकी चमकके समान चञ्चल है, सर्वसाधारण है और नाना विपत्तियोंका घर है। किंतु दान सुख होनेका कारण है। तब कौन आर्य कृपणताका आश्रय ले? ॥ १५ ॥

हे शक्र, आपने मेरे प्रति यह अपनापन (ममत्व) दिखलाया और भलाईकी बात कहकर मेरे ऊपर अनुकम्पा की। किंतु मेरा मन तो दान देनेमें ही आनन्दित होता रहा है। अब यह कुमार्गपर कैसे स्थिर हो सकता है? ॥ १६ ॥

इस कारण आप क्रोधकी ओर अपने चित्तको न प्रेरित करें, क्योंकि अल्प शक्तिसे मेरे स्वभावके विपक्ष दुर्गपर आक्रमण करना शक्य नही।" ॥१७॥

शक्रने कहा—"हे गृहपति, जिसको बहुत धन है, जिसके कोश और और अन्न-भण्डार भरे हुए है, जिसके तरह तरहके बड़े बड़े काम अच्छी तरह चल रहे हैं, जिसका भविष्य निश्चित है, जिसने ऐश्वर्यको वशमें कर लिया है उसके लिए (दान देनेका) यह क्रम उचित है, न कि इस दशामें पड़े हुए आपके लिए।

स्वबुद्धिविस्पन्दसमाहितेन वा यशोऽनुकूलेन कुलोचितेन वा।
समृद्धिमाकृष्य शुभेन कर्मणा सपत्नतेजांस्यभिभूय भानुवत् ॥१८॥

जने प्रसङ्गेन वितत्य सद्गतिं प्रबोध्य हर्षं ससुहृत्सु बन्धुषु।
अवाप्तसंमानविधिर्नृपादपि श्रिया परिष्वक्त इवाभिकामया ॥१९॥

अथ प्रदाने प्रविजृम्भितक्रमः सुखेषु वा नैति जनस्य वाच्यताम्।
अजातपक्षः खमिवारुरुक्षया विघातभाक्केवलया तु दित्सया ॥२०॥

यतो धनं संयमनैभृताश्रयादुपार्ज्यतां तावदलं प्रदित्सया।
अनार्यताप्यत्र च नाम का भवेन्न यत्प्रदद्या विभवेष्वभाविषु ॥२१॥

बोधिसत्त्व उवाच। अलमतिनिर्बन्धेनात्रभवतः।

आत्मार्थः स्याद्यस्य गरीयान् परकार्या-
त्तेनापि स्याद्देयमनादृत्य समृद्धिम्।
नैति प्रीतिं तां हि महत्यापि विभूत्या
दानैस्तुष्टिं लोभजयाद्यामुपभुङ्क्ते ॥२२॥

नैति स्वर्गं केवलया यच्च समृद्ध्या
दानेनैव ख्यातिमवाप्नोति च पुण्याम्।
मात्सर्यादीन्नाभिभवत्येव च दोषां-
स्तस्या हेतोर्दानमतः को न भजेत ॥२३॥

त्रातुं लोकान्यस्तु जरामृत्युपरीता-
नप्यात्मानं दित्सति कारुण्यवशेन।
यो नास्वादं वेत्ति सुखानां परदुःखैः
कस्तस्यार्थस्त्वद्गतया स्यादपि लक्ष्म्या ॥२४॥

देखिये—

मनुष्य अपने बुद्धि-बलसे यशके अनकूल या कुलोचित (परपरागत) किसी अच्छे कामको करके समृद्धिशाली बने और सूर्यके समान विपक्षी तेजस्वियोंको पराजित करे। ॥ १८ ॥

तब समय समयपर दान देकर लोगोंको सुखी करे और अपने मित्रों और बन्धुओंको भी आनन्दित करे। राजा भी उसका सम्मान करे और अभीष्ट लक्ष्मी उसका आलिङ्गन करे। ॥ १९ ॥

तब यदि वह दान-कर्म या सुखोपभोग में अपना पाँव फैलाये तो लोग उसकी निन्दा न करेंगे। किंतु पख उत्पन्न होनेसे पहले ही उड़नेकी इच्छा करनेवाले (पक्षि-शावक) के समान दान देनेकी इच्छा करनेवाला (निर्धन मनुष्य) विपत्तिमें ही पड़ेगा। ॥ २० ॥

इसलिए संयमके सहारे धनोपार्जन कीजिये और अभी दान देनेकी इच्छा छोड़िये। यदि धनके अभावमें आप दान न दें तो इसमे आपकी क्या अनार्यता होगी?" ॥ २१ ॥

बोधिसत्त्वने कहा—"इस विषयमे आप बहुत हठ न करें।

जिसके लिए पर-कार्यसे स्वकार्य ही महत्त्वपूर्ण है उसके लिए भी समृद्धिकी उपेक्षा करके दान देना ही उचित है; क्योंकि विपुल सम्पत्तिसे भी उसे वह आनन्द नही प्राप्त होता है जो कि लोभको जीतकर दान देनेसे होता है। ॥ २२ ॥

और, केवल समृद्धिसे न स्वर्ग मिलता है, न मात्सर्य (=द्वेष, कृपणता) आदि दोष नष्ट होते है। दानसे ही पवित्र यश प्राप्त होता है। अतः इसके लिए कौन दान न देगा? ॥ २३ ॥

जो जरा-मरण (के दुःख) से घिरे हुए प्राणियोंकी रक्षा करनेके लिए अपनेको भी उत्सर्ग कर देना चाहता है, जो दूसरोंको दुःख देकर (या दूसरोंके दुःखी रहते) सुखोपभोग करना नहीं जानता, उसको आपकी लक्ष्मीसे भी क्या प्रयोजन? ॥ २४ ॥

अपि च देवेन्द्र ।

संपत्तिरिव वित्तानामध्रुवा स्थितिरायुषः ।
इति याचनकं लब्ध्वा न समृद्धिरवेक्ष्यते ॥२५॥

एको रथश्च भुवि यद्विदधाति वर्त्म
तेनापरो व्रजति धृष्टतरं तथान्यः ।
कल्याणमाद्यमिममित्यवधूय मार्गं
नासत्पथप्रणयने रमते मनो मे ॥२६॥

अर्थश्च विस्तरमुपैष्यति चेत्पुनर्मे
हर्ता मनांसि नियमेन स याचकानाम् ।
एवंगतेऽपि च यथाविभवं प्रदास्ये
मा चैव दाननियमे प्रमदिष्म शक्र ॥२७॥

इत्युक्ते शक्रो देवेन्द्रः समभिप्रसादितमनाः साधु साध्वित्येनमभिसंराध्य सबहुमानस्निग्धमवेक्षमाण उवाच ।

यशःसपत्नैरपि कर्मभिर्जनः समृद्धिमन्विच्छति नीचदारुणैः ।
स्वसौख्यसङ्गादनवेक्षितात्ययः प्रतार्यमाणश्चपलेन चेतसा ॥२८॥

अचिन्तयित्वा तु धनक्षयं त्वया स्वसौख्यहानिं मम च प्रतारणाम् ।
परार्थसंपादनधीरचेतसा महत्त्वमुद्भावितमात्मसंपदः ॥२९॥

अहो बतौदार्यविशेषभास्वतः प्रमृष्टमात्सर्यतमिस्रता हृदः ।
प्रदानसंकोचविरूपतां गतं धने प्रनष्टेऽपि न यत्तदाशया ॥३०॥

न चात्र चित्रं परदुःखदुःखिनः कृपावशाल्लोकहितैषिणस्तव ।
हिमावदातः शिखरीव वायुना न यत्प्रदानादसि कम्पितो मया ॥३१॥

हे देवेन्द्र, और भी।

धन-सम्पत्तिके समान यह जीवन चञ्चल है। इसलिए याचकको पाकर समृद्धिका खयाल नही करना चाहिए। ॥ २५ ॥

पृथ्वीपर पहला रथ जिस रास्तेको बनाता है, उसीमे दूसरा रथ जाता है और तीसरा तो और भी निर्भय होकर। अतः इस कल्याण-कारी आदि-मार्गको छोड़कर कु-मार्गका निर्माण करना (या कुमार्गसे चलना) मुझे पसन्द नही। ॥ २६ ॥

यदि मेरा धन पुनः बढ़ जायगा तो वह निश्चय ही याचकोके चित्तको अपनी ओर आकृष्ट करेगा। इस अवस्थामें भी मै अपनी सम्पत्तिके अनुसार दान दूंगा। हे शक्र, मै दान देनेके नियम में प्रमाद न करूँ।" ॥२७॥

इतना कहनेपर देवेन्द्र शक्रने प्रसन्नचित्तमे उनकी प्रशसा की तथा आदर और स्नेह की दृष्टिसे उन्हे देखते हुए कहा--

"अपने सुखकी आसक्तिके कारण अनर्थकी अवहेलना कर तथा अपने चपल चित्तके बहकावेमें आकर लोग यशके विरोधी नीच और दारुण कर्मों द्वारा भी समृद्धि की इच्छा करते है। ॥ २८ ॥

किंतु आपने धन-विनाश, अपने सुखकी हानि और मेरी प्रतारणा (=प्रवञ्चना, बहकावे) की चिन्ता छोड़कर, परोपकार के दृढ़ सङ्कल्प द्वारा अपनी सम्पत्तिका महत्त्व प्रकट किया है। ॥ २९ ॥

अहो! आपके हृदयका मात्सर्यरूपी अन्धकार धुल गया है और वह उदारता (के प्रकाश) से अत्यन्त प्रकाशित हो रहा है। इसीलिए तो धन नष्ट होने पर भी धनकी आशासे वह कृपणतासे मलिन नही हुआ। ॥ ३० ॥

जैसे हवा हिम-धवल पर्वतको नही कंपा सकती, वैसे ही मै आपको दानसे विचलित न कर सका। इसमें कुछ आश्चर्य नही। क्योंकि आप दूसरोंके दुःखसे दुःखी होते है, करुणाके वशीभूत होकर संसारकी हित-कामना करते है। ॥ ३१ ॥

यशः समुद्भावयितुं परीक्षया धनं तवेदं तु निगूढवानहम् ।
मणिर्हि शोभानुगतोऽप्यतोऽन्यथा न संस्पृशेद्रत्नयशोमहार्घताम् ॥३२॥

यतः प्रदानैरभिवर्ष याचकान् ह्रदान् महामेघ इवाभिपूरयन् ।
धनक्षयं नाप्स्यसि मत्परिग्रहादिदं क्षमेथाश्च विचेष्टितं मम ॥३३॥

इत्येनमभिसंराध्य शक्रस्तच्चास्य विभवसारमुपसंहृत्य क्षमयित्वा च तत्रैवान्तर्दधे ॥

तदेवं न विभवक्षयावेक्षया समृद्ध्याशया वा प्रदानवैधुर्यमुपयान्ति सत्पुरुषा इति ॥

इत्यविषह्य-श्रेष्ठि-जातकं पञ्चमम् ।

---

६ शशजातकम्

तिर्यग्गतानामपि सतां महात्मनां शक्त्यनुरूपा दानप्रवृत्तिर्दृष्टा । केन नाम मनुष्यभूतेन न दातव्यं स्यात् ॥ तद्यथानुश्रूयते ।

कस्मिंश्चिदरण्यायतनप्रदेशे मनोज्ञवीरुत्तृणतरुगहननिचिते पुष्पफलवति वैडूर्यनीलशुचिवाहिन्या सरिता विभूषितपर्यन्ते मृदुशाद्वलास्तरणसुखसंस्पर्शदर्शनीयधरणीतले तपस्विजनविचरिते बोधिसत्त्वः शशो बभूव ।

स सत्त्वयोगाद्वपुषश्च संपदा बलप्रकर्षाद्विपुलेन चौजसा ।
अतर्कितः क्षुद्रमृगैरशङ्कितश्चचार तस्मिन्मृगराजलीलया ॥ १ ॥

स्वचर्माजिनसंवीतः स्वतनूरुहवल्कलः ।
मुनिवत्तत्र शुशुभे तुष्टचित्तस्तृणाङ्कुरैः ॥ २ ॥

परीक्षा द्वारा आपका यश फैलानेके लिए ही मैंने आपके इस धनको छिपाया है; क्योंकि मणि सुन्दर होने पर भी, परीक्षाके विना, रत्नकी ख्याति और मूल्य नही प्राप्त कर सकता। ॥ ३२ ॥

सरोवरोंको (जलसे) भरते हुए महामेघके समान याचकोंपर दानकी वृष्टि कीजिये। मेरी कृपासे आपका धन कभी क्षीण न होगा। आप मेरे इस आचरणको क्षमा करें।" ॥ ३३ ॥

इस प्रकार उनकी प्रशंसा कर शक्र उनकी उस धनसम्पत्तिको ले आये और उनसे क्षमा कराकर वही अन्तर्धान हो गये।

इस प्रकार धन क्षीण होनेकी आशङ्कासे या समृद्धिकी आशासे सत्पुरुप दानसे विरत नही होते।

अविपह्य-श्रेष्ठि-जातक पञ्चम समाप्त।

---

६ शश-जातक [दान even by a hare]

पशु-पक्षियोंकी भी योनिमें पड़कर सज्जन, महात्मा अपनी शक्तिके अनुरूप दान देते हुए देखे जाते हैं। फिर मनुष्य होकर कौन दान नही देगा? तब जैसी कि अनुश्रुति है।

किसी जंगलके पवित्र स्थानमें—जो मनोहर तृण-लता-तरुओंके झुरमुटों-से भरा है, जो फूलों और फलोंसे युक्त है, वैदूर्यके समान नीले और निर्मल जलकी धारासे जिसका सीमान्त विभूषित है, कोमल तृणोंकी शय्यासे जिसका धरातल स्पर्श-सुखद और दर्शनीय है, जहाँ तपस्वि-जन विचरण करते हैं—बोधिसत्त्व खरगोश (की योनिमें पैदा) हुए।

उसके सत्त्वगुण, रूप-सम्पत्ति, अद्भुत शक्ति और विपुल ओजके कारण क्षुद्र पशुओंने उसपर संदेह नही किया और वह निर्भय होकर उस जंगल में सिंहके समान घूमते थे। ॥ १ ॥

अपने चर्मरूपी मृगछाले और अपने रोमरूपी वल्कलसे आच्छादित होकर, तृणोंके अङ्कुरों (के आहार) से संतुष्ट रहते हुए वह वहाँ मुनिके समान शोभित हुए। ॥ २ ॥

सु॰ | तस्य मैत्र्यवदातेन मनोवाक्कायकर्मणा ।
आसुर्जृम्भितदौरात्म्याः प्रायः शिष्यमुखा[1] मृगाः ॥ ३ ॥

तस्य गुणातिशयसंभृतेन स्नेहगौरवेण विशेषवत्तरमवबद्धहृदयास्तु ये सहाया बभूवुरुद्रः शृगालो वानरश्च । ते परस्परसंबन्धनिबद्धस्नेहा इव बान्धवा अन्योन्यप्रणयसंमाननविरूढसौहार्दा इव च सुहृदः संमोदमानास्तत्र विहरन्ति स्म । तिर्यक्स्वभावविमुखाश्च प्राणिषु दयानुवृत्त्या लौल्यप्रशमाद्विस्मृतस्तेयप्रवृत्त्या धर्माविरोधिन्या च यशोऽनुवृत्त्या पटुविज्ञानत्वाद्विनियमधीरया च सज्जनेष्टया चेष्टया देवतानामपि विस्मयनीया बभूवुः ।

सुखानुलोमे गुणबाधिनि क्रमे गुणानुकूले च सुखोपरोधिनि ।
नरोऽपि तावद्गुणपक्षसंश्रयाद्विराजते किम्वथ तिर्यगाकृतिः ॥ ४ ॥

अभूत्स तेषां तु शशाकृतिः कृती परानुकम्पाप्रतिपद्गुरुर्गुरुः ।
स्वभावसंपच्च गुणक्रमानुगा यशो यदेषां सुरलोकमप्यगात् ॥ ५ ॥

अथ कदाचित् स महात्मा सायाह्नसमये धर्मश्रवणार्थमभिगतैः सबहुमानमुपास्यमानस्तैः सहायैः परिपूर्णप्रायमण्डलमादित्यविप्रकर्षाद्व्यवदायमानशोभं रूप्यदर्पणमिव त्सरुविरहितमीषत्पार्श्वापवृत्तबिम्बं शुक्लपक्षचतुर्दशीचन्द्रमसमुदितमभिसमीक्ष्य सहायानुवाच ।

असावापूर्णशोभेन मण्डलेन हसन्निव ।
निवेदयति साधूनां चन्द्रमाः पोषधोत्सवम् ॥ ६ ॥

तद्व्यक्तं श्वः पञ्चदशी । यतो भवद्भिः पोषधनियममभिसंपादयद्भिर्न्यायोपलब्धेनाहारविशेषेण कालोपनतमतिथिजनं प्रतिपूज्य प्राणसंधारणमनुष्ठेयम् । पश्यन्तु भवन्तः ।

---

[1] पा० 'शिष्यसखा' ।

उसके मैत्रीपूर्ण उज्ज्वल मानसिक, वाचिक और कायिक [illegible] पुण्यात्मा पशु भी प्रायः उसके मित्र और शिष्य हो गये। ॥ ३ ॥

उसके सद्गुणोंके कारण उत्पन्न स्नेहातिरेकसे जिनके हृदय विशेष रूपसे उसमें बंध गये, वे थे एक ऊदबिलाव (ऊध), एक सियाल और एक वानर। उसके ये (तीनो) साथी, उन बन्धुओं के ममान, जिनका स्नेह आपसके (मधुर) सम्बन्ध मे दृढ़ हो और उन मित्रोके समान जिनकी मित्रता एक-दूसरेकी इच्छाओका आदर करनेसे बद्धमूल हो, वहाँ आनन्द-पूर्वक विहार करते थे। पशु-पक्षियोके स्वभावसे विमुख होकर वे प्राणियों पर दया करते थे, चपलताको छोड़कर चोरीको भूल गये थे, धर्मानुसार कीर्ति उपार्जन करते थे, बुद्धिमान् होनेके कारण धैर्यपूर्वक[1] नियमोंका पालन करते थे, इस प्रकार सज्जनोके अभीष्ट आचरणसे उन्होंने देवताओको भी चकित कर दिया।

सुखका मार्ग धर्मका बाधक है और धर्मका मार्ग सुखका बाधक है। धर्मका पक्ष ग्रहण करनेपर मनुष्य भी शोभित होता है, फिर पशु-पक्षीका क्या कहना? ॥४॥

खरहेकी आकृति धारण कर दूसरोंपर अनुकम्पा करनेवाला वह पुण्यात्मा उनका गुरु था। धर्म-मार्गपर चलनेका उनका स्वभाव हो गया। उनकी कीर्ति देव-लोक तक पहुँच गई। ॥ ५ ॥

एक बार सायङ्कालमें धर्मोपदेश सुननेके लिए आये हुए वे साथी जब उस महात्माकी उपासना कर रहे थे तो उसने शुक्लपक्षकी चतुर्दशीके चन्द्रमा को उगा हुआ देखा, जिसका मण्डल प्रायः पूरा हो गया था, जो सूर्यसे दूर होनेके कारण चमक रहा था, जो मूठ-रहित चाँदीके दर्पणके समान दिखाई पड़ता था और जिसका पार्श्व भाग कुछ कुछ क्षीण था। उस चन्द्रमाको देखकर उसने अपने साथियोंसे कहा—

"अपने प्रायः परिपूर्ण मण्डलकी शोभासे हँसता हुआ वह चन्द्रमा मानो साधुओंको पोषध-व्रतकी सूचना दे रहा है। ॥ ६ ॥

स्पष्ट है कि कल पूर्णिमा होगी। अतः आपलोग पोषध-व्रतके नियमोंका पालन करते हुए न्यायपूर्वक प्राप्त उत्तम आहारसे समयपर पहुँचे हुए अतिथि का सत्कार कर (प्राण-रक्षाके लिए) भोजन कीजियेगा। देखिये—

यत्संप्रयोगा विरहावसानाः समुच्छ्रयाः पातविरूपनिष्ठाः ।
विद्युल्लताभङ्गुरलोलमायुस्तेनैव कार्यो दृढमप्रमादः ॥ ७ ॥

दानेन शीलाभरणेन तस्मात् पुण्यानि संवर्धयितुं यतध्वम् ।
विवर्तमानस्य हि जन्मदुर्गे लोकस्य पुण्यानि परा प्रतिष्ठा ॥ ८ ॥

तारागणानामभिभूय लक्ष्मीं विभाति यत्कान्तिगुणेन सोमः ।
ज्योतींषि चाक्रम्य सहस्ररश्मिर्यद्दीप्यते पुण्यगुणोच्छ्रयः सः ॥ ९ ॥

दृप्तस्वभावाः सचिवा नृपाश्च पुण्यप्रभावात् पृथिवीश्वराणाम् ।
सदश्ववृत्त्या हतसर्वगर्वाः प्रीता इवाज्ञाधुरमुद्वहन्ति ॥१०॥

पुण्यैर्विहीनाननुयात्यलक्ष्मीर्विस्पन्दमानानपि नीतिमार्गे ।
पुण्याधिकैः सा ह्यवभर्त्स्यमाना पर्येत्यमर्षादिव तद्विपक्षान् ॥११॥

दुःखप्रतिष्ठादयशोऽनुबद्धादपुण्यमार्गादुपरम्य तस्मात् ।
श्रीमत्सु सौख्योदयसाधनेषु पुण्यप्रसङ्गेषु मतिं कुरुध्वम् ॥१२॥

ते तथेत्यस्यानुशासनां प्रतिगृह्याभिवाद्य प्रदक्षिणीकृत्य चैनं स्वान्स्वानालयानभिजग्मुः। अचिरगतेषु च तेषु सहायेषु स महात्मा चिन्तामापेदे ।

अतिथेरभ्युपेतस्य संमानं येन तेन वा।
विधातुं शक्तिरस्त्येषामत्र शोच्योऽहमेव तु ॥१३॥

अस्मद्दन्ताग्रविच्छिन्नाः परितिक्तास्तृणाङ्कुराः ।
शक्या नातिथये दातुं सर्वथा धिगशक्तताम् ॥१४॥

इत्यसामर्थ्यदीनेन को न्वर्थो जीवितेन मे ।
आनन्दः शोकतां यायाद्यस्यैवमतिथिर्मम ॥१५॥

संयोगका अन्त वियोग है। उन्नतिका अन्त पतन है। आयु बिजलीकी चमक के समान क्षण-भङ्गुर है। अतः खूब सावधान रहिये। ॥ ७ ॥

दान और साथ ही शील के द्वारा पुण्य बढ़ानेकी कोशिश कीजिये। क्योंकि भव-चक्रमे भटकते हुए जगत्के लिए पुण्य बहुत बड़ा सहारा है। ॥८॥

ताराओंकी कान्तिको मानकर चन्द्रमा जो चमकता है और ग्रहोंको निष्प्रभ कर सूर्य जो प्रज्वलित होता है, यह पुण्यका ही फल है। ॥ ९ ॥

अभिमानी राजा और मत्री अभिमान छोड़कर पृथिवी-पति सम्राटोंकी आज्ञारूपी धुरेको प्रसन्नतापूर्वक अच्छे घोड़ोकी तरह जो ढोते ह, यह उन (सम्राटों) के पुण्यका ही प्रभाव है। ॥ १० ॥

नीति-मार्गपर भी डगमगाते हुए पुण्य-हीनोंके पीछे अलक्ष्मी जाती है। (पुण्यवानोंके) पुण्योंकी अधिकतामे तिरस्कृत होकर वह (अलक्ष्मी) क्रोधसे उन पुण्य-हीनोंको घेरती है। ॥ ११ ॥

इसलिए दुःख और अपकीर्तिके निवास-स्थान अपुण्य-मार्गमे विरत होकर सुखके सुन्दर साधन पुण्यमे अपना मन लगाइये।" ॥ १२ ॥

'बहुत अच्छा' कह उसका आदेश ग्रहण कर तथा उसका अभिवादन और प्रदक्षिणा कर वे अपने-अपने घर चले गये। उन साथियोंके जाते ही उस महात्माने सोचा—

"आये हुए अतिथिका जैसे-तैसे सत्कार करनेकी शक्ति इनमें है, किंतु इसमें शोचनीय मैं हूँ। ॥ १३ ॥

मेरे दाँतोंके अग्रभागसे काटे गये तीते तृणोके अङ्कुर अतिथिको नहीं दिये जा सकते। इस शक्तिहीनताको सर्वथा धिक्कार है। ॥ १४ ॥

इस असमर्थ दीन-हीन जीवनसे मुझे क्या प्रयोजन, जबकि अतिथिके आनेपर मेरा आनन्द इस प्रकार शोकमें परिणत हो जाय? ॥ १५ ॥

तत्कुत्रेदानीमिदमतिथिपरिचर्यावैगुण्ये निःसारं शरीरकमुत्सृज्यमानं कस्यचिदुपयोगाय स्यादिति विमृशन्स महात्मा स्मृतिं प्रतिलेभे। अये।

स्वाधीनसुलभमेतन्निरवद्यं विद्यते ममैव खलु।
अतिथिजनप्रतिपूजनसमर्थरूपं शरीरधनम् ॥१६॥

तात्किमहं विषीदामि।

समधिगतमिदं मयातिथेयं हृदय विमुञ्च यतो विषाददैन्यम्।
समुपनतमनेन सत्करिष्याम्यहमतिथिप्रणयं शरीरकेण ॥१७॥

इति विनिश्चित्य स महासत्त्वः परममिव लाभमधिगम्य परमप्रीतमनास्तत्रावतस्थे।

वितर्कातिशये तस्य हृदये प्रविजृम्भिते।
आविश्चक्रे प्रसादश्च प्रभावश्च दिवौकसाम् ॥१८॥

ततः प्रहर्षादिव साचला चला मही बभूव[1] निभृतार्णवांशुका।
वितस्तनुः खे सुरदुन्दुभिस्वना दिशः प्रसादाभरणाश्चकाशिरे ॥१९॥
प्रसक्तमन्दस्तनिताः प्रहासिनस्तडित्पिनद्धाश्च घनाः समन्ततः।
परस्पराश्लेषविकीर्णरेणुभिः प्रसक्तमेनं कुसुमैरवाकिरन् ॥२०॥
समुद्वहन्धीरगतिः समीरणः सुगन्धि नानाद्रुमपुष्पजं रजः।
मुदा प्रविद्धैरविभक्तभक्तिभिस्तमर्चयामास कृशांशुकैरिव ॥२१॥

तदुपलभ्य प्रमुदितविस्मितमनोभिर्देवताभिः समन्ततः परिकीर्त्यमानं तस्य वितर्काद्भुतं शक्रो देवेन्द्रः समापूर्यमाणविस्मयकौतूहलेन मनसा तस्य महासत्त्वस्य भावजिज्ञासया द्वितीयेऽहनि गगनतलमध्यमभिलङ्घमाने पटुतरकिरणप्रभावे सवितरि प्रस्फुलितमरीचिजालवसनासु भास्वरातपविसरावगुण्ठितास्वनालोकनक्षमासु दिक्षु संक्षिप्यमाण-

---

१ पा० 'बभूवानिभृतार्णवांशुका'।

अतिथि-सत्कारमें असमर्थ (व्यर्थ) इस असार क्षुद्र-शरीरको अब कहाँ छोड़ूँ कि किसीके उपयोगमें आये?" इस प्रकार सोचते हुए उस महात्माको होश हुआ—"अहो,

अतिथि-सत्कारमें समर्थ है यह शरीररूपी धन, यह मेरे अधीन, (सदा) सुलभ और निर्दोष है, यह केवल मुझे ही है। ॥ १६ ॥

तो मैं क्यों विषाद करूँ?

मैंने अतिथि-सत्कारका यह सुन्दर साधन पाया। हे हृदय, तू विषाद और दीनताको छोड़। इस क्षुद्र शरीरसे मैं आये हुए अतिथिका सत्कार करूँगा।" ॥ १७ ॥

ऐसा निश्चय कर उस महासत्त्वको अत्यन्त आनन्द हुआ, मानो उसने परम लाभ पाया हो।

इस उत्तम विचारसे उसका हृदय विकसित होनेपर, देवताओंने अपना आनन्द और प्रभाव प्रकट किया। ॥ १८ ॥

तब मानो आनन्दमें आकर समुद्रवसना[१] पृथ्वी पर्वतोंसहित काँप उठी। आकाशमें देव-दुन्दुभियाँ बजीं। दिशाएँ स्वच्छ होकर चमकी। ॥ १९ ॥

देरतक मन्द मन्द गर्जते हुए, बिजलीकी चमकसे हँसते हुए बादलोंने उसके ऊपर फूल बरसाये और आपसकी रगड़से उन फूलोंका पराग चारों ओर फैल गया। ॥ २० ॥

नाना वृक्षोंके फूलोंका सुगन्धित पराग लेकर हवा धीरे-धीरे बही, उसने मानो आनन्दमें आकर बारीक रेशमी कपड़ेके चँदोवे फैलाकर उस महात्माकी पूजा की। ॥ २१ ॥

देवताओंने आनन्दित और विस्मित होकर चारों ओर उसके अद्भुत विचारका कीर्तन किया। यह समाचार पाकर देवेन्द्र शक्रका हृदय विस्मय और कौतूहलसे भर गया। उस महासत्त्व का भीतरी भाव जाननेकी इच्छासे दूसरे दिन जब कि आकाशके मध्यभागको लाँघता हुआ सूर्य अपनी तीक्ष्ण प्रभाको फैला रहा था, जब कि काँपती किरणोंकी साडी पहने व उज्ज्वल आतपका घूँघट काढ़े दिशायें दुर्निरीक्ष्य हो रही थी, जब कि

च्छायेष्वभिवृद्धचीरीविरावोन्नादितेषु वनान्तरेषु विच्छिद्यमानपक्षिसंपातेषु घर्मक्लमापीतोत्साहेष्वध्वगेषु शक्रो देवानामधिपतिर्ब्राह्मणरूपो भूत्वा मार्गप्रनष्ट इव क्षुत्तर्षश्रमविषाददीनकण्ठः सस्वरं प्ररुदन्नातिदूरे तेषां विचुक्रोश ।

एकं सार्थात्परिभ्रष्टं भ्रमन्तं गहने वने ।
क्षुच्छ्रमक्लान्तदेहं मां त्रातुमर्हन्ति साधवः ॥२२॥

मार्गामार्गज्ञाननिश्चेतनं मां दिक्संमोहात्क्वापि गच्छन्तमेकम् ।
कान्तारेऽस्मिन्घर्मतर्षक्लमार्तं माभैः शब्दैः को नु मां ह्लादयेत ॥२३॥

अथ ते महासत्त्वास्तस्य तेन करुणेनाक्रन्दितशब्देन समाकम्पितहृदयाः ससंभ्रमा द्रुततरगतयस्तं देशमभिजग्मुः । मार्गप्रनष्टाध्वगदीनदर्शनं चैनमभिसमीक्ष्य समभिगम्योपचारपुरःसरं समाश्वासयन्त ऊचुः ।

कान्तारे विप्रनष्टोऽहमित्यलं विभ्रमेण ते ।
स्वस्य शिष्यगणस्येव समीपे वर्तसे हि नः ॥२४॥

तदद्य तावदस्माकं परिचर्यापरिग्रहात् ।
विधायानुग्रहं सौम्य श्वो गन्तासि यथेप्सितम् ॥२५॥

अथोद्रस्तस्य तूष्णींभावादनुमतमुपनिमन्त्रणमवेत्य हर्षसंभ्रमत्वरितगतिः सप्त रोहितमत्स्यान्समुपनीयावोचदेनम् ।

मीनारिभिर्विस्मरणोज्झिता वा त्रासोत्प्लुता वा स्थलमभ्युपेताः ।
खेदप्रसुप्ता इव सप्त मत्स्या लब्धा मयैतान्निवसेह भुक्त्वा ॥१६॥

अथ शृगालोऽप्येनं यथोपलब्धमन्नजातमुपसंहृत्य प्रणामपुरःसरं सादरमित्युवाच ।

झिंगुरोंकी बढ़ती हुई आवाजसे गूंजते हुए जंगलोंके भीतर (पेड़-पौधोंकी) छाया छोटी हो रही थी और पक्षियोंका उड़ना बन्द हो रहा था, जब कि गर्मी और थकावटसे बटोहियोंकी हिम्मत चूर हो रही थी तब देवताओंके अधिपति शक्रने ब्राह्मणका रूप धारणकर, भूख-प्यास-थकावटके कष्टसे कराहते हुए, मार्गमे भटकते हुए यात्रीके समान, उन चारोंसे कुछ ही दूरपर, जोर जोरसे रो रोकर चिल्लाया—

"अपने साथियोंसे छूटकर मैं अकेला इस गहन वनमें भटक रहा हूँ। भूख और थकावटसे पीड़ित हूं। साधु लोग मेरी रक्षा करें। ॥ २२ ॥

कौन रास्ता है कौन नहीं, यह जाननेकी मेरी सुध-बुध चली गई। दिग्भ्रमके कारण मैं अकेला, न मालूम इस जंगल में कहाँ जा रहा हूँ। गर्मी प्यास और थकावटसे व्यथित हूं। यहाँ मुझे "मत डरो, मत डरो" कहकर कौन आह्लादित करेगा ?" ॥ २३ ॥

इस करुण क्रन्दनको सुनकर उन महात्माओंके हृदय काँप उठे। वे घबड़ाकर तेजीसे उस स्थानपर पहुँच गये। मार्गमें भटके हुए बटोहीके समान उसे उदास देख, शिष्टाचारपूर्वक उसके समीप पहुंचकर, वे उसे सान्त्वना देते हुए बोले—

"जंगलमें भटक रहा हूँ" इस भ्रमको छोड़िये। हमारे समीप आप उसी प्रकार है जिस प्रकार अपने शिष्योंके समीप। ॥ २४ ॥

अतः आज, हे सौम्य, हमारी सेवा-शुश्रूषाको स्वीकार कर हमारे ऊपर अनुग्रह कीजिये। कल आप, जहाँ चाहें, जा सकते है।" ॥ २५ ॥

तब ऊदबिलावने उसके मौन-भावके कारण अपने निमंत्रणको स्वीकृत समझा और आनन्दके आवेगमें आकर शीघ्रतासे सात रोहित (रोहू) मछलियाँ ले आकर उससे कहा—

"मछुओंने भूलकर इन्हें छोड़ दिया था या ये डरके मारे उछलकर स्थल पर चली आई थी। वे यहां ऐसे पड़ी थीं जैसे थक कर सोई हुई हों। मैंने इन सात मछलियोंको पाया है। आप इन्हें खाकर यहाँ रहें। ॥ २६ ॥

तब सियालने भी जो कुछ भोजन-सामग्री पाई थी लाकर उसे प्रणाम किया और सादर बोला—

एका च गोधा दधिभाजनं च केनापि संत्यक्तमिहाध्वगच्छन् ।
तन्मे हितावेक्षितयोपयुज्य वनेऽस्तु तेऽस्मिन्गुणवास वासः ॥२७॥

इत्युक्त्वा परमप्रीतमनास्तदस्मै समुपजहार ॥ अथ वानरः परिपाकगुणादुपजातमार्दवानि मनःशिलाचूर्णरञ्जितानीवातिपिञ्जराण्यतिरक्तबन्धनमूलानि पिण्डीगतान्याम्रफलान्यादाय साञ्जलिप्रग्रहमेनमुवाच ।

आम्राणि पक्वान्युदकं मनोज्ञं छाया च सत्संगमसौख्यशीता ।
इत्यस्ति मे ब्रह्मविदां वरिष्ठ भुक्त्वैतदत्रैव तवास्तु वासः ॥२८॥

अथ शशः समुपसृत्यैनमुपचारक्रियानन्तरं सबहुमानमुदीक्षमाणः स्वेन शरीरेणोपनिमन्त्रयामास ।

न सन्ति मुद्गा न तिला न तण्डुला वने विवृद्धस्य शशस्य केचन ।
शरीरमेतत्त्वनलाभिसंस्कृतं ममोपयुज्याद्य तपोवने वस ॥२९॥
यदस्ति यस्येप्सितसाधनं धनं स तन्नियुङ्क्तेऽर्थिसमागमोत्सवे ।
न चास्ति देहादधिकं च मे धनं प्रतीच्छ सर्वस्वमिदं यतो मम ॥३०॥

शक्र उवाच ।

अन्यस्यापि वधं तावत्कुर्यादस्मद्विधः कथम् ।
इति दर्शितसौहार्दे कथा कैव भवद्विधे ॥३१॥

शश उवाच उपपन्नरूपमिदमासन्नानुक्रोशे ब्राह्मणे । तदिहैव तावद्भवानास्तामस्मदनुग्रहापेक्षया यावत्कुतश्चिदात्मानुग्रहोपायमासादयामीति ॥ अथ शक्रो देवानामिन्द्रस्तस्य भावमवेत्य तप्ततपनीयवर्णं स्फुरत्प्रतनुज्वालं विकीर्यमाणविस्फुलिङ्गप्रकरं निर्धूममङ्गारराशिमभिनिर्ममे ॥ अथ शशः समन्ततोऽनुविलोकयंस्तमग्निस्कन्धं ददर्श ।

"एक गोह और एक दहीकी हाँड़ी, हे यात्री, किसीने यहाँ छोड़ दी हैं। मेरी भलाईके ख्यालसे इसे खाकर, हे गुणवान्, आप इस वनमें निवास करें।" ॥ २७ ॥

इतना कहकर वह परम प्रसन्नतापूर्वक यह सब उसके समीप ले आया।

तब वानरने पके हुए, कोमल, अत्यन्त पीले जैसे मन:शिला धातुसे रंगे हुए, डटी (मूठ) के चारों ओर अत्यन्त रक्तवर्ण आमोके गुच्छे लेकर हाथ जोड़ते हुए उससे कहा—

"पके हुए आम मनोरम जल और सत्संग-सुखके समान शीतल[१] छाया— यह हैं मेरे पास। हे ब्रह्मवेत्ताओमें श्रेष्ठ, इसे खाकर आप यही रहें।" ॥२८॥

तब शशने समीप जाकर शिष्टाचारका पालन किया और उसकी ओर सम्मानपूर्वक देखते हुए अपना शरीर स्वीकार करनेके लिए उसे निमंत्रित किया—

"मै शश जगलमें पाला-पोसा गया हूँ, मेरे पास न मूंग है न तिल न तण्डुल। किंतु हैं यह शरीर। आगमें पकाकर आप इसका उपयोग करें और आज इस तपोवनमें ठहरे। ॥ २९ ॥

जिसके पास उपयोगी[२] जो धन होता है उसी (धन) से वह आये हुए अतिथिका सत्कार करता है । मेरे पास इस शरीर से अधिक कुछ नहीं है। इसलिए आप मेरे इस सर्वस्वको स्वीकार करें।" ॥ ३० ॥

शक्रने उत्तर दिया—

"मेरे-जैसा व्यक्ति दूसरेका वध कैसे करे ? फिर मित्रता प्रकट करने-वाले आप-जैसेका क्या कहना।" ॥ ३१ ॥

शशने कहा—"दयालु ब्राह्मणके लिए यह उचित ही है । मेरे ऊपर अनुग्रह करनेके विचारसे आप तबतक यहीं ठहरें जबतक कि मैं अपने अनुग्रहका उपाय कहींसे प्राप्त करता हूँ। उसका भाव समझकर देवेन्द्र शक्रने तपे हुए सोनेके रंगका, धुँआ-रहित अङ्गारोंका ढेर उत्पन्न किया, जिससे पतली लपटें निकल रही थीं और चिनगारियाँ छिटक रही थी। तब शशने चारों ओर दृष्टि-पात करते हुए उस अग्नि-पुञ्जको देखा।

दृष्ट्वा च प्रीतमनाः शक्रमुवाच । समधिगतोऽयं मयात्मानुग्रहोपायः । तदस्मच्छरीरोपयोगात्सफलामनुग्रहाशां मे कर्तुमर्हसि । पश्य महाब्राह्मण ।

देयं च दित्साप्रवणं च चित्तं भवद्विधेनातिथिना च योगः ।
नावाप्तुमेतद्धि सुखेन शक्यं तत्स्यादमोघं भवदाश्रयान्मे ॥३२॥

इत्यनुनीय स महात्मा संमाननादरादतिथिप्रियतया चैनमभिवाद्य ।

ततः स तं वह्निमभिज्वलन्तं निधिं धनार्थी सहसैव दृष्ट्वा ।
परेण हर्षेण समारुरोह तोयं हसत्पद्ममिवैकहंसः ॥३३॥

तद्दृष्ट्वा परमविस्मयावर्जितमतिर्देवानामधिपतिः स्वमेव वपुरास्थाय दिव्यकुसुमवर्षपुरःसरीभिर्मनःश्रुतिसुखाभिर्वाग्भिरभिपूज्य तं महासत्त्वं कमलपलाशलक्ष्मीसमृद्धाभ्यां भासुराङ्गुलीभूषणालंकृताभ्यां पाणिभ्यां स्वयमेव चैनं परिगृह्य त्रिदशेभ्यः संदर्शयामास । पश्यन्त्वत्रभवन्तस्त्रिदशालयनिवासिनो देवाः समनुमोदन्तां चेदमतिविस्मयनीयं कर्मावदानमस्य महासत्त्वस्य ।

त्यक्तं बतानेन यथा शरीरं निःशङ्कमद्यातिथिवत्सलेन ।
निर्माल्यमप्येवमकम्पमाना नालं परित्यक्तुमधीरसत्त्वाः ॥३४॥

जातिः क्वेयं तद्विरोधि क्व चेदं त्यागौदार्यं चेतसः पाटवं च ।
विस्पष्टोऽयं पुण्यमन्दादराणां प्रत्यादेशो देवतानां नृणां च ॥३५॥

अहो बत गुणाभ्यासवासितास्य यथा मतिः ।
अहो सद्वृत्तवात्सल्यं क्रियौदार्येण दर्शितम् ॥३६॥

और देखकर प्रसन्नतापूर्वक शक्रसे कहा—"मैंने यह अपने अनुग्रहका उपाय पाया। अब मेरे शरीरका उपयोगकर आपसे अनुगृहीत होनेकी मेरी आशा को आप सफल करें। देखिये हे महाब्राह्मण,—

दान देना हो (या दानकी वस्तु मौजूद हो), दान देनेकी हार्दिक इच्छा हो, आप जैसे अतिथिका योग हो—यह सुयोग अति दुर्लभ है। अतः आप अपने सहयोगसे इसे सफल करें।" ॥ ३२ ॥

इस प्रकार अनुनय कर उस अतिथि-प्रिय महात्माने उसे सादर प्रणाम किया।

तब वह उस प्रज्वलित अग्निको देखकर, जैसे धन चाहनेवाला हठात् ही निधिको पाकर, अत्यन्त प्रसन्न हुआ और वह उस अग्नि-पुञ्ज पर ऐसे चढ गया जैसे राजहंस खिलते हुए कमलोंसे युक्त जलाशयपर चढ़ रहा हो। ॥ ३३ ॥

यह देखकर देवेन्द्रके मनमें बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने अपना (स्वाभाविक) रूप धारण कर दिव्य फूलोंकी वर्षाके साथ साथ मन और कानको आनन्द देनेवाली वाणीसे उस महासत्त्वकी पूजा-स्तुति की। तब कमलकी पंखुड़ियोंके समान सुन्दर हाथोंसे, जो उज्ज्वल अंगूठियोंसे अलंकृत थे, उसे लेकर देवताओंको दिखलाते हुए कहा—"देव-लोकके वासी आप पूज्य देवता देखें और इस महात्माके इस अद्भुत सुकर्मका अनुमोदन करें।

जिस प्रकार निर्भय होकर इस अतिथि-वत्सलने अपना शरीर छोड़ा उस प्रकार अविचल होकर अधीर व्यक्ति निर्माल्य (=देवोच्छिष्ट वस्तु या फूल, जूठन) भी नहीं छोड़ सकते। ॥ ३४ ॥

कहाँ इसकी जाति (पशु-योनि) और कहाँ यह विरोधी त्यागकी उदारता और चित्तकी दृढ़ता! स्पष्ट ही इसने पुण्यकी ओरसे उदासीन मनुष्यों और देवताओंको जीत लिया। ॥ ३५ ॥

अहो! सद्गुणोंके अभ्याससे इसकी बुद्धि सुगन्धित (पवित्र) हो गई है। अहो! इसने उदार क्रियाके द्वारा अपना सदाचार-प्रेम प्रकट किया।" ॥ ३६ ॥

अथ शक्रस्तत्कर्मातिशयविख्यापनार्थं लोकहितावेक्षी शशबिम्बलक्षणेन वैजयन्तस्य प्रासादवरस्य सुधर्मायाश्च देवसभायाः कूटागारकर्णिके चन्द्रमण्डलं चाभ्यलंचकार ।

सम्पूर्णेऽद्यापि तदिदं शशबिम्बं निशाकरे ।
छायामयमिवादर्शे राजते दिवि राजते ॥३७॥
ततः प्रभृति लोकेन कुमुदाकरहासनः ।
क्षणदातिलकश्चन्द्रः शशाङ्क इति कीर्त्यते ॥३८॥

तेऽप्युद्रशृगालवानरास्ततश्च्युत्वा देवलोक उपपन्नाः कल्याणमित्रं समासाद्य ॥

तदेवं तिर्यग्गतानामपि महासत्त्वानां शक्त्यनुरूपा दानप्रवृत्तिर्दृष्टा । केन नाम मनुष्यभूतेन न दातव्यं स्यात् ॥ तथा तिर्यग्गता अपि गुणवात्सल्यात् संपूज्यन्ते सद्भिरिति गुणेष्वादरः कार्य इत्येवमप्युन्नेयम् ॥

इति शशजातकं षष्ठम् ।

---

७ अगस्त्यजातकम्

तपोवनस्थानामप्यलंकारस्त्यागशौर्यं प्रागेव गृहस्थानामिति ॥ तद्यथानुश्रूयते ।

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवाँल्लोकहितार्थं संसाराध्वनि वर्तमानश्चारित्रगुणविशुद्ध्यभिलक्षितं क्षितितलतिलकभूतमन्यतमं महद्ब्राह्मणकुलं गगनतलमिव शरदमलपरिपूर्णमण्डलश्चन्द्रमाः समुत्पतन्नेवाभ्यलंचकार । स यथाक्रमं श्रुतिस्मृतिविहितानवाप्य जातकर्मादीन् संस्कारानधीत्य साङ्गान्वेदान्कृत्स्नं च कल्पं व्याप्य विद्यायशसा मनुष्यलोकं गुणप्रियैर्दातृभिरभ्यर्थ्य प्रतिगृह्यमाणविभवत्वात् परां धनसमृद्धिमभिजगाम ।

तब शक्रने लोक-हितको देखते हुए उस अद्भुत कर्मको विख्यात करने-के लिए शशकी आकृतिके चिह्नसे वैजयन्त प्रासाद और सुधर्मा देव सभा के शिखरोंको तथा चन्द्रमण्डलको भी अलंकृत किया।

आज भी आकाशमें पूर्णचन्द्रमण्डलके भीतर यह शशकी आकृति ऐसे विराजती है जैसे दर्पणके भीतर प्रतिबिम्ब। ॥ ३७ ॥

तबसे लोग कुमुदोको खिलाने (हसाने) वाले रात्रि-तिलक (रात्रि-विभूषण) चन्द्रमाको शशाङ्क कहते है। ॥ ३८ ॥

वे तीनों भी, ऊदबिलाव सियाल और वानर, सन्मित्रको पाकर वहाँसे च्युत होकर देव-लोकमे उत्पन्न हुए।

इस प्रकार पशु-पक्षियोकी योनिमे भी पड़कर महासत्त्व यथाशक्ति दान-धर्ममें प्रवृत्त देखे जाते है। तब मनुष्य होकर कौन दान नही देगा? और, पशु-पक्षी भी अपने गुणानुरागके कारण सज्जनोंसे पूजित होते है, इसलिए गुणोंका आदर करना चाहिए, यह मिष्कर्ष भी निकाला जा सकता है।

शश-जातक षष्ठ समाप्त

---

७ अगस्त्य-जातक

जो तपोवनमें रहते है उनके लिए भी दान-वीरता अलङ्कार है, गृहस्थों-के लिए तो और भी। तब जैसी कि अनुश्रुति है—

जब ये भगवान् बोधिसत्त्व थे और लोक-हितके लिए संसारके पथपर चल रहे थे तब एकबार उन्होंने पवित्र आचरण के लिए विख्यात, भूतलके तिलक-स्वरूप किसी महान् ब्राह्मण-कुलमें जन्म लिया, मानो गगनमें शरद ऋतुके निर्मल परिपूर्ण चन्द्रमण्डलका उदय हुआ। उन्होंने क्रमसे श्रुति-स्मृतिमें विहित जातकर्म आदि संस्कारोंको प्राप्त किया, अङ्गों सहित वेदों और सम्पूर्ण कल्पका अध्ययन किया। उनकी विद्याकी कीर्ति मनुष्य-लोकमें व्याप्त हुई। गुण-प्रिय दाताओंने उनसे धन ग्रहण करवाया और इस प्रकार उन्होंने विपुल धन-सम्पत्ति प्राप्त की।

स बन्धुमित्राश्रितदीनवर्गान्संमाननीयानतिथीन्गुरूंश्च ।
प्रह्लादयामास तथा समृद्ध्या देशान्महामेघ इवाभिवर्षन् ।। १ ।।

विद्वत्तया तस्य यशः प्रकाशं तत्त्यागशौर्यादधिकं चकाशे ।
निशाकरस्येव शरद्विशुद्धं समग्रशोभाधिककान्ति बिम्बम् ।। २ ।।

अथ स महात्मा कुकार्यव्यासङ्गदोषसंबाधं प्रमादास्पदभूतं धनार्जनरक्षणप्रसङ्गव्याकुलमुपशमविरोधिव्यसनशरशतलक्ष्यभूतमपर्यन्तकर्मान्तानुष्ठानपरिग्रहश्रममतृप्तिजनकं कृशास्वादं गार्हस्थ्यमवेत्य तद्दोषविविक्तसुखां च धर्मप्रतिपत्त्यनुकूलां मोक्षधर्मारम्भाधिष्ठानभूतां प्रव्रज्यामनुपश्यन् महतीमपि तां धनसमृद्धिमपरिक्लेशाधिगतां लोकसंनतिमनोहरां तृणवदपास्य तापसप्रव्रज्याविनयनियमपरो बभूव । प्रव्रजितमपि तं महासत्त्वं यशःप्रकाशत्वात् पूर्वसंस्तवानुस्मरणात् संभावितगुणत्वात् प्रशमाभिलक्षितत्वाच्च श्रेयोऽर्थी जनस्तद्गुणगणावर्जितमतिस्तथैवाभिजगाम । स तं गृहिजनसंसर्गं प्रविवेकसुखप्रमाथिनं व्यासङ्गविक्षेपान्तरायकरमबहुमन्यमानः प्रविवेकाभिरामतया दक्षिणसमुद्रमध्यावगाढमिन्द्रनीलभेदाभिनीलवर्णैरनिलबलाकलितैरूर्मिमालाविलासैराच्छुरितपर्यन्तं सितसिकतास्तीर्णभूमिभागं पुष्पफलपल्लवालंकृतविटपैर्नानातरुभिरुपशोभितं विमलसलिलाशयप्रतीरं काराद्वीपमध्यासनादाश्रमपदश्रिया संयोजयामास ।

सुतनुस्तपसा तत्र स रेजे तपसातनुः ।
नवचन्द्र इव व्योम्नि कान्तत्वेनाकृशः कृशः ।। ३ ।।

उन्होने बन्धुओं मित्रों आश्रितों दीनों आदरणीय अतिथियों और सम्माननीय गुरुओंको अपनी समृद्धिसे आनन्दित किया, जैसे कोई महामेघ वृष्टिद्वारा नाना देशोको आह्लादित करे ॥ १ ॥

विद्वत्ताके कारण उनकी जो कीर्ति प्रकाशित हुई वह उनकी दानवीरता (=उदारता) के कारण और भी चमकी, जैसे समग्र शोभासे युक्त अत्यन्त कान्तिमान् (परिपूर्ण) चन्द्रमण्डल शरद्ऋतुमे निर्मल होकर और भी चमकता है। ॥२॥

तब उस महात्माने देखा कि गार्हस्थ्य (गृहस्थी) कुकर्मोके सम्पर्कके दोषसे युक्त, प्रमादका घर, धनके उपार्जन और संरक्षणकी आसक्तिमें होनेवाली व्याकुलतासे ग्रस्त, शान्तिका विरोधी, शत-शत विपत्तियोंके तीरोंका लक्ष्य-स्थान, अनन्त कर्मोके करनेसे होनेवाली थकावटसे युक्त, अतृप्तिजनक और अल्प सुख देनेवाला है और उन्होंने देखा कि प्रव्रज्या (=सन्यास) उस (गृहस्थी) के दोषोंसे रहित होनेके कारण सुखमय, धर्माचरण के अनुकूल और मोक्ष धर्मके लिए आरम्भ करनेका सहारा है। यह देखकर उसने अनायास ही प्राप्त उस विपुल धन-सम्पत्तिको भी, जो लोक-सन्मानका साधन होनेके कारण मनोहर थी, तृणवत् छोड़ दिया और वे तापसोचित प्रव्रज्याके विनय और नियमके पालनमे लीन हुए। यद्यपि उस महासत्त्वने प्रव्रज्या (सन्यास) ग्रहण की, तथापि उनकी कीर्ति प्रकाशित होने, शान्तिके लिए उनके विख्यात होने, उनके गुणोंके प्रति आदरभाव होने और उनके पूर्व-परिचयकी स्मृति होनेके कारण उनके सद्गुणोंसे आकृष्ट होकर मोक्ष चाहने वाले लोग उनके पास उसी प्रकार आते ही रहे। उसने उस गृहस्थों के संसर्गको ध्यान-सुखमें बाधक और आसक्ति-विनाशमें विघ्नकारी समझकर ध्यान-सौकर्यके लिए दक्षिण समुद्रके मध्यमें स्थित कारा-द्वीपमें—जिसके किनारेपर पवन-बलसे उठती हुई इन्द्रनील्के टुकड़ोंके समान नीले रगकी तरंग-मालाएँ अठखेलियाँ करती है, जिसका भू-भाग सफेद बालूसे व्याप्त है, जो फूलों फलों और पल्लवोंसे अलंकृत शाखाओं वाले वृक्षोंसे शोभित है और जो विमल जलाशयोंसे व्याप्त[1] है—जाकर आसन जमाया और उसे अपने आश्रमकी शोभासे युक्त किया।

तपस्याके कारण उनका शरीर क्षीण हुआ, किंतु तेज में वे क्षीण नही हुए। आकाशमें (उगे हुए) नये चन्द्रमाके समान (आकृतिमें) क्षीण होकर भी वे कान्तिमें क्षीण नही हुए। ॥ ३ ॥

प्रशमनिभृतचेष्टितेन्द्रियो व्रतनियमैकरसो वने वसन् ।
मुनिरिति तनुबुद्धिशक्तिभिर्मृगविहगैरपि सोऽन्वगम्यत ॥ ४ ॥

अथ स महात्मा प्रदानोचितत्वात्तपोवनेऽपि निवसन् कालोपनतमतिथिजनं यथासंनिहितेन मूलफलेन शुचिना सलिलेन हृद्याभिश्च स्वागताशीर्वादपेशलाभिस्तपस्विजनयोग्याभिर्वाग्भिः संपूजयति स्म । अतिथिजनोपयुक्तशेषेण च यात्रामात्रार्थमभ्यवहृतेन तेन वन्येनाहारेण वर्तयामास ॥ तस्य तपःप्रकर्षात् प्रविसृतेन यशसा समावर्जितहृदयः शक्रो देवेन्द्रः स्थैर्यजिज्ञासया तस्य महासत्त्वस्य तस्मिन्नरण्यायतने तापसजनोपभोगयोग्यं मूलफलमनुपूर्वेण सर्वमन्तर्धापयामास । बोधिसत्त्वोऽपि ध्यानप्रसृतमानसतया संतोषपरिचयादनधिमूर्च्छितत्वादाहारे स्वशरीरे चानभिष्वङ्गान्न तमन्तर्धानहेतुं मनसि चकार । स तरुणानि तरुपर्णान्यधिश्राय तैराहारप्रयोजनमभिनिष्पाद्यातृष्यमाण आहारविशेषानुत्सुकः स्वस्थमतिस्तथैव विजहार ।

न क्वचिद्दुर्लभा वृत्तिः संतोषनियतात्मनाम् ।
कुत्र नाम न विद्यन्ते तृणपर्णजलाशयाः ॥ ५ ॥

विस्मिततरमनास्तु शक्रो देवेन्द्रस्तस्य तेनावस्थानेन स्थिरतरगुणसंभावनस्तत्परीक्षानिमित्तं तस्मिन्नरण्यवनप्रदेशे निदाघकालानिलवत्समग्रं वीरुत्तृणतरुगणं पर्णसमृद्ध्या वियोजयामास ॥ अथ बोधिसत्त्वः प्रत्यार्द्रतराणि शीर्णपर्णानि समाहृत्य तैरुदकस्विन्नैरनुत्कण्ठितमतिर्वर्तमानो ध्यानसुखप्रीणितमनास्तत्रामृततृप्त इव विजहार ।

अविस्मयः श्रुतवतां समृद्धानाममत्सरः ।
संतोषश्च वनस्थानां गुणशोभाविधिः[1] परः ॥ ६ ॥

---

१ पा० 'गुणशोभानिधिः'—स्पेयर ।

शान्तिके कारण उनके इन्द्रिय निर्विकार थे, वे व्रतों और नियमो (के पालन) मे तल्लीन होकर वनमें रहते थे। पशु-पक्षियोंने भी, जिनकी सोचनेकी शक्ति थोड़ी होती है, उन्हें मुनि समझकर उन (के आचरण) का अनुकरण किया। ॥ ४ ॥

दान देनेके अभ्यस्त होनेके कारण वह महात्मा तपोवनमें रहते हुए भी अभ्यागत अतिथियोको स्वच्छ जल और फल-मूल—जो कुछ रहता था—देकर तथा तपस्वियोके योग्य स्वागत और आशीर्वादके कोमल और मनोहर वचन कहकर अतिथि-सत्कार करते थे। फिर अतिथियोके उपयोगसे जो कुछ वन्य आहार—फल-मूल—शेष रहता था उसे ही शरीर-धारणमात्रके लिए खाकर जीवित रहते थे। जब उनकी चरम तपस्याकी कीर्ति चारों ओर फैल गई तो उससे विचलित होकर देवेन्द्र शक्रने उस महासत्त्वकी स्थिरताकी परीक्षाके लिए उस जंगलमे तपस्वियोके उपभोग-योग्य समस्त फल-मूल क्रमसे अन्तर्धान (=लोप) कर दिया। बोधिसत्त्व तो ध्यानमें लीन रहते थे, बड़े ही सतोषी थे, आहार और अपने शरीरमें आसक्त नही थे, अतः उन्होंने (फल-मूल) के अन्तर्धानके कारणका विचार नही किया। वे वृक्षोके नये पत्ते लेकर[१] उन (पत्तों) से अपने भोजनका काम निकालकर तृप्त रहे, भोजन-विशेष के लिए उत्सुक नही हुए, स्वस्थ-चित्त रहकर उसी प्रकार विहार करते रहे।

संतोषियोंके लिए कही भी आहार प्राप्त करना कठिन नहीं है। घास-पात और जलाशय कहाँ नही रहते? ॥ ५ ॥

उनकी इस अवस्थासे देवेन्द्र शक्रको बड़ा आश्चर्य हुआ। उनका व्रत बहुत स्थिर है यह सोचकर इसकी परीक्षाके लिए उस जगलमें ग्रीष्म ऋतुके पवनके समान समस्त तृण-तरुओं और लताओंको पत्तोंसे वियुक्त कर दिया। तब बोधिसत्त्वने ताजे झड़े हुए पत्तोंको बटोरकर, पानीमें उबालकर उत्कण्ठा-रहित होकर खाया और ऐसे तृप्त हुए जैसे अमृत पिया हो। वे ध्यान-सुखसे प्रसन्नचित्त होकर वहाँ विहार करने लगे।

विद्वानोंमें अभिमान न हो, धनियोंमें द्वेष न हो, वन-वासियोंको संतोष हो, यह उनके गुणोंकी शोभाका उत्तम उपाय है। ॥ ६ ॥

अथ शक्रस्तेन तस्याद्भुतरूपेण संतोषस्थैर्येण समभिवृद्धविस्मयः सामर्ष इव तस्य महासत्त्वस्य व्रतकाले हुताग्निहोत्रस्य परिसमाप्तजप्यस्यातिथिजनदिदृक्षया व्यवलोकयतो ब्राह्मणरूपमास्थायातिथिरिव नाम भूत्वा पुरस्तात्प्रादुरभूत्। स प्रीतमनाः समभिगम्य चैनं बोधिसत्त्वः स्वागतादिप्रियवचनपुरःसरेणाहारकालनिवेदनेनोपनिमन्त्रयामास। तूष्णींभावात्तु तस्याभिमतमुपनिमन्त्रणमवेत्य स महात्मा।

दित्साप्रहर्षविकसन्नयनास्यशोभः
स्निग्धैर्मनःश्रुतिसुखैरभिनन्द्य वाक्यैः।
कृच्छ्रोपलब्धमपि तच्छ्रपणं समस्तं
तस्मै ददौ स्वयमभूच्च मुदेव तृप्तः॥ ७॥

त तथैव प्रविश्य ध्यानागारं तेनैव प्रीतिप्रामोद्येन तमहोरात्रमतिनामयामास॥ अथ शक्रस्तस्य द्वितीये तृतीये चतुर्थे पञ्चमेऽपि चाहनि तथैव व्रतकाले पुरतः प्रादुरभूत्। सोऽपि चैनं प्रमुदिततरमनास्तथैव प्रतिपूजयामास।

दानाभिलाषः साधूनां कृपाभ्यासविवर्धितः।
नैति संकोचदीनत्वं दुःखैः प्राणान्तिकैरपि॥ ८॥

अथ शक्रः परमविस्मयाविष्टहृदयस्तपःप्रकर्षादस्य प्रार्थनामात्रापेक्षं त्रिदशपतिलक्ष्मीसंपर्कमवगम्य समुत्पतितभयाशङ्कः स्वमेव वपुर्दिव्याद्भुतशोभमभिप्रपद्य तपःप्रयोजनमेनं पर्यपृच्छत्।

बन्धून्प्रियानश्रुमुखान्विहाय परिग्रहान्सौख्यपरिग्रहांश्च।
आशाङ्कुशं[1] नु व्यवसृज्य कुत्र तपःपरिक्लेशमिमं श्रितोऽसि॥ ९॥

सुखोपपन्नान्परिभूय भोगाञ्छोकाकुलं बन्धुजनं च हित्वा।
न हेतुनाल्पेन हि यान्ति धीराः सुखोपरोधीनि तपोवनानि॥१०॥

---

१ पा० 'आशाङ्कुरं'?

उनके संतोषकी उस अद्भुत स्थिरतासे इन्द्रका आश्चर्य बहुत बढ़ गया। जब वह महासत्त्व अग्निहोत्रमे हवन कर चुके, जप समाप्त कर चुके और अतिथियोंके दर्शनकी इच्छासे चारों ओर दृष्टिपात करने लगे तब उनके व्रत-कालमें मानो क्रोधके वशीभूत होकर ब्राह्मण-रूप-धारी अतिथि बनकर शक्र उनके सन्मुख प्रकट हुआ। प्रसन्नचित्तसे उसके समीप जाकर बोधिसत्त्वने स्वागत आदि प्रिय वचन कहकर आहार-कालकी सूचना देते हुए उसे (भोजनके लिए) निमन्त्रित किया। उसके चुप रहनेसे उसको निमंत्रण स्वीकार है ऐसा समझकर--

दान देनेके आनन्दसे उस महात्माकी आँखों और मुखकी शोभा खिलने लगी। उन्होंने मन और कानको आनन्द देनेवाले वचनोंसे अतिथिका अभि-नन्दन किया, कष्टपूर्वक प्राप्त किये गये उस समस्त आहार (=उबाले हुए पत्तों) को उसे दे दिया और स्वयं मानो (दान-जन्य) आनन्दसे ही तृप्त हो गये। ॥ ७ ॥

उन्होंने उसी प्रकार अपने ध्यानागारमें प्रवेशकर उतने ही आनन्दसे उस दिवा-रात्रिको बिताया। तब शक्र दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें दिन भी व्रतकालमें उसी प्रकार उनके सन्मुख प्रकट हुआ और उन्होंने भी प्रसन्नचित्तसे उसी प्रकार उसका अतिथि-सत्कार किया।

दयालुताके कारण सज्जनोंकी बढ़ी हुई दान देनेकी अभिलाषा प्राणान्तक दुःखोंमें भी क्षीण नहीं होती। ॥ ८ ॥

इन्द्रका हृदय अत्यन्त आश्चर्यसे भर गया। अतिशय तपस्याके कारण प्रार्थना करते ही उन्हें देवेन्द्रकी लक्ष्मी प्राप्त होगी, यह सोचकर इन्द्र भय-भीत हो गया। अपना दिव्य अद्भुत रूप धारण कर उसने उनसे तपका प्रयोजन पूछा--

"वह क्या है जिसपर आशा लगाकर आप रोते हुए प्रिय बन्धुओं परि-जनों और सुख-भोगोंको छोड़कर इस तपस्याके क्लेशको उठा रहे है ? ॥९॥

क्योंकि अनायास-प्राप्त भोगोंको ठुकराकर और शोकाकुल बन्धुओंको छोड़कर धीर पुरुष किसी अल्प हेतुसे सुखके बाधक तपोवनोंमें नहीं जाते। ॥१०॥

वक्तव्यमेतन्मयि मन्यसे चेत्कौतूहलं नोऽर्हसि तद्विनेतुम् ।
किं नाम तद्यस्य गुणप्रवेशवशीकृतैवं भवतोऽपि बुद्धिः ॥११॥

बोधिसत्त्व उवाच। श्रूयतां मार्ष यन्निमित्तोऽयं मम प्रयत्नः।

पुनः पुनर्जातिरतीव दुःखं जराविपद्व्याधिविरूपताश्च ।
मर्तव्यमित्याकुलता च बुद्धेर्लोकानतस्त्रातुमिति स्थितोऽस्मि ॥१२॥

अथ शक्रो देवेन्द्रो नायमस्मद्गतां श्रियमभिकामयत इति समाश्वासितहृदयः सुभाषितेन तेन चाभिप्रसादितमतिर्युक्तमित्यभिपूज्य तदस्य वचनं वरप्रदानेन बोधिसत्त्वमुपनिमन्त्रयामास ।

अत्र ते तापसजन प्रतिरूपे सुभाषिते ।
ददामि काश्यप वरं तद्वृणीष्व यदिच्छसि ॥१३॥

अथ बोधिसत्त्वो भवभोगसुखेष्वनास्थः प्रार्थनामेव दुःखमवगच्छन्सात्मीभूतसंतोषः शक्रमुवाच ।

दातुमिच्छसि चेन्मह्यमनुग्रहकरं वरम् ।
वृणे तस्मादहमिमं देवानां प्रवरं वरम् ॥१४॥

[दारान्मनोऽभिलषितांस्तनयान्प्रभुत्व-
मर्थानभीप्सितविशालतरांश्च लब्ध्वा ।
येनाभितप्तमतिरेति न जातु तृप्तिं
लोभानलः स हृदयं मम नाभ्युपेयात् ॥१५॥

अथ शक्रस्तया तस्य संतोषप्रवणमानसतया सुभाषिताभिव्यञ्जितया भूयस्या मात्रया संप्रसादितमतिः पुनर्बोधिसत्त्वं साधु साध्विति प्रशस्य वरेणोपच्छन्दयामास ।

अत्रापि ते मुनिजन प्रतिरूपे सुभाषिते ।
प्रतिप्राभृतवत्प्रीत्या प्रयच्छाम्यपरं वरम् ॥१६॥

यदि आप मुझसे कहने योग्य समझते है तो आप मेरा कुतूहल दूर कीजिये। वह कौन-सी वस्तु है जिसके गुणोंने प्रवेशकर आपकी भी बुद्धि-को इस प्रकार वशमें कर लिया है?" ॥ ११ ॥

बोधिसत्त्वने कहा—"श्रीमन् सुनिये कि इस मेरे प्रयत्नका क्या निमित्त है?

"बार बार जन्म लेना अत्यन्त दुःखदायक है, रूपको कुरूप करनेवाला बुढ़ापा मृत्यु और रोग अत्यन्त दुःखदायक है। 'मरना पड़ेगा' यह सोचकर ही बुद्धि व्याकुल हो जाती है। अतः प्राणियोंकी रक्षा करनेके लिए मै स्थित हूँ।" ॥ १२ ॥

"ये हमारी लक्ष्मीकी कामना नही करते" यह जानकर देवेन्द्र शक्रका हृदय आश्वस्त हुआ और उस सुभाषित (सदुक्ति) को सुनकर उसका चित्त प्रसन्न हुआ। देवेन्द्रने 'युक्तियुक्त है' कहकर उनकी इस सूक्तिकी प्रशंसा की और वरदानके लिए उन्हे निमंत्रित किया।

"तपस्वियोंके[1] अनुरूप आपकी इस सदुक्तिके लिए, हे काश्यप, मै आपको वर देता हूँ। आप जो चाहें सो माँगिये।" ॥ १३ ॥

तब संसारके सुख-भोगोंमें अनासक्त और सतोष-परायण बोधिसत्त्वने 'याचना' को दुःख समझते हुए शक्रसे कहा—

"यदि आप मुझे अनुगृहीत करनेके लिए वर देना चाहते है तो, मै देवेन्द्रसे यह वर माँगता हूँ—॥ १४ ॥

अभिलषित पुत्र-कलत्र, प्रभुत्व और इच्छित विपुल[2] धन पाकर जिस लोभानल (तृष्णा) से चित्त संतप्त होकर तृप्ति नही पाता है वह लोभानल मेरे हृदयके निकट न आवे।" ॥ १५ ॥

तब उनके सुभाषितसे संतोषकी ओर उनके मनका झुकाव प्रकट होनेपर शक्र अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने 'साधु! साधु!' कहकर बोधिसत्त्वकी पुनः प्रशंसा की और वर ग्रहण करनेके लिए उनसे प्रार्थना की।

"मुनियोंके अनुरूप आपके इस सुभाषितके लिए भी[3] प्रति-उपहारके तौरपर दूसरा वर प्रसन्नतापूर्वक देता हूँ।" ॥ १६ ॥

अथ बोधिसत्त्वः क्लेशवियोगस्यैव दुर्लभतामस्य प्रदर्शयन्वरयाच्ञापदेशेन पुनरप्यस्मै धर्मं देशयामास ।

ददासि मे यदि वरं सद्गुणावास वासव ।
वृणे तेनेममपरं देवेन्द्रानवरं वरम् ॥१७॥

[अर्थादपि भ्रंशमवाप्नुवन्ति वर्णप्रसादाद्यशसः सुखाच्च ।
येनाभिभूता द्विषतेव सत्त्वाः स द्वेषवह्निर्मम दूरतः स्यात् ॥१८॥

तच्छ्रुत्वा शक्रो देवानामधिपतिर्विस्मयवशात् साधु साध्वित्येनमभिप्रशस्य पुनरुवाच ।

स्थाने प्रव्रजितान्कीर्तिरनुरक्तेव सेवते ।
तद्वरं प्रतिगृह्णीष्व मदत्रापि सुभाषिते ॥१९॥

अथ बोधिसत्त्वः क्लेशप्रातिकूल्यात् क्लिष्टसत्त्वसंपर्कविगर्हां व्रति[1]संप्रतिग्रहापदेशेन कुर्वन्नित्युवाच ।

शृणुयामपि नैव यातु बालं न च वीक्षेय न चैनमालपेयम् ।
न च तेन निवासखेददुःखं समुपेयां वरमित्यहं वृणे त्वाम् ॥२०॥

शक्र उवाच ।

अनुकम्प्यो विशेषेण सतामापद्गतो ननु ।
आपदां मूलभूतत्वाद्बाल्यं चाधममिष्यते ॥२१॥

करुणाश्रयभूतस्य बालस्यास्य विशेषतः ।
कृपालुरपि सन्कस्मान्न दर्शनमपीच्छसि ॥२२॥

बोधिसत्त्व उवाच । अगत्या मार्ष । पश्यत्वत्रभवान् ।

कथंचिदपि शक्येत यदि बालश्चिकित्सितुम् ।
तद्धितोद्योगनिर्यत्नः कथं स्यादिति मद्विधः ॥२३॥

---

१ पा० 'वृति-' ।

क्लेशों (द्वेष आदि दोषों) से मुक्त होना कितना कठिन है, यह दिखाते हुए बोधिसत्त्वने वर माँगनेके बहाने फिर उसे धर्मोपदेश किया।

"हे सद्गुणोंके निवास शक्र, यदि आप मुझे वर देते है तो मै आप देवेन्द्रसे यह दूसरा तुच्छ वर माँगता हूं। ॥ १७ ॥

शत्रुके समान जिस द्वेषाग्निसे पीड़ित होकर लोग धन, सुख, कान्ति और कीर्तिसे च्युत (हीन) होते है वह द्वेषाग्नि मुझसे दूर रहे।" ॥ १८ ॥

यह सुनकर देवोका अधिपति शक्र विस्मित हुआ और 'साधु! साधु! कहकर उनकी प्रशंसा करते हुए पुनः कहा—

"ठीक ही अनुरक्ता स्त्रीकी भाँति कीर्ति प्रव्रजितोंकी सेवा करती है। अतः इस सुभाषितके लिए भी आप मुझसे वर लीजिये।" ॥ १९ ॥

तब क्लेशों (दोषों) की प्रतिकूलताके कारण बोधिसत्त्वने क्लेशोंमें आसक्त प्राणियोंके सम्पर्ककी निन्दा करते हुए वर ग्रहण करने के बहाने यह कहा—

"मै मूर्खकी वाणी न सुनूं, मूर्खको न देखूं, उसके साथ बात-चीत न करूँ और उसके साथ रहनेका कष्ट न उठाऊं। यही वर मैं आपसे माँगता हूँ।" ॥ २० ॥

शक्रने कहा—

"जो विपत्तिमें है वह सज्जनोंकी अनुकम्पाका विशेषरूपसे पात्र है। मूर्खता विपत्तियोका मूल है, अतः वह अत्यन्त निकृष्ट है। ॥ २१ ॥

मूर्ख कृपाका विशेषरूपसे पात्र है। आप कृपालु होकर भी क्यों उसका दर्शन नही चाहते?" ॥ २२ ॥

बोधिसत्त्वने कहा—"श्रीमन्, उपायहीनताके कारण। आप देखें—

यदि किसी प्रकार भी मूर्खकी चिकित्सा करना शक्य होता तो मेरे-सा व्यक्ति कैसे उसकी भलाईके लिए उद्योग करनेके लिए प्रयत्नशील नहीं होता? ॥ २३ ॥

इत्थं चैष चिकित्साप्रयोगस्यापात्रमिति गृह्यताम् ।

सुनयवदनयं नयत्ययं परमपि चात्र नियोक्तुमिच्छति ।
अनुचितविनयार्जवक्रमो हितमपि चाभिहितः प्रकुप्यति ॥२४॥
इति पण्डितमानमोहदग्धे हितवादिष्वपि रोषरूक्षभावे ।
रभसे विनयाभियोगमान्द्याद्वद कस्तत्र हितार्पणाभ्युपायः ॥२५॥

इत्यगत्या सुरश्रेष्ठ करुणाप्रवणैरपि ।
बालस्याद्रव्यभूतस्य न दर्शनमपीष्यते ॥२६॥

तच्छ्रुत्वा शक्रः साधु साध्वित्येनमभिनन्द्य सुभाषिताभिप्रसादितमतिः पुनरुवाच ।

न सुभाषितरत्नानामर्घः कश्चन विद्यते ।
कुसुमाञ्जलिवत्प्रीत्या ददाम्यत्रापि ते वरम् ॥२७॥

अथ बोधिसत्त्वः सर्वावस्थासुखतां सज्जनस्य प्रदर्शयञ्छक्रमुवाच ।

वीक्षेय धीरं शृणुयां च धीरं स्यान्मे निवासः सह तेन शक्र ।
संभाषणं तेन सहैव भूयादेतं वरं देववर प्रयच्छ ॥२८॥

शक्र उवाच । अतिपक्षपात इव खलु ते धीरं प्रति । तदुच्यतां तावत् ।

किं नु धीरस्तवाकार्षीद्वद काश्यप कारणम् ।
अधीर इव येनासि धीरदर्शनलालसः ॥२९॥

अथ बोधिसत्त्वः सज्जनमाहात्म्यमस्य प्रदर्शयन्नुवाच । श्रूयतां मार्ष येन मे धीरदर्शनमेवाभिलषते मतिः ।

व्रजति गुणपथेन च स्वयं नयति परानपि तेन वर्त्मना ।
वचनमपि न रूक्षमक्षमां जनयति तस्य हितोपसंहितम् ॥३०॥

उसके ऊपर चिकित्साका प्रयोग हो नहीं सकता, यह आप मानें।

वह सुनीति (सुमार्ग) की तरह अनीति (कुमार्ग) का अनुसरण करता है और दूसरेको भी उस (अनीति) में लगाना चाहता है। नम्रता और सरलतासे अपरिचित होनेके कारण वह हित की बात कही जानेपर भी क्रुद्ध होता है। ॥ २४ ॥

वह अपनेको पण्डित मानकर भ्रममें रहता है और हित कहने वालोंपर क्रोध करता है। नम्रताकी ओर अग्रसर नही होनेके कारण वह उद्धत रहता है। कहिये कि उसकी भलाई करनेका क्या उपाय है? ॥ २५ ॥

हे देवेन्द्र, उपायके अभावमें दयालु पुरुष भी पात्रतासे हीन मूर्खका दर्शन नही चाहते।" ॥ २६ ॥

यह सुनकर देवेन्द्रने 'साधु, साधु' कहकर उनका अभिनन्दन किया और सुभाषितसे प्रसन्नचित होकर पुनः कहा––

"सुभाषितरूपी रत्नोंका कोई मूल्य नही है (वे अमूल्य है)। इनके लिए भी कुसुमाञ्जलि (पूजाके फूल) के तौर पर आनन्दसे आपको वर देता हूँ।" ॥ २७ ॥

"सज्जन सब अवस्थाओंमें सुख-दायक है," यह दिखलाते हुए बोधिसत्त्वने शक्रसे कहा––

"हे शक्र, मै धीर पुरुषको देखूँ, उसकी वाणी सुनूँ, उसके साथ रहूँ, उसके साथ बात-चीत करूँ। हे देवेन्द्र, मुझे यही वर दीजिये।" ॥ २८ ॥

शक्रने कहा––"धीरके प्रति आपका बड़ा पक्षपात जान पड़ता है। बतलाइये––धीरने आपका क्या (उपकार) किया है? हे काश्यप, कहिये क्या कारण है कि आप धीरके दर्शनकी लालसासे अधीर-से हो रहे है?" ॥२९॥

बोधिसत्त्वने उन्हें सज्जनका माहात्म्य दिखलाते हुए कहा––'श्रीमन् सुनिये कि किस कारणसे मेरा मन धीर पुरुषका ही दर्शन करना चाहता है।'

वह स्वयं सुमार्गपर चलता है और दूसरोंको भी उस मार्गपर ले जाता है। रूखा और हितकारी वचन भी उसे विचलित (धैर्य-च्युत) नही कर सकता। ॥३०॥

अशठविनयभूषणः सदा हितमिति लम्भयितुं स शक्यते।
इति मम गुणपक्षपातिनो नमति मतिर्गुणपक्षपातिनि ॥३१॥

अथैनं शक्रः साधूपपन्नरूपमिदमिति चाभिनन्द्य समभिवृद्धप्रसादः पुनर्वरेणोपनिमन्त्रयामास।

कामं संतोषसात्मत्वात्सर्वत्र कृतमेव ते।
मदनुग्रहबुद्ध्या तु ग्रहीतुं वरमर्हसि ॥३२॥

उपकाराशया भक्त्या शक्त्या चैव समस्तया।
प्रयुक्तस्यातिदुःखो हि प्रणयस्याप्रतिग्रहः ॥३३॥

अथ तस्य परामुपकर्तुकामतामवेक्ष्य बोधिसत्त्वस्तत्प्रियहितकामतया प्रदानानुतर्षप्राबल्यमस्मै प्रकाशयन्नुवाच।

त्वदीयमन्नं क्षयदोषवर्जितं मनश्च दित्साप्रतिपत्तिपेशलम्।
विशुद्धशीलाभरणाश्च याचका मम स्युरेतां वरसंपदं वृणे ॥३४॥

शक्र उवाच। सुभाषितरत्नाकरः खल्वत्रभवान्। अपि च।

यदभिप्रार्थितं सर्वं तत्तथैव भविष्यति।
ददामि च पुनस्तुभ्यं वरमस्मिन्सुभाषिते ॥३५॥

बोधिसत्त्व उवाच।

वरं ममानुग्रहसंपदाकरं ददासि चेत्सर्वदिवौकसां वर।
न माभ्युपेयाः पुनरित्यभिज्वलन्निमं वरं दैत्यनिसूदनं वृणे ॥३६॥

अथ शक्रः सामर्षवदेनमतिविस्मयमान उवाच। मा तावद्भोः।

जपव्रतेज्याविधिना तपःश्रमैर्जनोऽयमन्विच्छति दर्शनं मम।
भवान्पुनर्नेच्छति केन हेतुना वरप्रदित्साभिगतस्य मे सतः ॥३७॥

वह सदा सज्जनोचित विनयसे विभूषित रहता है, अतः उससे हित ग्रहण कराया जा सकता है। यही कारण है कि गुणोका पक्षपाती मेरा मन गुणोके पक्षपाती धीरकी ओर आकृष्ट होता है।" ॥ ३१ ॥

"ठीक है, युक्ति-युक्त है" कहकर शक्रने उनका अभिनन्दन किया और अत्यधिक प्रसन्न होकर पुनः वर ग्रहणके लिए उनसे प्रार्थना की।

"अवश्य ही आप सतोपात्माने सब कुछ प्राप्त कर लिया है, तथा मेरे ऊपर अनुग्रह करनेके विचारमें आप वर ग्रहण करें। ॥ ३२ ॥

उपकार करनेके विचारमे यदि कोई यथाशक्ति यथाभक्ति, कुछ प्रेम प्रकट करे (प्रेमोपहार स्वीकार करनेके लिए प्रार्थना करे) और यदि वह स्वीकृत न हो तो इसमे बहुत दुःख होता है।" ॥ ३३ ॥

तब उसकी उपकार करनेकी प्रबल कामना देखकर बोधिसत्त्वने उसका प्रिय और हित करनेकी कामनासे दान देनेकी उत्कट इच्छा प्रकाशित करते हुए उससे कहा—

"मुझे कभी क्षीण नही होनेवाला आपका अन्न हो, दान देनेके लिए कोमल मन हो, विशुद्ध शीलसे विभूषित (=सदाचारी) याचक हों, मैं यही वर माँगता हूँ।" ॥ ३४ ॥

शक्रने कहा—"आप पूज्य, सुभाषितोके रत्नाकर हैं। और भी—

आपने जो कुछ माँगा वह सब उसी प्रकार होगा। इस सुभाषितके लिए मैं आपको पुनः वर देता हूँ।" ॥ ३५ ॥

बोधिसत्त्वने कहा—

"यदि मुझे अनुगृहीत करनेके लिए, हे देवेन्द्र, आप वर देना चाहते हैं तो इस दीप्त रूपमे आप पुनः मेरे समीप न आवें। हे दैत्य-निषूदन, मै यही वर माँगता हूँ।" ॥ ३६ ॥

तब शक्रने मानो क्रोधमें आकर विस्मित होते हुए कहा—"आप ऐसा न कहें।

जप तप व्रत और यज्ञ द्वारा लोग मेरा दर्शन चाहते है। मै वर देनेकी इच्छासे आया हूँ और आप मेरा दर्शन नही चाहते। सो क्यों?"॥३७॥

बोधिसत्त्व उवाच। अलं ते मन्युप्रणयेन। समनुनेष्याम्यहमत्रभवन्तं देवराज। न ह्यसावदाक्षिण्यानुवृत्तिर्न चाप्यबहुमानविचेष्टितमसमवधानकाम्यता वा भवति भवताम्। किं तु

निरीक्ष्य ते रूपममानुषाद्भुतं प्रसन्नकान्ति ज्वलितं च तेजसा।
भवेत्प्रमादस्तपसीति मे भयं प्रसादसौम्यादपि दर्शनात्तव ॥३८॥

अथ शक्रः प्रणम्य प्रदक्षिणीकृत्य चैनं तत्रैवान्तर्दधे। प्रभातायां च रजन्यां बोधिसत्त्वः शक्रप्रभावोपहृतं प्रभूतं दिव्यमन्नपानं ददर्श। शक्रोपनिमन्त्रणाहूतानि चानेकानि प्रत्येकबुद्धशतानि व्यायताबद्धपरिकरांश्च परिवेषणसज्जाननेकांश्च देवकुमारान्।

तेनान्नपानविधिना स मुनिर्महर्षी-
न्संतर्पयन्मुदमुदारतरामवाप।
वृत्त्या च तापसजनोचितयाभिरेमे
ध्यानाप्रमाणनियमेन शमेन चैव ॥३९॥

तदेवं तपोवनस्थानामप्यलंकारस्त्यागशौर्यं प्रागेव गृहस्थानामिति त्यागशौर्येणालंकर्तव्य एवात्मा सत्पुरुषेणेति ॥ दानपतिसंप्रहर्षणायामप्युन्नेयं लोभद्वेषमोहबाल्यविगर्हायां कल्याणमित्रसंपर्कगुणे संतोषकथायां तथागतमाहात्म्ये च। एवं पूर्वजन्मस्वपि सुभाषितरत्नातिशयाकरः स भगवान् प्रागेव संबुद्ध इति ॥

इत्यगस्त्य-जातकं सप्तमम्

बोधिसत्त्वने कहा--"आप क्रोध न करें। हे देवराज, मैं आप पूज्यसे अनुनय करूँगा। यह मेरेमें शिष्टाचारका[1] अभाव नही है, यह आपका तिरस्कार या उपेक्षा नहीं है। किंतु,

आपके दिव्य अद्भुत विमल और दीप्त रूपको देखकर कहीं मैं तपस्यामें प्रमाद न कर बैठूं, इसी लिए आपके विमल और सौम्य रूपके भी दर्शनसे मुझे भय हो रहा है।" ॥ ३८ ॥

तब शक्र उन्हें प्रणाम कर और उनकी प्रदक्षिणा कर वही अन्तर्धान हो गया। रातके बीतनेपर प्रातःकालमें बोधिसत्त्वने शक्रके प्रभावसे लाये गये प्रचुर दिव्य अन्न-पान, शक्रके निवेदनपर बुलाये गये अनेक प्रत्येक बुद्धों, तथा कटि-बद्ध होकर भोजन परोसनेके लिए उद्यत अनेक देव-कुमारोंको देखा।

उस अन्न-पानके द्वारा महर्षियोंको तृप्त करते हुए वह मुनि अत्यन्त आनन्दित हुए और स्वयं तपस्वियोके योग्य वृत्ति (=आहार), ध्यान- नियम और शान्तिसे ही प्रसन्न रहे। ॥ ३९ ॥

इस प्रकार त्याग-वीरता तपोवनमें रहनेवालोके लिए भी अलङ्कार है, गृहस्थोके लिए तो पहले ही। यह देखकर सत्पुरुष अपनेको त्याग-वीरतासे अलंकृत करे। दान-पतिको प्रफुल्लित करनेमें[2], लोभ द्वेष मोह और मूर्खताकी निन्दा करनेमें, कल्याण-मित्रकी संगतिका गुण-गान करनेमें, संतोषकी कथा कहनेमें और तथागतका माहात्म्य बतलानेमे यह दृष्टान्त उपस्थित करना चाहिए। इस प्रकार अपने पूर्व-जन्मोंमें भी वह भगवान् सुभाषितोंके रत्नाकर थे, फिर बुद्ध होनेपर क्या कहना।

अगस्त्य-जातक सप्तम समाप्त।

---

१ दाक्षिण्य = सरलता, अनुकूलता, विनम्रता, शिष्टाचार।

२ दे० 'दायकजनसमुत्तेजनाया'--मैत्रीबलजातकके अन्तमें।

८ मैत्रीबलजातकम्

न परदुःखातुराः स्वसुखमवेक्षन्ते महाकारुणिकाः। तद्यथानुश्रूयते।

बोधिसत्त्वः किल स्वमाहात्म्यकारुण्याभिप्रपन्नो जगत्परित्राणाध्याशयः प्रदानदमनियमसौरत्यादिभिर्लोकानुग्रहानुकूलैर्गुणातिशयैरभिवर्धमानः सर्वसत्त्वमैत्रमना मैत्रबलो नाम राजा बभूव।

दुःखं सुखं वा यदभूत्प्रजानां तस्यापि राज्ञस्तदभूत्तथैव।
अतः प्रजारक्षणदक्षिणोऽसौ शस्त्रं च शास्त्रं च परामर्शं॥ १॥

नरेन्द्रचूडाधृतशासनस्य तस्य त्वलङ्कारवदास शस्त्रम्।
विस्पष्टरूपं ददृशे च शास्त्रं नयेषु लोकस्य हितोदयेषु॥ २॥

विनिग्रहप्रग्रहयोः प्रवृत्तिर्धर्मोपरोधं न चकार तस्य।
हिताशयत्वान्नयनैपुणाच्च परीक्षकस्येव पितुः प्रजासु॥ ३॥

तस्यैवं धर्मेण प्रजाः पालयतः सत्यत्यागोपशमप्रज्ञादिभिश्च परहितपरिणामनात्सविशेषोदात्तक्रमैर्बोधिसम्भारविधिभिरभिवर्धमानस्य कदाचित्कस्मिंश्चिदपराधे यक्षाणामधिपतिना स्वविषयात्प्रव्राजिता ओजोहाराः पञ्च यक्षाः परवधदक्षास्तद्विषयमभिजग्मुः। व्यपगतसर्वोपद्रवत्वाच्च नित्यप्रवृत्तविविधोत्सवं परया सम्पदा समुपेतरूपं प्रमुदिततुष्टपुष्टजनमभिसमीक्ष्य तद्विषयं तन्निवासिनां पुरुषाणामोजांस्यपहर्तुं तेषामभिलाषो बभूव।

ते परेणापि यत्नेन सम्प्रवृत्ताः स्वकर्मणि।
नैव तद्विषयस्थानां हर्तुमोजः प्रसेहिरे॥ ४॥

८ मैत्रीबल जातक

दूसरोके दुःखसे दुःखी होनेवाले अत्यन्त दयालु मनुष्य अपने सुखकी परवाह नही करते है। ऐसी अनुश्रुति है :—

बोधिसत्त्व एक बार मैत्रबल नामक राजा हुए। सब प्राणियोके प्रति उनके मनमें मैत्री-भावना थी। वह महात्मा और दयालु थे। समारके कल्याणमें दत्तचित्त थे। दान दम नियम धर्मानुराग आदि लोकोपकारी सद्गुणोसे उनकी वृद्धि हो रही थी।

दुःख या सुख जो कुछ प्रजाको होता था वह उसी प्रकार उनको भी (अनुभव) होता था; अतः प्रजाकी रक्षा करनेमे निपुण उन राजाने शस्त्र और शास्त्रका खयाल किया। ॥ १ ॥

राजा लोग मुकुट झुकाकर उनकी आज्ञा पालन करते थे, अतः उनका शस्त्र अलंकारके समान (केवल शोभाके लिए) था; किंतु शास्त्रका लोकोपकारी कार्योके लिए अच्छी तरह अवलोकन किया जाता था। ॥ २ ॥

उनकी दण्ड देने और अनुग्रह करनेकी प्रवृत्तिमे धर्ममें बाधा नही हुई। क्योंकि अपनी हितैषिता और नीति-निपुणताके कारण (गुण-दोषोंके) परीक्षक पिताके समान वह प्रजाओके प्रति (उचित व्यवहार करते) थे ॥ ३ ॥

जब वह इस प्रकार धर्मानुसार प्रजाका पालन कर रहे थे और सत्य त्याग शान्ति प्रज्ञा आदि द्वारा दूसरोकी भलाई करते हुए बोधि-प्राप्तिके लिए आवश्यक पुण्य कर्मोकी वृद्धि कर रहे थे, तब एक बार यक्षोके अधिपति (कुबेर) द्वारा किसी अपराधमें अपने देशसे निर्वासित होकर पाच यक्ष उस राज्यमें आये। वे (प्राणियोके) ओज (=तेज) हरण करनेवाले और दूसरोंका वध करनेमें निपुण थे। यह राज्य सब प्रकारके उपद्रवोंसे रहित और अत्यन्त समृद्धिशाली है, यहाँ नित्य भाँति भाँतिके उत्सव होते है, लोग हृष्ट-पुष्ट और संतुष्ट है, यह देखकर उस देशमें रहनेवाले मनुष्योका ओज हरण करनेकी उनकी इच्छा हुई।

वे बड़े यत्नसे अपने कार्यमें लग गये, किंतु उस देशके लोगोंका ओज अपहरण न कर सके। ॥ ४ ॥

तस्य प्रभावातिशयान्नृपस्य ममेति यत्रैव बभूव बुद्धिः।
सैवास्य रक्षा परमास तस्मादोजांसि हर्तुं न विषेहिरे ते ॥ ५ ॥

यदा च परमपि प्रयत्नं कुर्वन्तो नैव शक्नुवन्ति स्म कस्यचिद्विषयनिवासिनो जनस्यौजोऽपहर्तुमथ तेषां परस्परमवेक्ष्यैतदभूत्। किं नु खल्विदं मार्षाः।

अस्मत्प्रभावप्रतिघातयोग्या विद्यातपःसिद्धिमया विशेषाः।
न सन्ति चैषामथ चाद्य सर्वे व्यर्थाभिधानत्वमुपागताः स्मः ॥ ६ ॥

अथ ते यक्षा ब्राह्मणवर्णमात्मानमभिनिर्माय समनुचरन्तो ददृशुः प्रत्यरण्यचरमन्यतमं गोपालकं सशाद्वले छायाद्रुममूले सोपानत्कं संनिषण्णं सपल्लवैर्वनतरुकुसुमैर्विरचितां मालामुद्वहन्तं दक्षिणतो विन्यस्तदण्डपरशुमेकाकिनं रज्जुवर्तनव्यापृतं प्रक्ष्वेडितविलासेन गायन्तमासीनं समुपेत्य चैनमूचुः। थथथददकाकाकाका। भो गवां संरक्षाधिकृत। एवं विविक्ते निर्जनसम्पातेऽस्मिन्नरण्ये विचरन्नेवमेकाकी कथं न बिभेषीति। स तानालोक्याब्रवीत्। कुतो वा भेतव्यमिति। यक्षा ऊचुः। किं त्वया न श्रुतपूर्वा यक्षराक्षसानां पिशाचानां वा निसर्गरौद्रा प्रकृतिरिति।

सहायमध्येऽपि हि वर्तमानो विद्यातपःस्वस्त्ययनैरुपेतः।
येभ्यः कथञ्चित्परिमोक्षमेति शौर्यादवज्ञातभयोऽपि लोकः ॥ ७ ॥

तेभ्यो नृमेदःपिशिताशनेभ्यः कथं भयं तेऽस्ति न राक्षसेभ्यः।
विविक्तगम्भीरभयानकेषु सहायहीनस्य वनान्तरेषु ॥ ८ ॥

इत्युक्ते स गोपालकः प्रहस्यैनानुवाच—

जनः स्वस्त्ययनेनायं महता परिपाल्यते।
देवेन्द्रेणाप्यशक्योऽयं किं पुनः पिशिताशनैः ॥ ९ ॥

वह राजा इतने बड़े प्रभावशाली (पुण्यात्मा) थे कि 'यह (देश) मेरा है' उनका यह विचारमात्र ही उस (देश) का परम रक्षक सिद्ध हुआ, इसलिए वे ओज अपहरण न कर सके। ॥ ५ ॥

जब बहुत यत्न करके भी वे उस देशमें रहनेवाले किसी भी आदमीका तेज अपहरण न कर सके, तब एक दूसरेको देखते हुए उनके मनमें हुआ— "तात, ऐसा क्यो हो रहा है?

हमारे प्रभावमे रुकावट डालने योग्य विद्या तपस्या या सिद्धिका उत्कर्ष तो इनमें है नहीं, फिर भी आज हमलोगोंका (ओजोहार) नाम व्यर्थ हो गया।" ॥ ६ ॥

तब ब्राह्मणका रूप बनाकर विचरते हुए उन यक्षोंने एक वन-चारी गोपालक (ग्वाले) को छाँहदार वृक्षके मूलमें हरी दूबपर बैठा हुआ देखा। वह जूते पहने हुए था तथा जंगली वृक्षोंके फूलों और पल्लवोंसे बनी माला धारण कर रहा था। अपनी दाई ओर लाठी और कुल्हाड़ी रखकर वह अकेला ही रस्सी बाँटनेमें लगा हुआ था और स्वर-कम्पके साथ गीत गा रहा था। इस प्रकार उस बैठे हुएके पास जाकर उन्होंने कहा—"थ थ थ द द का का का का[१]। हे गो-रक्षक, इस एकान्त और निर्जन वनमें अकेला विचरता तू भय-भीत क्यों नही हो रहा है?" उसने उनलोगोंको देखकर कहा—"किससे भय-भीत होऊँ?" यक्षोंने कहा—"क्या तूने पहले नही सुना कि यक्षों राक्षसों और पिशाचोंकी प्रकृति स्वभावसे ही क्रूर होती है?

जो सहायकोके बीच रहते है, विद्या तपस्या और स्वस्त्ययनों (तन्त्र-मन्त्र, मङ्गल-कर्मों) से युक्त है तथा जो अपनी शूरताके कारण भयकी परवाह नही करते वे लोग भी मनुष्योंकी चर्बी और मांस खानेवाले जिन राक्षसोंसे किसी किसी तरह ही छुटकारा पाते है, उन राक्षसोंसे इन एकान्त गम्भीर और भयानक जंगलोंमें तुझ असहायको भय क्यों नही होता है?" ॥ ७-८ ॥

यह सुनकर उस ग्वालेने हँसते हुए उन्हें कहा—"इस देशके लोग महा-स्वस्त्ययन (महान् रक्षक) के द्वारा परिपालित है, इसलिए इन्द्रका भी उनपर कुछ वश नही चल सकता, फिर मांस-भक्षी राक्षसोंका क्या कहना? ॥ ९ ॥

तेन गेह इवारण्ये रात्रावपि यथा दिवा।
जनान्त इव चैकोऽपि निर्भयो विचराम्यहम् ॥१०॥

अथैनं ते यक्षाः कुतूहलप्राबल्यात्सादरमुत्साहयन्त इवोचुः –

तत्कथय कथय तावद्भद्र कीदृशोऽयं युष्माकं स्वस्त्ययनविशेष इति। स तान्प्रहसन्नुवाच—श्रूयतां यादृशोऽयमस्माकमत्यद्भुतः स्वस्त्ययनविशेषः।

कनकगिरिशिलाविशालवक्षाः शरदमलेन्दुमनोज्ञवक्त्रशोभः।
कनकपरिघपीनलम्बबाहुर्वृषभनिभेक्षणविक्रमो नरेन्द्रः ॥११॥

ईदृशोऽस्माकं स्वस्त्ययनविशेषः। इत्युक्त्वा सामर्षविस्मयस्तान्यक्षानवेक्षमाणः पुनरुवाच। आश्चर्यं बतेदम्।

एवं प्रकाशो नृपतिप्रभावः कथं नु वः श्रोत्रपथं न यातः।
अत्यद्भुतत्वादथवा श्रुतोऽपि भवत्सु विप्रत्ययतो न रूढः ॥१२॥

शङ्के गुणान्वेषणविक्लवो वा देशी जनोऽसावकुतूहलो वा।
विवर्जितो भाग्यपरिक्षयाद्वा कीर्त्या नरेन्द्रस्य यतोऽभ्युपैति ॥१३॥

तदस्ति वो भाग्यशेषं यत्तादृशाद्देशकान्तारादिहागताः स्थ। यक्षा ऊचुः। भद्रमुख! कथय किंकृतोऽयमस्य राज्ञः प्रभावो यदस्यामानुषा न प्रसहन्ते विषयवासिनं जनं हिंसितुमिति। गोपालक उवाच। स्वमाहात्म्याधिगतः प्रभावोऽयमस्माकं महाराजस्य। पश्यत महाब्राह्मणाः।

मैत्री तस्य बलं ध्वजाग्रशबलं त्वाचारमात्रं बलं
नाऽसौ वेत्ति रुषं न चाऽह परुषं सम्यक् च गां रक्षति।
धर्मस्तस्य नयो न नीतिनिकृतिः पूजार्थमर्थः सता-
मित्याश्चर्यमयोऽपि दुर्जनधनं गर्वं च नालम्बत ॥१४॥

इसलिए इस जंगलमें वैसे ही जैसे कि अपने घरमें, रात्रिमें भी जैसे कि दिनमें, अकेला भी जैसे कि जन-समुदाय के बीच, विचरता हूँ।" ॥ १० ॥

उन यक्षोंने कुतूहलकी प्रबलताके कारण उसे आदरके साथ मानो उत्साहित करते हुए कहा—"हे भद्र, कहो कहो तुम्हारा यह कौन-सा स्वस्त्ययन-विशेष (विशिष्ट रक्षक) है?" उसने हँसते हुए उन्हें कहा—"हमारा यह अत्यन्त अद्भुत स्वस्त्ययन-विशेष जैसा है सो सुनिये।

सुवर्ण-पर्वतकी शिलाके समान विशाल वक्षःस्थलवाला, शरद् ऋतुके विमल चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखवाला, सुवर्ण-दण्डके समान मोटी और लम्बी बाहुओंवाला, साँड़की-सी दृष्टि और पराक्रम वाला हमारा राजा, ॥ ११ ॥

यही है हमारा परम स्वस्त्ययन।" इतना कहकर रोष और विस्मयके साथ उन यक्षोंको देखते हुए उसने पुनः कहा—"यह कितना आश्चर्य है?

राजाका प्रभाव इतना प्रकट है और आपलोगोंने सुना नही, यह कैसे? या यदि सुना भी तो अति अद्भुत होनेके कारण आपको विश्वास ही नही हुआ। ॥ १२ ॥

मै समझता हूँ, उस देशके लोग, जहाँसे कि आप आये है, सद्गुणोंकी खोज करनेमें असमर्थ हैं, या इसमें उनका कुतूहल ही नही है, या अपने भाग्य (पुण्य-कर्मो) के क्षीण होनेसे राजाकी कीर्ति (सुनने) से वञ्चित है। ॥१३॥

किन्तु आपलोगोंका भाग्य (पुण्य) अभी कुछ बचा हुआ है जो आप उस जंगली देशसे यहाँ आ गये हैं।" यक्षोंने कहा—"भद्रमुख, कहो किस कारणसे राजाका ऐसा प्रभाव है जो यक्ष-राक्षस आदि उनके राज्यमें रहनेवाले किसी व्यक्तिकी हिंसा नहीं कर सकते?" गोपालकने उत्तर दिया—"हमारे महाराजने अपने माहात्म्यसे यह प्रभाव प्राप्त किया है। हे महाब्राह्मण, देखो।

मैत्री ही उनका बल है, पताकाओंसे रंग-बिरंगा सैन्यबल तो आचारकी रक्षाके लिए है, वह क्रोधसे अनभिज्ञ हैं, कठोर वचन नहीं कहते और पृथ्वीकी सम्यक् रक्षा करते है। धर्म ही उनका नेता है, न कि नीच राज-नीति। उनका धन सज्जनोंकी पूजाके लिए है। इतने आश्चर्यमय होने पर भी वह दुर्जनोंकी सम्पत्ति[1] नहीं लेते हैं और न अभिमान ही करते हैं। ॥ १४ ॥

एवमादिगुणशतसमुदितोऽयमस्माकं स्वामी। तेनास्य न प्रसहन्ते विषयनिवासिनं जनं हिंसितुमुपद्रवाः। अपि च। कियदहं वः शक्ष्यामि वक्तुम्। नृपतिगुणश्रवणकौतूहलैस्तु भवद्भिर्नगरमेव युक्तं प्रवेष्टुं स्यात्। तत्र हि भवन्तः स्वधर्मानुरागाद्व्यवस्थितार्यमर्यादं नित्यक्षेमसुभिक्षत्वात्प्रमुदितसमृद्धमनुद्धतोदात्तवेषमभ्यागतातिथिजनविशेषवत्सलं नृपतिगुणाक्षिप्तहृदयं तत्कीर्त्याश्रयाः स्तुतीर्मङ्गलमिव स्वस्त्ययनमिव च प्रहर्षादभ्यस्यन्तं जनं दृष्ट्वा राज्ञो गुणविस्तरमनुमास्यन्ते। सत्यां च गुणबहुमानोद्भावनायां तद्दिदृक्षया यूयमवश्यं तद्गुणप्रत्यक्षिणो भविष्यथेति। अथ ते यक्षाः स्वप्रभावप्रतिघातात्तस्मिन्राजनि सामर्षहृदया भावप्रयुक्तयापि युक्तया तया तद्गुणकथया नैव मार्दवमुपजग्मुः।

सु॰ प्रायेण खलु मन्दानाममर्षज्वलितं मनः।
यस्मिन्वस्तुनि तत्कीर्त्या तद्विशेषेण दह्यते॥१५॥

प्रदानप्रियतां तु समभिवीक्ष्य तस्य राज्ञस्ते यक्षास्तदपकारचिकीर्षवः समभिगम्य राजानं सन्दर्शनकाले भोजनमयाचन्त। अथ स राजा प्रमुदितमनास्तदधिकृतान्पुरुषान्समादिदेश क्षिप्रमभिरुचितं भोजनं ब्राह्मणेभ्यो दीयतामिति। अथ ते यक्षाः समुपहृतं राजार्हमपि भोजनं हरिततृणमिव व्याघ्रा नैव प्रत्यगृह्णन्नैवंविधं भोजनं वयमश्नीम इति। तच्छ्रुत्वा स राजा समभिगम्यैनानब्रवीत्। अथ कीदृशं भोजनं युष्माकमुपशेते। यावत्तादृशमन्विष्यतामिति। यक्षा ऊचुः—

प्रत्यग्रोष्माणि मांसानि नराणां रुधिराणि च।
इत्यन्नपानं पद्माक्ष! यक्षाणामक्षतव्रत॥१६॥

ऐसे सैकड़ों गुणोंसे युक्त है हमारे ये स्वामी। इसीलिए इनके राज्यमें रहनेवाले मनुष्यकी हिंसा (यक्ष आदि) उपद्रवकारी नही कर सकते और भी। मैं कहाँ तक बतला सकूंगा ? यदि आपको राजाके सद्गुण सुनने का कुतूहल है तो नगरमें जाना ही उचित होगा। वहाँ आप देखेंगे कि अपने धर्मसे अनुराग करनेवाली जनता आर्य-मर्यादाकी रक्षा करती है नित्य कुशल-क्षेम और अन्नकी प्रचुरताके कारण वह प्रसन्न और समृद्धिशाली है, विनम्र और उत्तम वेष धारण करती है, आगत अतिथियोंसे खूब स्नेह करती है और राजाके गुणोंसे मुग्ध है। आनन्दसे उनकी कीर्ति-परक स्तुतियोंका गान करती है, जैसे मंगलाचरण और स्वस्ति-वाचनका पाठ कर रही हो। यह सब देखकर आप राजाकी गुण-राशिका अनुमान करेंगे। उनके सद्गुणोंके प्रति सम्मान-भाव उत्पन्न होनेपर आपको उनके दर्शनकी अभिलाषा होगी और आप अपनी आँखोंसे उनके गुणोंको देखेंगे। अपने प्रभाव (कार्य) में रुकावट होनेके कारण राजाके प्रति उन यक्षोंके मनमे क्रोध था, इसलिए सद्भावपूर्वक कहे गये राजाके गुणोके सच्चे वृत्तान्तको सुनकर भी उनके मनसे निष्ठुरता नही गई।

प्रायः ऐसा होता है कि जिस वस्तुके प्रति मूर्खोंका मन क्रोधसे प्रज्वलित होता है उसकी कीर्ति सुनकर वह और भी दग्ध होता है। ॥ १५ ॥

राजाकी दान-प्रियता देखकर, यक्षोंने उनका अपकार करनेकी इच्छासे दर्शन-कालमें उनके समीप जाकर भोजन माँगा। राजाने प्रसन्न मनसे भोजनके अधिकारी पुरुषोंको आदेश दिया—"इन ब्राह्मणोंको शीघ्र स्वादिष्ठ भोजन दीजिये।" उन यक्षोंके लिए लाया गया भोजन राजाके (खानेके) योग्य होनेपर भी उन्होंने उसे ग्रहण नहीं किया, जैसे बाघ हरी घासको ग्रहण नहीं करते। यक्षोंने कहा—"हम ऐसा खाना नही खाते हैं।" यह सुनकर राजाने उनके पास जाकर पूछा—"तब किस प्रकारका भोजन आपके (पाचन या रुचि) के अनुकूल पडता है? बतलाइये जिसमें उसकी खोज की जाय।" यक्षोंने उत्तर दिया—

"हे कमल-नयन, हे अखण्ड-व्रत, मनुष्योंका ताजा मांस और गर्म रुधिर —यही तो यक्षोंका खाना और पीना है।", ॥ १६ ॥

इत्युक्त्वा दंष्ट्राकरालवदनानि दीप्त-पिङ्गल-केकर-रौद्रनयनानि स्फुटितचिपिटविरूपघोणानि ज्वलदनलकपिलकेशश्मश्रूणि सजलजलधरान्धकाराणि विकृतभीषणानि स्वान्येव वपूंषि प्रत्यपद्यन्त। समभिवीक्ष्य चैनान्स राजा पिशाचाः खल्विमे न मानुषास्तेनास्मदीयमन्नपानं नाभिलषन्तीति निश्चयमुपजगाम।

अथ तस्य नरेन्द्रस्य प्रकृत्या करुणात्मनः।
भूयसी करुणा तेषु समभूच्छुद्धचेतसः ॥१७॥

करुणैकतानहृदयश्च तान्यक्षाननुशोचन्नियतमीदृशमर्थं चिन्तयामास।

दयावतस्तावदिदमन्नपानं सुदुर्लभम्।
प्रत्यहं च तदन्वेष्यं किन्नु दुःखमतः परम् ॥१८॥

निर्दयस्याप्यशक्तस्य विघातैकरसः श्रमः।
शक्तस्याप्यहिताभ्यासात्किंस्वित्कष्टतरं ततः ॥१९॥

एवंविधाहारपरायणानां कारुण्यशून्याशिवमानसानाम्।
प्रत्याहमेषां दहतां स्वमर्थं दुःखानि यास्यन्ति कदा नु नाशम् ॥२०॥

तत्कथमिदानीमहमेषामीदृशाहारसम्पादनादेकाहमपि तावत्परहिंसाप्राणविघातं कुर्याम्।

नहि स्मराम्यर्थितयागतानामाशाविपर्यासहतप्रभाणि।
हिमानिलम्लापितपङ्कजानां समानदैन्यानि मुखानि कर्तुम् ॥२१॥

भवतु। दृष्टम्।

स्वतः शरीरात्स्थिरपीवराणि दास्यामि मांसानि सशोणितानि।
अतोऽन्यथा को हि मम क्रमः स्यादित्यागतेष्वर्थिषु युक्तरूपः ॥२२॥

इतना कहकर उन्होंने अपने विकृत और भयंकर रूप धारण कर लिये। बड़े बड़े दाँतोंसे उनके मुख विकराल लगते थे। उनके नेत्र लाल पीले टेढ़े और भयंकर थे। उनकी नाकें खूब खुली हुई, चिपटी और कुरूप थीं। उनकी मूँछ, दाढ़ी और केश आगकी लपटोंके समान भूरे थे। उनके शरीर जलसे भरे हुए बादलके समान काले थे। उन्हें देखकर राजाको निश्चय हो गया—"ये मनुष्य नहीं पिशाच है, इसीलिए हमारा भोजन इन्हें पसन्द नहीं है।"

तब स्वभावसे ही दयालु उस राजाके निर्मल मनमें उनके प्रति बड़ी दया हुई। ॥ १७ ॥

तब उन यक्षोंके लिए शोक करते हुए दयार्द्रहृदय राजाने इस प्रकार चिन्तन किया—

"जो दयालु है उसके लिए यह अन्न-पान (नर-मांस और रुधिर) प्राप्त करना कठिन है, प्रतिदिन इसकी खोज करनी पड़ेगी, इससे बढ़कर दुःख क्या हो सकता है? ॥ १८ ॥

जो निर्दय है वह यदि (ऐसा अन्न-पान प्राप्त करनेमें) असमर्थ है तो उसका परिश्रम व्यर्थ होगा। या यदि वह समर्थ भी है तो उसको बार-बार पाप-कर्म करना पड़ेगा, इससे बढ़कर कष्ट-कर क्या होगा? ॥ १९ ॥

इस प्रकारके आहारमें आसक्त, क्रूर एवं दुष्ट हृदय वाले ये यक्ष अपने ही अर्थ (सुख, लक्ष्य, मोक्ष) की हानि कर रहे हैं। क्या कभी इनके दुःखोंका अन्त भी होगा? ॥ २० ॥

इस समय इन्हें इस प्रकारका आहार देनेके निमित्त मैं क्यों एक दिनके लिए भी पर-हिंसा और प्राणि-वध करूँ?

मुझे स्मरण नही है कि मैंने कभी आये हुए याचकोंको निराश करके उनके मुखोंको उदास, सर्द हवासे मुरझाये हुए कमलोंके समान दीन-मलिन किया हो। ॥ २१ ॥

अच्छा। अब मैंने जान लिया।

अपने ही शरीरसे शोणित-सहित स्थिर और पुष्ट मांस काटकर इन्हें दूँगा। इसके अतिरिक्त आये हुए याचकों (का सत्कार करने) के लिए मेरे लिए दूसरा कौन-सा उचित उपाय है? ॥ २२ ॥

स्वयंमृतानां हि निरूष्मकाणि भवन्ति मांसानि विशोणितानि ।
प्रियाणि चैषां नहि तानि सम्यक् बुभुक्षया पीडितविग्रहाणाम् ॥२३॥

जीवतोऽपि च कुतोऽहमन्यस्मान्मांसमादास्ये मामभिगम्य चैते तथैव क्षुत्तर्षपरिक्षामनयनवदना निष्फलाशाप्रणयत्वादधिकतरविघातातुरमनसः कथं नाम प्रतियास्यन्ति । तदिदमत्र प्राप्तकालम् ।

दुष्टव्रणस्येव सदातुरस्य कडेवरस्यास्य रुजाकरस्य ।
करोमि कार्यातिशयोपयोगादत्यर्थरम्यं प्रतिकारखेदम् ॥२४॥

इति विनिश्चित्य स महात्मा प्रहर्षोद्गमस्फीतीकृतनयनवदनशोभः स्वं शरीरमुपदर्शयंस्तान्यक्षानुवाच—

अमूनि मांसानि सशोणितानि धृतानि लोकस्य हितार्थमेव ।
यद्यातिथेयत्वमुपेयुरद्य महोदयः सोऽभ्युदयो मम स्यात् ॥२५॥

अथ ते यक्षा जानन्तोऽपि तस्य राज्ञस्तमध्याशयमत्यद्भुतत्वादश्रद्दधाना राजानमूचुः—

अर्थिनात्मगते दुःखे याच्ञादैन्येन दर्शिते ।
ज्ञातुमर्हति दातैव प्राप्तकालमतः परम् ॥२६॥

अथ राजाऽनुमतमिदमेषामिति प्रमुदितमनाः सिरामोक्षणार्थं वैद्या आज्ञाप्यन्तामिति समादिदेश । अथ तस्य राज्ञोऽमात्याः स्वमांसशोणितप्रदानव्यवसायमवेत्य सम्भ्रमामर्षव्याकुलहृदया व्यक्तमीदृशं कञ्चिदर्थं स्नेहवशादूचुः—नार्हति देवः प्रदानहर्षातिशयादनुरक्तानां प्रजानां हिताहितक्रममनवेक्षितुम् । न चैतदविदितं देवस्य यथा—

यद्यत्प्रजानामहितोदयाय तत्तत्प्रियं मानद ! राक्षसानाम् ।
परोपरोधार्जितवृत्तितुष्टिरेवंस्वभावानघ जातिरेषाम् ॥२७॥

स्वयं मरे हुए प्राणियोंका मांस ठंढा और विना लोहूका होता है। यह इन्हें पसन्द नहीं होगा। इन्हे तेज भूख लगी हुई है, जिससे कि इनके शरीरमें पीड़ा हो रही है। ॥ २३ ॥

में क्योंकर दूसरे जीवित प्राणीका मांस लूँ? मेरे समीप आकर निराशा और निष्फल याचनासे अत्यन्त दुःखी होकर ये भूख-प्यासमे धँसी आँखें और सूखे मुख ही कैसे लौटेंगे? इसलिए अब जो कर्तव्य है उसका समय आ गया है।

यह शरीर दुष्ट फोड़ेके समान सदा पीड़ित रहनेवाला और क्लेशका घर है। मैं इसे उत्तम कार्यमें लगाकर अच्छी तरह इसकी पीड़ाका प्रतीकार करूँगा।" ॥ २४ ॥

ऐसा निश्चय कर, हर्षातिरेकसे विकसित आँखों और खिले हुए चेहरेकी शोभासे युक्त हो, उस महात्माने अपना शरीर दिखलाते हुए उन यक्षोंसे कहा—

"मैंने यह मास और शोणित लोकोपकारके लिए ही धारण किया है। यदि आज इसका अतिथि-सत्कार में उपयोग हो तो यह मेरा बड़ा सौभाग्य होगा।"॥२५॥

राजाके भीतरी आशयको जानकर भी यक्षोंको इसपर विश्वास नही हुआ, क्योंकि यह उनके लिए अत्यन्त आश्चर्यजनक था। उन्होंने राजासे कहा—

"याचकके द्वारा दीनतापूर्वक याचना करके अपना दुःख प्रकट किया जानेपर, किसका काल है (क्या कर्तव्य है)—यह दाताको ही जानना चाहिए।" ॥ २६ ॥

इन्होंने इस (निश्चय) का अनुमोदन किया है ऐसा समझकर राजाने आदेश दिया "रक्तकी धमनियाँ खोलने के लिए वैद्योंको आज्ञा दीजिए।" राजाने अपना रक्त और मांस देनेका निश्चय किया है, यह जानकर उनके अमात्य आवेग और क्रोधसे व्याकुल हो उठे और स्नेहके वशीभूत होकर उन्होंने साफ साफ यों कहा—"दान देनेके हर्षातिरेकसे अपनी अनुरक्त प्रजाके हित-अहितकी उपेक्षा करना श्रीमान्के लिए उचित नही है। श्रीमान्से यह छिपा हुआ नहीं है कि—

जिन बातोंसे प्रजाओंका अहित होता है वे ही राक्षसोंको प्रिय लगती है; दूसरोंकी हिसा करके अपनी आजीविका उपार्जन करनेमें संतोष अनुभव करना इनका जातीय स्वभाव है। ॥ २७ ॥

सुखेष्वसक्तश्च बिभर्षि देव ! राज्यश्रमं लोकहितार्थमेव ।
स्वमांसदानव्यवसायमस्मात्स्वनिश्चयोन्मार्गमिमं विमुञ्च ॥२८॥

असंशयं न प्रसहन्त एते त्वद्वीर्यगुप्तं नरदेव लोकम् ।
अनर्थपाण्डित्यहतास्तथा हि नयेन वाञ्छन्त्यनयं प्रजानाम् ॥२९॥

मेदोवसाद्यैस्त्रिदशा मखेषु प्रीतिं हुताशाभिहुतैर्व्रजन्ति ।
सत्कारपूतं भवदीयमन्नं सम्पन्नमेषां किल नैव रुच्यम् ॥३०॥

कामं नास्मद्विधजनाधेयबुद्धयो देवपादाः स्वकार्यानुरागस्त्वयमस्मानेवमुपचारपथाद् भ्रंशयति । पञ्चानाममीषामर्थे सकलं जगदनर्थीकर्तव्यमिति कोऽयं धर्ममार्गो देवस्य । अपि च । किंकृतेयमस्मास्वेवं निष्प्रणयता केन वास्माकं स्वाम्यर्थे विनियोज्यमानानि विनिगूढपूर्वाणि मांसशोणितानि यदपरिक्षीणेष्वेवामीषु स्वानि देवो दातुमिच्छतीति । अथ स राजा तानमात्यानुवाच--

संविद्यमानं नास्तीति ब्रूयादस्मद्विधः कथम् ।
न दास्यामीत्यसत्यं वा विस्पष्टमपि याचितः ॥३१॥

धर्मव्यवस्थासु पुरःसरः सन्स्वयं व्रजेयं यदि कापथेन ।
अस्मद्गताचारपथानुगानां भवेदवस्था मम का प्रजानाम् ॥३२॥

यतः प्रजा एव समीक्षमाणः सारं शरीरादहमुद्धरिष्ये ।
कश्च प्रभावो जगदर्थसाधुर्मात्सर्यहार्याल्पहृदो मम स्यात् ॥३३॥

यदपि चास्मत्प्रेमबहुमानावर्जितं प्रणयविस्रम्भगर्भमभिधीयते भवद्भिः किङ्कृतेयमस्मास्वेवं निष्प्रणयता यदपरिक्षीणेष्वेव नो मांसशोणितेषु स्वानि देवो दातुमिच्छतीति । अत्र वोऽनुनेष्यामि । न खलु मे युष्मासु प्रतिहतविषयः प्रणयमार्गो विस्रम्भविरहात्परिशङ्कागहनदुरवगाहो वा । किन्तु--

हे देव, आप सुखोंमें अनासक्त रहकर लोक-हित के लिए राज्य-भार वहन कर रहे हैं; इसलिए अपना मांस देनेका जो यह निश्चय है, इस निश्चयरूपी कुमार्गको छोड़िये। ॥ २८ ॥

निश्चय ही, हे राजन्, आपके वीर्य (वीरता, प्रभाव) से रक्षित प्रजाजनपर इनका कुछ वश नहीं चलता है[1], इसलिए अनर्थ-बुद्धिसे युक्त[2] ये यक्ष इस उपायसे प्रजाओंका अनिष्ट करना चाहते है। ॥ २९ ॥

यज्ञोंके अवसरपर अग्निमें हवन की गई चर्बी आदिसे देवगण प्रसन्न होते हैं, किंतु आपके द्वारा सादर समर्पित यह पवित्र और सम्पन्न भोजन इन्हें पसन्द नहीं है। ॥ ३० ॥

यद्यपि हम-जैसे लोगोंके सन्मुख श्रीमान् अपना अभिप्राय (विचार) प्रकट करनेके लिए बाध्य नहीं है तो भी अपने कर्तव्यका अनुराग हमें इस व्यवहार-मार्गसे विचलित कर रहा है। इन पाँचके लिए श्रीमान् समूचे संसारका अनर्थ कर रहे हैं, यह कौन-सा धर्म-मार्ग है ? और भी। किस कारणसे देव हमारे ऊपर इस प्रकार स्नेह-रहित हो रहे हैं ? या पूर्वमें स्वामीके निमित्त हमारे मांस और शोणितका प्रयोजन होनेपर हमने उसे छिपाया भी है जो उसके अक्षुण्ण रहते ही देव अपना ही शोणित और मांस देनेकी इच्छा करते हैं ?" तब राजाने उन अमात्योंसे कहा—

"साफ साफ माँगनेपर और (चीज) मौजूद रहनेपर 'नहीं है', या 'नहीं दूंगा' यह असत्य या अनुचित वचन हमारे-जैसा आदमी कैसे कह सकता है ? ॥३१॥

धर्मकी बातोंमें आपका नेता होकर मैं स्वयं यदि कुमार्गपर चलूं तो मेरे आचरणका अनुसरण करनेवाली मेरी प्रजाओंका क्या हाल होगा ? ॥३२॥

इसलिए प्रजाओं (के हित) को देखता हुआ ही मैं अपने शरीरसे सार निकालना चाहता हूँ। तब यदि कृपणताके वशीभूत होकर मैं अपने हृदयको छोटा कर लूं तो लोक-कल्याणके लिए मेरा क्या प्रभाव होगा ? ॥ ३३ ॥

प्रेम और संमानके वशीभूत होकर, स्नेह और विश्वासपूर्वक आपलोगोंने कहा 'किस कारणसे देव हमारे ऊपर इतने स्नेह-रहित हो रहे हैं कि हमारे मांस और शोणितके अक्षुण्ण रहते, देव अपना ही देना चाहते हैं।' इस सम्बन्धमें मैं आपसे अनुनय करूंगा। विश्वासके अभावसे मेरा स्नेह-मार्ग अवरुद्ध हो गया हो या शंकाके कारण वह बीहड़ और दुर्गम हो गया हो, ऐसी कोई बात नहीं है। किंतु—

धने तनुत्वं क्रमशो गते वा भाग्यानुवृत्त्या क्षयमागते वा ।
विजृम्भमाणप्रणयः सुहृत्सु शोभेत न स्फीतधनः कृशेषु ॥३४॥

विवर्धितेष्वर्थिजनार्थमेव संविद्यमानेषु च मे बृहत्सु ।
गात्रेषु मांसोपचयोन्नतेषु युष्मास्वपि स्यात्प्रणयो विरूपः ॥३५॥

असंस्तुतानामपि न क्षमेय पीडां कथं कैव कथा भवत्सु ।
स्वान्येव मांसानि यतोऽस्मि दित्सुर्मां चैव याचन्त इमे न युष्मान् ॥३६॥

तदलमस्मदतिस्नेहाद्धर्मविघ्ननिःसाध्वसतया । अनुचितः खल्वयमत्र भवतामस्मदर्थिषु समुदाचारः । मीमांसितव्यमपि च तावदेतत्स्यात् ।

स्वार्थमन्नादि दित्सन्तं कथं स्यात्प्रतिषेधयन् ।
साधुवृत्तिरसाधुर्वा प्रागेवैवंविधं विधिम् ॥३७॥

तदलमनेनात्र वो निर्बन्धेन न्यायोपपरीक्षया क्रियतामस्मत्साचिव्यसदृशमुन्मार्गावरणं मनसः । अनुमोदनानुगुणवचसः खल्वत्रभवन्तः शोभेरन्नैवमधीरनयनाः कुतः—

नैकोपयोगस्य धनस्य तावन्न प्रत्यहं याचनका भवन्ति ।
एवंविधस्त्वर्थिजनोऽधिगन्तुं न देवताराधनयापि शक्यः ॥३८॥

एवंविधे चार्थिजनेऽभ्युपेते देहे विनाशिन्यसुखास्पदे च ।
विमर्शमार्गोऽप्यनुदात्तता स्यान्मात्सर्यदैन्यं तु परा तमिस्रा ॥३९॥

धीरे धीरे धन घटनेपर या भाग्यके फेरसे धन क्षीण (नष्ट) हो जाने-पर यदि मित्रोंके ऊपर प्रेम प्रकट किया जाय (अर्थात् उनसे याचना की जाय) तो यह उचित हो सकता है, किंतु अपने पास विपुल सम्पत्तिके रहते अल्प सम्पत्तिवाले मित्रोंके ऊपर प्रेम प्रकट करनेमें शोभा नहीं है। ॥ ३४ ॥

मासकी वृद्धिसे ऊँचे उठे हुए ये मेरे विशाल अङ्ग याचकोंके लिए ही पोसे गये है। इन अङ्गोंके रहते आपलोगोके ऊपर प्रेम प्रकट करना अनुचित होगा। ॥ ३५ ॥

मै अपरिचितोंकी भी पीड़ाको नहीं सह सकता हूँ, फिर आपलोगोंका क्या कहना? इसलिए मैं अपना ही मास देना चाहता हूँ। और, ये मुझसे ही मांगते है, आपसे नहीं।

मेरे प्रति अत्यन्त स्नेह होनेके कारण आप निर्भय होकर इस धर्म-कार्यमें विघ्न डाल रहे हैं; इसको छोड़िये। मेरे याचकोंके सम्बन्धमें आपका यह आचरण अनुचित है। आपको इस बातपर भी विचार करना चाहिए—

जो अपने (हितके) लिए अन्न आदि देनेकी इच्छा करता है उसके मना करनेवालोंको क्या कहा जाय? सज्जन या दुर्जन? फिर इस प्रकारके (दान–) कार्यको रोकनेवालेका क्या कहना? ॥ ३७ ॥

इस सम्बन्धमें आप अपने इस हठको छोड़िये। इस बातकी अच्छी तरह परीक्षा कीजिये और मेरे साचिव्य (सचिव होने) के अनुरूप इस मानसिक अन्धकारका परित्याग कीजिये। उपयुक्त शब्द कहकर मेरा समर्थन करनेमें ही आपकी शोभा है न कि अपनी ऑखोंको अधीर करने में।

(केवल पेट भरनेके) एक ही काममें आनेवाले धनके याचक तो प्रतिदिन आते ही रहते है, किंतु इस प्रकारके याचक तो देवताओंकी आरा-धना करनेपर भी प्राप्त नही हो सकते। ॥ ३८ ॥

इस प्रकारके याचक आये हुए हैं, तथा शरीर नाशवान् और क्लेशोंका घर है, ऐसी अवस्थामें विचार-विमर्श करना भी नीचता होगी, फिर कृपणता और दीनता प्रकट करना तो घोर मानसिक अन्धकार होगा। ॥ ३९ ॥

तन्न मा वारयितुमर्हन्त्यत्रभवन्त इत्यनुनीय स राजा स्वां पर्षदमाहूय वैद्यान्पञ्च सिराः स्वशरीरे मोक्षयित्वा तान्यक्षानुवाच—

धर्मकर्मणि साचिव्यं प्रीतिं च परमां मम।
भवन्तः कर्तुमर्हन्ति देयस्यास्य प्रतिग्रहात् ॥४०॥

ते तथेत्युक्त्वाञ्जलिपुटैरेव राज्ञो रक्तचन्दनरसाभिताम्रं रुधिरं पातुमुपचक्रमिरे।

स पीयमानक्षतजः क्षितीशः क्षपाचरैर्हेमवपुश्चकाशे।
सन्ध्यानुरक्तैर्जलभारनम्रैः पयोधरैर्मेरुरिवोपगूढः ॥४१॥

प्रीतिप्रकर्षाद्धृतिसम्पदा च वपुर्गुणादेव च तस्य राज्ञः।
मम्लौ न गात्रं न मुमूर्छ चेतः संचिक्षिपे न क्षतजं क्षरद्वा ॥४२॥

विनीततर्षक्लमास्तु ते यक्षाः पर्याप्तमनेनेति राजानमूचुः—

अनेकदुःखायतने शरीरे सदा कृतघ्नेऽपि नराधिपस्य।
गतेऽर्थिसंमाननसाधनत्वं हर्षानुकूलं ग्रहणं बभूव ॥४३॥

अथ स राजा हर्षप्रबोधादधिकतरनयनवदनप्रसादो नीलोत्पलदलनीलविमलपत्रं रत्नप्रभोद्भासुररुचिरत्सरुं निशितं निस्त्रिंशमादाय स्वमांसानि च्छित्त्वा तेभ्यः प्रायच्छत्।

ह्रियमाणावकाशं तु दानप्रीत्या पुनः पुनः।
न प्रसेहे मनस्तस्य च्छेददुःखं विगाहितुम् ॥४४॥

आकृष्यमाणं शितशस्त्रपातैः प्रीत्या पुनर्दूरमपास्यमानम्।
खेदालसत्त्वादिव तस्य दुःखं मनः समुत्सर्पणमन्दमासीत् ॥४५॥

इसलिए मुझे मना करना आपके लिए उचित नहीं है," इस प्रकार अनुनय कर राजाने अपनी परिषद्‌को बुलाया और वैद्यों-द्वारा अपने शरीरकी पाँच रक्त-धमनियोंको कटवाकर उन यक्षोंसे कहा—

"इस दानको स्वीकार कर धर्म-कार्यमें मेरी सहायता करते हुए आप मुझे अत्यन्त आनन्दित कीजिये।" ॥ ४० ॥

"बहुत अच्छा" कहकर वे अपने अञ्जलि-पुटोंसे ही राजाका रुधिर, जो रक्त-चन्दनके रसके समान ताम्रवर्ण था, पीने लगे।

जब उन राक्षसोंके द्वारा लोहू पिया जा रहा था तब राजाका सुनहला शरीर ऐसे शोभित हुआ जैसे (सोनेका) सुमेरु पर्वत, जो सायंकालकी लालीसे रंगे हुए तथा जल-भारसे झुके हुए (काले) बादलोंसे आलिङ्गित हो रहा हो। ॥४१॥

आनन्दके अतिरेक, धैर्यकी सम्पत्ति तथा उत्तम रूप[1] के कारण राजाका न शरीर मुरझाया, न चित्त मूर्छित हुआ और न रक्तका झरना ही बन्द हुआ। ॥ ४२ ॥

प्यास और थकावट दूर होनेपर यक्षोंने राजासे कहा—"इतना ही पर्याप्त है।"

यद्यपि यह शरीर सदा कृतघ्न रहनेवाला तथा अनेक दुःखोंका घर है तो भी यह याचकोंके आदर-सत्कारका साधन साबित हुआ, यह सोचकर राजाको आनन्द हुआ। ॥ ४३ ॥

आनन्दकी अनुभूतिसे उनके नेत्र और मुख और भी खिल उठे। नीले कमलकी पंखुड़ीके समान नीले और निर्मल पत्र (धार) वाली तेज तलवार से, जिसकी सुन्दर मूँठ रत्नोंकी प्रभासे चमक रही थी, राजाने अपना मांस काटकर उन्हें दिया।

दान देनेकी प्रसन्नतासे बार बार उनका हृदय इतना भर गया कि कि उसमें (मांस) काटनेसे होनेवाले दुःखके घुसने (की अनुभूति) के लिए स्थान ही न रहा। ॥ ४४ ॥

तलवारकी तेज चोटोंसे समीप खींचा जाता हुआ और फिर प्रीति द्वारा दूर भगाया जाता हुआ कष्ट मानो थकावटसे चकनाचूर होकर मन्द गतिसे उनके मनके समीप जाता था। ॥ ४५ ॥

स प्रीतिमानेव निशाचरांस्तान्सन्तर्पयन्स्वैः पिशितैस्तथासीत् ।
क्रूराणि तेषामपि मानसानि येनासुराविष्कृतमार्दवानि ॥४६॥
धर्मप्रियत्वात्करुणावशाद्वा त्यजन्परार्थे प्रियमात्मदेहम् ।
द्वेषाग्निदग्धान्यपि मानसानि प्रसादसौवर्ण्यनवानि कुर्यात् ॥४७॥

अथ ते यक्षास्तं राजानं स्वमांसोत्कर्तनपरं तथैवास्खलितवदन-प्रसादमविकम्प्यमानं मांसच्छेदवेदनाभिरभिवीक्ष्य परं प्रसादं विस्मयञ्चोपजग्मुः ।

आश्चर्यमद्भुतमहो बत किंस्विदेत-
त्सत्यं न वेति समुदीर्णविचारहर्षाः ।
राजन्यमर्षमपमृद्य मनःप्रसादं
तत्संस्तुतिप्रणतिभिः प्रथयाम्बभूवुः ॥४८॥

अलमलं देव ! विरम्यतां स्वशरीरपीडाप्रसङ्गात् । सन्तर्पिताः स्मस्तवानयाद्भुतया याचनकजनमनोहरया प्रतिपत्त्येति ससम्भ्रमाः सप्रणामं विनिवार्य राजानं प्रसादाश्रुपरिषिक्तवदनाः सबहुमानमुदीक्षमाणाः पुनरूचुः—

स्थाने भक्तिवशेन गच्छति जनस्त्वत्कीर्तिवाचालतां
स्थाने श्रीः परिभूय पङ्कजवनं त्वत्संश्रयश्लाघिनी ।
व्यक्तं शक्रसनाथतामपि गता त्वद्वीर्यगुप्तामिमां
द्यौः पश्यत्युदितस्पृहा वसुमतीं नो चेदहो वञ्च्यते ॥४९॥

किं बहुना । एवंविधजनाभ्युपपन्नः सभाग्यः खलु मनुष्यलोकः । युष्मदायासाभ्यनुमोदनात्तु वयमेवात्र दग्धाः । भवद्विधजनापश्रयाच्छक्यमित्थङ्गतैरप्यात्मानं समुद्धर्तुमिति स्वदुष्करप्रतीघाताशया भवन्तं पृच्छामः ।

अनादृत्य सुखप्राप्तामनुरक्तां नृपश्रियम् ।
किं तदत्यद्भुतं स्थानं पथानेन यदीप्ससि ॥५०॥

वह अपने मांसके टुकड़ोसे उन निशाचरोंको तृप्त करते हुए इतने प्रसन्न थे कि उन (राक्षसो) के कठोर मन भी कोमल बन गये। ॥ ४६ ॥

धर्मानुराग या दयाके वशीभूत होकर दूसरोंके लिए अपने प्रिय शरीरको त्यागनेवाला मनुष्य द्वेषाग्निसे जले हुए चित्तको भी प्रसन्न करके निर्मल और नया बना सकता है। ॥ ४७ ॥

राजाको अपना मांस काटनेमे तत्पर और उसी प्रकार प्रसन्नमुख, मास काटनेकी पीड़ामें भी अविचल, देखकर उन यक्षोंको बड़ी श्रद्धा और विस्मय हुआ।

"आश्चर्य! आश्चर्य! यह क्या है? सत्य या असत्य?" इस प्रकारके विचारसे उन्हे आनन्द हुआ। राजाके प्रति उनका क्रोध दूर हो गया। उनकी स्तुति कर और उन्हें प्रणाम कर उन यक्षोंने अपनी आन्तरिक श्रद्धा प्रकट की। ॥ ४८ ॥

"देव, समाप्त करें। अपने शरीरको अब और कष्ट मत दें। याचकोंके मनको मुग्ध करनेवाले आपके इस अद्भुत कार्यसे हम सन्तुष्ट है।" इस प्रकार घबडाहटमें आकर उन्होंने नम्रतापूर्वक राजाको रोका। पवित्रताके आँसुओंसे उनके मुख सिक्त हो गये। राजाकी ओर सम्मानपूर्वक देखते हुए उन्होंने फिरसे कहा :—

"भक्तिके वशीभूत होकर लोग आपकी कीर्तिका बखान करते हैं, यह उचित ही है। लक्ष्मी कमलोंको छोडकर आपके आश्रयमें रहना पसन्द करती है, यह ठीक ही है। इन्द्र-तुल्य स्वामीको पाकर भी दिव्य-भूमि (स्वर्ग) यदि आपके वीर्यसे रक्षित इस वसुमतीको ईर्ष्यासे न देखे तो निश्चय ही वह वञ्चिता (अभागिन) है। ॥४९॥

कहाँ तक कहा जाय। ऐसे (महा–) पुरुषसे युक्त यह मनष्य-लोक अवश्य ही भाग्यशाली है। आपकी पीड़ाका अनुमोदन कर हम स्वयं दग्ध हुए। आप-जैसे (महा–) पुरुषके आश्रयसे हमारे–जैसे लोग भी अपना उद्धार कर सकते हैं। अपने दुष्कर्मको नष्ट (विफल) करनेकी आशासे हम आपसे पूछते है।

अनायास ही प्राप्त इस अनुरक्त राज्य-लक्ष्मीका अनादर कर, वह कौनसा अद्भुत स्थान है जिसको इस मार्गसे चलकर आप प्राप्त करना चाहते है? ॥५०॥

सर्वक्षितिपतित्वं नु धनेशत्वमथेन्द्रताम्।
ब्रह्मभूयं विमोक्षं वा तपसानेन वाञ्छसि ॥५१॥

अस्य हि व्यवसायस्य न दूरतरमीप्सितम्।
श्रोतव्यं चैतदस्माभिर्वक्तुमर्हति नो भवान् ॥५२॥

राजोवाच—श्रूयतां यदर्थोऽयं ममाभ्युद्यमः।

प्रयत्नलभ्या यदयत्ननाशिनी न तृप्तिसौख्याय कुतः प्रशान्तये।
भवाश्रया सम्पदतो न कामये सुरेन्द्रलक्ष्मीमपि किन्वथेतराम् ॥५३॥

न चात्मदुःखक्षयमात्रकेण मे प्रयाति सन्तोषपथेन मानसम्।
अमूननाथानभिवीक्ष्य देहिनः प्रसक्ततीव्रव्यसनश्रमातुरान् ॥५४॥

अनेन पुण्येन तु सर्वदर्शितामवाप्य निर्जित्य च दोषविद्विषः।
जरा-रुजा-मृत्युमहोर्मिसङ्कुलात्समुद्धरेयं भवसागराज्जगत् ॥५५॥

अथ ते यक्षाः प्रसादसंहर्षिततनुरुहाः प्रणम्य राजामूचुः। उपपन्नरूपमेवंविधस्य व्यवसायातिशयस्येदं कर्म। तन्न दूरे भवद्विधानामभिप्रायसम्पद इति निश्चितमनसो विज्ञापयामः।

कामं लोकहितायैव तव सर्वोऽयमुद्यमः।
स्वहितात्यादरं त्वेषां स्मर्तुमर्हसि नस्तदा ॥५६॥

आज्ञानाच्च यदस्माभिरेवमायासितो भवान्।
स्वमप्यर्थमपश्यद्‌भिर्मृष्यतामेव तच्च नः ॥५७॥

आज्ञामपि च तावन्नस्त्वमनुग्रहपद्धतिम्।
सचिवानामिव स्वेषां विस्रब्धं दातुमर्हसि ॥५८॥

अथ स राजा प्रसादमृदूकृतहृदयान्मत्त्वैनानुवाच। उपकारः खल्वयं नायासो ममेत्यलमत्र वोऽक्षमाशङ्कया, अपि च—

समस्त पृथ्वीका आधिपत्य, कुबेरका पद, इन्द्रत्व, ब्रह्म-सायुज्य, या मोक्ष ? इस तपस्या द्वारा आप इनमेंसे किस पदकी अभिलाषा करते हैं ? ॥ ५१ ॥

इस संकल्प और उद्योगका अभीष्ट (=लक्ष्य) दूर नहीं हो सकता है। यदि आप हमारे सुनने योग्य समझें तो आप अपना लक्ष्य हमें बतलाएँ।" ॥ ५२ ॥

राजाने कहा—"सुनिये, मेरे इस उद्योगका क्या उद्देश्य है ?

प्रयत्नसे प्राप्त होनेवाली और बिना यत्नके ही नष्ट होनेवाली इस सांसारिक सम्पत्तिसे तृप्ति नही होती है, फिर शान्ति कहाँसे होगी ? अतः मै देवेन्द्रकी भी लक्ष्मीकी कामना नही करता हूँ, दूसरीका क्या कहना ? ॥ ५३ ॥

जब तक मै इन अनाथ देहधारियोंको घोर विपत्तियोसे पीड़ित देखता हूँ तब तक केवल अपने ही दुःखका नाश होनेसे मेरे मनमें सन्तोष नही हो सकता। ॥ ५४ ॥

इस पुण्यके द्वारा सर्वज्ञता (=बुद्धत्व) प्राप्त कर और दोष (=राग-द्वेष-मोह) रूपी शत्रुओंको जीतकर, मै जरा-व्याधि-मृत्युरूपी महा-तरङ्गोंसे युक्त भव-सागरसे जगत् (=पीड़ित प्राणियों) का उद्धार करना चाहता हूँ।" ॥ ५५ ॥

तब आनन्दसे रोमाञ्चित हो उन यक्षोंने राजाको प्रणाम करके कहा—"इस महा-निश्चयके अनुरूप ही आपका यह कार्य है। इसलिए हम निश्चयपूर्वक कहते हैं कि आप-सरीखे (महा–) पुरुषोंका अभीष्ट (लक्ष्य) दूर नहीं है।"

अवश्य ही आपका यह सम्पूर्ण उद्योग लोकहितके लिए ही है। उस (लक्ष्य-प्राप्तिके) समय इन अत्यन्त स्वार्थी व्यक्तियों (यक्षों) को स्मरण कीजियेगा। ॥ ५६ ॥

अज्ञानके कारण अपने ही हितको नहीं देखते हुए हमने आपको जो इस प्रकार कष्ट दिया सो कृपया हमें इसके लिए क्षमा करें। ॥ ५७ ॥

हमारे ऊपर अनुग्रह करते हुए हमें भी, जैसे कि अपने मंत्रियोंको, विश्वासपूर्वक आज्ञा दीजिये।" ॥ ५८ ॥

भक्तिसे इनके हृदय मृदु हो गये हैं, ऐसा सोचकर राजाने उन्हें कहा—

"आपने हमारा यह उपकार ही किया है, न कि मुझे कष्ट दिया है। इसलिए इस सम्बन्धमें आप अब अनुचित आशंका न करें। और भी—

एवंविधे धर्मपथे सहायान्कि विस्मरिष्याम्यधिगम्य बोधिम् ।
युष्माकमेव प्रथमं करिष्ये विमोक्षधर्मामृतसंविभागम् ।।५९।।

अस्मत्प्रियं चाभिसमीक्षमाणैर्हिंसा भवद्भिर्विषवद्विवर्ज्या ।
लोभः परद्रव्यपरिग्रहेषु वाग्गर्हिता मद्यमयश्च पाप्मा ।।६०।।

अथ ते यक्षास्तथेत्यस्मै प्रतिश्रुत्य प्रणम्य प्रदक्षिणीकृत्य चैनं तत्रैवान्तर्दधिरे । स्वमांसशोणितप्रदाननिश्चयसमकालमेव तु तस्य महासत्त्वस्य

विकम्पमाना बहुधा वसुन्धरा विघूर्णयामास सुवर्णपर्वतम् ।
प्रसस्वनुर्दुन्दुभयश्च तद्गता द्रुमाश्च पुष्पं ससृजुर्विकम्पनात् ।।६१।।

तदभ्रवद्व्योमनि मारुतेरितं पतत्रिसेनेव वितानवत्क्वचित् ।
विसृत्य माला ग्रथितेव कुत्रचित्समं समन्तान्नृपतेर्व्यकीर्यत ।।६२।।

निवारयिष्यन्निव मेदिनीपतिं समुद्धतावेगतया महार्णवः ।
जलैः प्रकृत्यभ्यधिकक्रमस्वनैः प्रयाणसौजस्कवपुर्व्यरोचत ।।६३।।

किमेतदित्यागतसम्भ्रमस्ततः सुराधिपस्तत्र विचिन्त्य कारणम् ।
नृपात्ययाशङ्कितसतूर्णमाययौ नृपालयं शोकभयाकुलाकुलम् ।।६५।।

तथागतस्यापि तु तस्य भूपतेर्मुखप्रसादात्सविशेषविस्मयः ।
उपेत्य तत्कर्म मनोज्ञया गिरा प्रसादसंहर्षवशेन तुष्टुवे ।।६५।।

अहो प्रकर्षो बत सज्जनस्थितेरहो गुणाभ्यासनिधेरुदारता ।
अहो परानुग्रहपेशला मतिस्त्वदपणान्नाथवती बत क्षितिः ।।६६।।

ऐसे (कठिन) धर्म-मार्ग (पर चलने) में सहायता करनेवालोंको बोधि प्राप्त करनेके बाद भला कैसे भूल जाऊँगा? पहले पहल आप लोगोंको ही मोक्ष-धर्म रूपी अमृत वितरण करूँगा। ॥ ५९ ॥

यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते है तो (प्राणि-) हिसा, दूसरोका द्रव्य (और स्त्री) ग्रहण करनेका लोभ, निन्दित वचन और मद्यरूपी पाप-को विष समझकर छोड़ दीजिये।" ॥ ६० ॥

तब उन यक्षोंने उनसे 'बहुत अच्छा' कहकर (पाप कर्म न करनेकी) प्रतिज्ञा की; और वे उन्हें प्रणाम कर तथा उनकी प्रदक्षिणा कर वही अन्तर्धान हो गये।

जिस समय उन महासत्त्व (बोधिसत्त्व) ने अपना मास और शोणित देनेका निश्चय किया था उसी समय---

बार बार काँपती हुई पृथ्वीने सुवर्ण-पर्वतको प्रकम्पित कर दिया, जिससे वहाँकी देव-दुन्दुभियाँ बजने लगी और हिलते हुए वृक्षोंने फूल बरसाये। ॥६१॥

हवासे प्रेरित होते (चलाये जाते) वे फूल आकाशमें कही बादलके समान, कही पक्षियोके झुण्डके समान, कहीं चँदोबेके समान, कही गुथी हुई विशाल मालाके समान दिखाई पड़े, और एक ही साथ राजाके चारों ओर आकर फैल गये। ॥ ६२ ॥

महासमुद्र अत्यन्त आवेगमे आकर राजाको मानो रोकना चाहता था; उसकी तरंगोका वेग और गर्जन अस्वाभाविक तौरपर बढ़ गया; उसका ओजस्वी रूप ऐसे शोभित हुआ जैसे यात्रा-कालमें (किसी राजाका)। ॥६३॥

'यह क्या है' इस प्रकार घबड़ाहटमें आकर इन्द्रने सोचकर कारणका पता लगाया। राज-विनाशकी आशंकासे वह शीघ्र ही राज-भवनमें आ गया, जहाँके लोग अत्यन्त व्याकुल थे। ॥ ६४ ॥

उस अवस्थामें भी राजाको प्रसन्न-मुख देखकर वह अत्यन्त विस्मित हो गया। समीप जाकर, आनन्द और हर्षके वशीभूत हो उसने मधुर वाणीसे उस कर्मकी प्रशंसा की। ॥ ६५ ॥

"अहो सज्जनताकी पराकाष्ठा! अहो आप गुण-राशिकी उदारहृदयता! अहो दूसरोंपर अनुग्रह करनेमें आपका मन कितना कोमल है! आपको पाकर यह पृथ्वी सनाथा है।" ॥ ६६ ॥

इत्यभिप्रशस्यैनं शक्रो देवेन्द्रः सद्यः क्षतरोहणसमर्थैर्दिव्यैर्मानुष्यकै-रोषधिविशेषैर्निर्वेदनं यथापौराणं शरीरं कृत्वा दाक्षिण्यविनयोपचार-मधुरं प्रतिपूजितस्तेन राज्ञा स्वमावासं प्रतिजगाम।

तदवं परदुःखातुरा नात्मसुखमवेक्षन्ते महाकारुणिका इति। को नाम धनमात्रकेऽप्यपेक्षां नोत्स्रष्टुमर्हतीति दायकजनसमुत्तेजनायां वाच्यम्। करुणावर्णेऽपि तथागतमाहात्म्ये सत्कृत्य धर्मश्रवणे च। यच्चोक्तं भगवता बहुकराः खल्वेते पञ्चका भिक्षव इति स्यादेतत्स-न्धाय। तेन हि समयेन ते पञ्च यक्षा बभूवुः। तेषां भगवता यथा प्रति-ज्ञातमव प्रथमं धर्मामृतसंविभागः कृत इति।

इति मैत्रीबलजातकमष्टमम्।

---

९ विश्वन्तरजातकम्

न बोधिसत्त्वचरितं सुखमनुमोदितुमप्यल्पसत्त्वैः प्रागेवाचरितुम्॥ तद्यथानुश्रूयते।

सात्मीभूतेन्द्रियजयः पराक्रमनयविनयसंपदा समधिगतविजयश्रीर्वृ-द्धोपासननियमात्त्रय्यान्वीक्षिक्योरुपलब्धार्थतत्त्वः स्वधर्मकर्मानुरक्ता-भिरनुद्विग्नसुखोचिताभिरनुरक्ताभिः प्रकृतिभिः प्रकाश्यमानदण्डनी-तिशोभः सम्यक्प्रवृत्तवार्त्ताविधिः संजयो नाम शिबीनां राजा बभूव।

इस प्रकार इनकी प्रशंसा कर देवेन्द्र शक्रने तुरंत घाव पूरा कर सकनेवाली दिव्य एव मनुष्योचित उत्तम ओषधियोंसे उनके शरीरको पूर्ववत् पीड़ा-रहित कर दिया। तब राजाके द्वारा सादर और सविनय पूजित होकर इन्द्र अपने निवास-स्थानको लौट गया।

इस प्रकार दूसरोंके दुःखसे दुःखी होनेवाले महाकारुणिक अपने दुःखका खयाल नहीं करते। तब ऐसा कौन है जो तुच्छ धनमें अपनी आसक्ति नहीं छोड़ेगा? दाताओंको उत्तेजित करनेमें, करुणाका वर्णन करनेमें, तथागत का माहात्म्य दिखलानेमें और सावधान होकर धर्म-श्रवण करनेमें (अर्थात् धर्मोपदेश करनेमें) यह कथा कहनी चाहिए।

भगवान्ने जो कहा—"हे भिक्षुओ, इन पाँचोंने बहुत कुछ किया है" वह इसी कथाका अनुसन्धान (अनुस्मरण) करके (कहा है)। उस समयके ये पाँच यक्ष थे। अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान्ने पहले इन्ही पाँचोंको धर्मामृत वितरण किया।

मैत्रीबल—जातक अष्टम समाप्त।

९ विश्वन्तर-जातक

(कम हिम्मतवाले) साधारण प्राणियोंके लिए बोधिसत्त्वके कार्योंका अनुमोदन करना भी आसान नही है, फिर उनके करनेका क्या कहना। तब जैसी कि अनुश्रुति है—

एक बार शिबियोंके संजय नामक बड़े ही जितेन्द्रिय राजा हुए। उसने पराक्रम नीति और विनयके द्वारा विजय-लक्ष्मी प्राप्त की तथा गुरुजनोंकी उपासना कर त्रयी (=वेदों) और आन्वीक्षिकी विद्या (=तर्क-विद्या, अध्यात्म-विद्या) का ज्ञान पाया। उसकी प्रजा, धर्म और कर्ममें निरत, निर्भय और सुखी थी, इससे प्रकट होता था कि राजाकी दण्ड-नीति, (शासन-प्रणाली) कितनी सुन्दर थी, राज्यमें आजीविकाका प्रबन्ध कितना उत्तम था (आर्थिक व्यवस्था कितनी अच्छी थी)।

गुणोदयैर्यस्य निबद्धभावा कुलाङ्गनेवास नराधिपश्रीः।
अतर्कणीयान्यमहीपतीनां सिंहाभिगुप्तेव गुहा मृगाणाम् ॥ १ ॥
तपस्सु विद्यासु कलासु चैव कृतश्रमा यस्य सदाभ्युपेताः।
विशेषयुक्तं बहुमानमीयुः[1] पूजाभिराविष्क्रियमाणसाराः ॥ २ ॥

तस्य राज्ञः प्रतिपत्त्यनन्तरं प्रथितगुणगणनिरन्तरो विश्वंतरो नाम पुत्रो युवराजो बभूव। (अयमेव भगवाञ्छाक्यमुनिस्तेन समयेन।)

युवापि वृद्धोपशमाभिरामस्तेजस्व्यपि क्षान्तिसुखस्वभावः।
विद्वानपि ज्ञानमदानभिज्ञः श्रिया समृद्धोऽप्यवलेपशून्यः ॥ ३ ॥
दृष्टप्रयाणासु[2] च दिक्षु तस्य व्याप्ते च लोकत्रितये यशोभिः।
बभूव नैवान्ययशोलवानां प्रसर्तुमुत्साह इवावकाशः ॥ ४ ॥
अमृष्यमाणः स जगद्गतानां दुःखोदयानां प्रसृतावलेपम्।
दानेषुवर्षी करुणोरुचापस्तैर्युद्धसंरम्भमिवाजगाम ॥ ५ ॥

स प्रत्यहमभिगतमर्थिजनमभिलषिताधिकै[3]रक्लिष्टैरर्थविसर्गैः प्रियवचनोपचारमनोहरैरतीव प्रह्लादयामास। पर्वदिवसेषु च पोषधनियमप्रशमविभूषणः शिरःस्नातः शुक्लक्षौमवासा हिमगिरिशिखरसंनिकाशं मदलेखाभ्यलंकृतमुखं लक्षणविनयजवसत्त्वसंपन्नं गन्धहस्तिनं समाज्ञातमौपवाह्यं द्विरदवरमभिरूह्य समन्ततो नगरस्याभिनिविष्टान्यर्थिजननिपानभूतानि स्वानि सत्त्रागाराणि प्रत्यवेक्षते स्म। तथा च प्रीतिविशेषमधिजगाम।

नहि तां कुरुते प्रीतिं विभूतिर्भवनाश्रिता।
संक्रम्यमाणार्थिजने सैव दानप्रियस्य याम् ॥ ६ ॥

---

१ दे० 'बुद्धचरित' ७।५० घ। २ पा० 'दृष्टप्रयामासु'।
३ दे० 'मनोरथस्याप्यतिभारभूतान्'—बु० च० २।२ घ।

उसके गुणोके कारण राज्य-लक्ष्मी (पतिव्रता) कुलाङ्गनाके समान उसमे अनुरक्त थी, दूसरे राजा उसकी लक्ष्मी (के अपहरणकी बात) को सोच भी नही सकते थे, जैसे सिहसे रक्षित गुफा (लेने) को दूसरे पशु नही सोच सकते । ॥ १ ॥

जिन्होंने तपस्या, विद्या और कला (के उपार्जन) में परिश्रम किया था वे (तपस्वी विद्वान् और कलावान्) उसके समीप पहुँचते थे और अपना सार प्रकट कर (अपने सद्गुणोंका परिचय देकर) उससे बहुत आदर-सत्कार प्राप्त करते थे। ॥ २ ॥

उस राजाका पुत्र विश्वन्तर युवराज बना। प्रतिष्ठामें वह राजाके बाद ही (द्वितीय स्थानपर) था, किंतु गुणोंकी ख्यातिमें राजासे कम नहीं था।

युवा होकर भी वह वृद्धोचित शान्तिसे युक्त था, तेजस्वी होकर भी क्षमाशील था, विद्वान् होकर भी ज्ञान-मदसे अनभिज्ञ था और लक्ष्मी-पात्र होकर भी अभिमानसे रहित था। ॥ ३ ॥

दिशाओंने उनके दिग्विजयको देखा था और तीनों लोकोंमें उनकी कीर्ति व्याप्त थी; अतः दूसरोंकी क्षुद्र कीर्तिको फैलनेका न उत्साह था न स्थान। ॥ ४ ॥

वह संसारमें दुःखों (के कारणों) का अनुचित (अत्यधिक, उद्धत) प्रसार नही सह सकता था, अतः करुणाका विशाल धनुष लेकर दानरूपी तीरोंकी वर्षा करते हुए उसने मानो उनके साथ घोर युद्ध किया। ॥ ५ ॥

वह प्रतिदिन आये हुए याचकोंको प्रिय वचन और शिष्टाचारके साथ मनोरथसे भी अधिक धन देकर आनन्दित करता था। पर्वके दिनोंमें उपवासके नियमोंके पालनसे होनेवाली शान्तिसे विभूषित होकर, शिरसे स्नान कर, सफेद रेशमी वस्त्र पहनकर वह हिमालयकी चोटीके समान (उज्ज्वल और विशाल), मद-धारासे अलङ्कृत मुखवाले, सुलक्षणोंसे युक्त, विनयवान् (विनम्र), वेगवान् और बलवान् गन्ध-हस्तीपर चढ़ता था और उस विख्यात एवं चढ़ने योग्य श्रेष्ठ हाथीपर चढ़कर नगरके चारो ओर बनाये गये अपने दान-गृहोंको, जो याचकोंके लिए जलाशय-तुल्य थे, देखता था और देखकर अत्यन्त प्रसन्न होता था।

दान-प्रिय व्यक्तिको घरमें रखी हुई सम्पत्तिसे उतना आनन्द नही होता है जितना कि उस सम्पत्तिको याचकोंको देनेसे। ॥ ६ ॥

अथ कदाचित्तस्यैवंविधं दानप्रसङ्गं प्रमुदितहृदयैरर्थिभिः समन्ततो विकीर्यमाणमुपलभ्यान्यतमो भूम्यनन्तरस्तस्य राजा शक्यमयमभिसंधातुं दानानुरागवशगत्वादिति प्रतर्क्य द्विरदवरापहरणार्थं ब्राह्मणांस्तत्र प्रणिदधे ॥ अथ ते ब्राह्मणा विश्वंतरस्य स्वानि सत्त्रागाराणि प्रत्यवेक्षमाणस्य प्रमोदादधिकतरनयनवदनशोभस्य जयाशीर्वादमुखराः समुच्छ्रिताभिप्रसारितदक्षिणाग्रपाणयः पुरस्तात् समतिष्ठन्त। स ततो विनिगृह्य द्विरदवरमुपचारपुरःसरमभिगमनप्रयोजनमेनान् पर्यपृच्छदाज्ञाप्यतां केनार्थ इति ॥ ब्राह्मणा ऊचुः ।

अमुष्य तव नागस्य गतिलीलाविलम्बिनः ।
गुणैरर्थित्वमायाता दानशौर्याच्च ते वयम् ॥ ७ ॥

कैलासशिखराभस्य प्रदानादस्य दन्तिनः ।
कुरुष्व तावल्लोकानां विस्मयैकरसं मनः ॥ ८ ॥

इत्युक्ते बोधिसत्त्वः प्रीत्या समापूर्यमाणहृदयश्चिन्तामापेदे । चिरस्य खलूदारप्रणयसुमुखमर्थिजनं पश्यामि । कः पुनरर्थ एवंविधेन द्विरदपतिनैषां ब्राह्मणानाम् । व्यक्तमयं लोभेर्ष्याद्वेषपर्याकुलमनसः कस्यापि राज्ञः कार्पण्यप्रयोगः ।

आशाविघातदीनत्वं तन्मा भूत्तस्य भूपतेः ।
अनादृत्य यशोधर्मौ योऽस्मद्धित इवोद्यतः ॥ ९ ॥

इति विनिश्चित्य स महात्मा त्वरितमवतीर्य द्विरदवरात् प्रतिगृह्यतामिति समुद्यतकाञ्चनभृङ्गारस्तेषां पुरस्तादवतस्थे ॥

ततः स विद्वानपि[1] राजशास्त्रमर्थानुवृत्त्या गतधर्ममार्गम् ।
धर्मानुरागेण ददौ गजेन्द्रं नीतिव्यलीकेन न संचकम्पे ॥१०॥

---

१ जानन्नपि ।

जब याचकगण प्रसन्न होकर उनके इस दानानुरागकी बातको चारों ओर फैला रहे थे तो एक बार पड़ोसी देशके किसी राजाने इसे सुन लिया और सोचा कि दानानुरागके वशीभूत होनेके कारण इसे वञ्चित किया जा सकता है। यह सोचकर उसने ब्राह्मणोको उस श्रेष्ठ हाथीके अपहरणके लिए वहाँ भेजा। जब अपनी दान-शालाओंको देखकर विश्वन्तरकी आँखों और मुखकी शोभा आनन्दसे खिल रही थी, तब वे ब्राह्मण उसके आगे आकर अपने दाहिने हाथोंको ऊपर उठाकर, 'जय जय' कहकर आशीर्वाद देते हुए खड़े हुए। तब उसने अपने श्रेष्ठ हाथीको रोककर शिष्टाचारपूर्वक उनसे आनेका प्रयोजन पूछा —"आज्ञा कीजिये, क्या चाहते हैं।" ब्राह्मणोंने कहा—

"सुन्दर चालवाले आपके इस हाथीके गुणोंसे तथा आपकी दान-वीरता-से आकृष्ट होकर हम आये हैं। ॥ ७ ॥

अतः कैलासकी चोटीके समान कान्तिमान् इस हाथीको देकर आप जनताको विस्मित कर दीजिये।" ॥ ८ ॥

इतना कहने पर बोधिसत्त्वका हृदय आनन्दसे भर गया। उन्होंने सोचा—"बहुत दिनोंके बाद इन उदार याचकोंको देख रहा हूँ। किंतु इस गजेन्द्रसे इन ब्राह्मणोंको क्या प्रयोजन? स्पष्ट ही लोभ ईर्ष्या और द्वेषसे आकुल चित्त वाले किसी राजाकी यह चाल है।

जो अपनी कीर्ति और धर्म की उपेक्षा कर हमारे उपकारके लिए उद्यत हुआ है उस राजाको निराशाका दुःख न हो।" ॥ ९ ॥

यह निश्चय कर वह महात्मा उस श्रेष्ठ हाथीपरसे शीघ्र ही उतरकर "स्वीकार कीजिये" यह कहते हुए, सोनेका (जल-पूर्ण) कलश लेकर उन (ब्राह्मणों) के आगे खड़ा हुआ।

अर्थ-परक (अर्थानुसारी, अर्थ-प्रधान) होनेके कारण धर्म-विहीन राज-शास्त्र (राजनीति) का विद्वान् (जाननेवाला) होकर भी[1] उसने धर्मके अनुरागसे वह श्रेष्ठ हाथी दान कर दिया। (राज–) नीतिके अतिक्रमण[2] से विचलित नहीं हुआ। ॥ १० ॥

तं हेमजालरुचिराभरणं गजेन्द्रं
विद्युत्पिनद्धमिव शारदमभ्रराशिम्।
दत्त्वा परां मुदमवाप नरेन्द्रसूनुः
संचुक्षुभे च नगरं नयपक्षपातात् ॥११॥

अथ द्विरदपतिप्रदानश्रवणात् समुदीर्णक्रोधसंरम्भाः शिबयो ब्राह्मणवृद्धा मन्त्रिणो योधाः पौरमुख्याश्च कोलाहलमुपजनयन्तः संजयं राजानमभिगम्य ससंभ्रमामर्षसंरम्भात् परिशिथिलोपचारयन्त्रणमूचुः। किमियं देव राज्यश्रीर्विलुप्यमानैवमुपेक्ष्यते। नार्हति देवः स्वराज्योपप्लवमेवमभिवर्धमानमुपेक्षितुम्। किमेतदिति च सावेगमुक्ता राज्ञा पुनरेवमूचुः। कस्माद्देवो न जानीते।

निषेव्य मत्तभ्रमरोपगीतं यस्याननं दानसुगन्धि वायुः।
मदावलेपं परवारणानामायासदुःखेन विना प्रमार्ष्टि ॥१२॥

यत्तेजसाक्रान्तबलप्रभावाः संसुप्तदर्पा इव विद्विषस्ते।
विश्वंतरेणैष गजः स दत्तो रूपी जयस्ते ह्रियतेऽन्यदेशम् ॥१३॥

गावः सुवर्णं वसनानि भोज्यमिति द्विजेभ्यो नृप देयरूपम्।
यस्मिञ्जयश्रीर्नियता द्विपेन्द्रे देयः स नामेत्यतिदानशौर्यम् ॥१४॥

नयोत्पथेनैनमिति व्रजन्तं कथं समन्वेष्यति राजलक्ष्मीः।
नोपेक्षणं देव तवात्र युक्तं पुरायमानन्दयति द्विषस्ते ॥१५॥

तच्छ्रुत्वा स राजा पुत्रप्रियत्वात् किंचित्तानेव प्रत्यप्रीतमनाः कार्यानुरोधात् सावेगवदेवमित्युक्त्वा समनुनेष्यञ्छिबीनुवाच। जाने दानप्रसङ्गव्यसनितां नीतिक्रमानपेक्षां विश्वंतरस्य न चैष क्रमो राज्य-

बिजलीसे युक्त शरद् ऋतुके बादलके समान सोनेके सुन्दर आभूषण (जाली या हौदा) से विभूषित उस गजेन्द्रको दानकर वह राज-कुमार अत्यन्त प्रसन्न हुआ और नीतिके पक्षपाती नगर-निवासी अत्यन्त क्षुब्ध हुए। ॥११॥

तब उस गज-राजके दानकी बात सुनकर शिबि (देशके) लोग, वृद्ध ब्राह्मण, मन्त्रिगण, सैनिकगण और मुख्य नागरिक अत्यन्त क्रुद्ध होकर, कोलाहल करते हुए राजा संजयके पास पहुँचकर, घबड़ाहट और क्रोधके आवेशमें शिष्टाचारके नियमका उल्लंघन कर बोले—"देव, यह राज्य-लक्ष्मी जा रही है, क्यों आप इस तरह इसकी उपेक्षा कर रहे हैं? देव अपने राज्यके इस प्रकार बढ़ते हुए उपद्रवकी उपेक्षा नहीं कर सकते।" राजाने आवेगमे आकर पूछा—"यह क्या?" उन्होंने उत्तर दिया—"क्या देव नही जानते—

मद-मत्त भ्रमरोंसे झंकृत एवं मद-धारासे सुगन्धित जिस (हाथी) के मुखमण्डलका सेवन (=स्पर्श) कर पवन दूसरे हाथियोंके मद-लेप[1] को अनायास ही पोंछता[2] है। जिस (हाथी) के तेजसे आपके शत्रुओंका बल और प्रभाव क्षीण होता है, उनका अभिमान विलीन होता है, उस हाथीको (युवराज) विश्वन्तरने दान कर दिया, उस मूर्तिमान् विजयको दूसरे देश ले जा रहे हैं। ॥ १२–१३ ॥

गौ सुवर्ण वस्त्र और भोजन, यह द्विजोंको देने योग्य है; किंतु जिस श्रेष्ठ हाथीमें विजय-लक्ष्मी प्रतिष्ठित है उसको दान करना दान-वीरताका अतिक्रमण है। ॥ १४ ॥

नीति-मार्गको छोडकर चलनेवाले इस युवराजके साथ राज-लक्ष्मी कैसे रहेगी? यह आपके शत्रुओंको आनन्दित करे इसके पहले ही, हे देव, आप इस विषयमें उपेक्षा-भावको छोड़ें।" ॥ १५ ॥

यह सुनकर वह पुत्र-प्रिय राजा उन (शिबियों) के ही प्रति कुछ अप्रसन्न हुआ; किंतु कर्तव्य-निष्ठाके कारण मानो आवेगमें आकर कहा—"(आपका कहना) ठीक है" और पुनः शिबियोंसे अनुनय करते हुए कहा—"मैं जानता हूँ कि विश्वन्तर दान देने में इतना आसक्त है कि वह नीति-मार्गकी उपेक्षा कर बैठता है[1], राज्य-भार वहन करनेवाले के लिए यह

धुरि संनियुक्तस्य। दत्तं त्वनेन स्वं हस्तिनं वान्तकल्पं कः प्रत्याहरिष्यति। अपि तु तथाहमेव करिष्ये यथा दाने मात्रां ज्ञास्यति विश्वंतरः। तदलमत्र वः संरम्भेणेति॥ शिबय ऊचुः। न खलु महाराज परिभाषामात्रसाध्योऽस्मिन्नर्थे विश्वंतर इति॥ संजय उवाच। अथ किमन्यदत्र मया शक्यं कर्तुम्।

दोषप्रवृत्तेर्विमुखस्य यस्य गुणप्रसङ्गा व्यसनीक्रियन्ते।
बन्धो वधो वात्मसुतस्य तस्य किं निष्क्रयः स्याद्द्विरदस्य तस्य॥१६।

तदलमत्र वः संरम्भेण। निवारयिष्याम्यहमतो विश्वंतरमिति॥
अथ शिबयः समुदीर्णमन्यवो राजानमूचुः।

को वा वधं बन्धनताडनं वा सुतस्य ते रोचयते नरेन्द्र।
धर्मात्मकस्त्वेष न राज्यभारक्षोभस्य सोढा करुणामृदुत्वात्॥१७॥

सिंहासनं तेजसि लब्धशब्दास्त्रिवर्गसेवानिपुणा भजन्ते।
धर्मानुरागान्नयनिरपेक्ष[1]स्तपोवनाध्यासनयोग्य एषः॥१८॥

फलन्ति कामं वसुधाधिपानां दुर्नीतिदोषास्तदुपाश्रितेषु।
सह्यास्त एषां तु तथापि दृष्टा मूलोपरोधान्न तु पार्थिवानाम्॥१९॥

किमत्र वा बह्वभिधाय निश्चयस्त्वयं शिबीनां त्वदभृत्यमर्षिणाम्।
प्रयातु वङ्कं तपसोऽभिवृद्धये नृपात्मजः सिद्धनिषेवितं गिरिम्॥२०॥

अथ स राजा स्नेहप्रणयविस्रम्भवशादनयापायदर्शिना हितोद्यतेन तेन जनेन परिनिष्ठुरमित्यभिधीयमानः प्रकृतिकोपाद्व्रीडावनतवदनः पुत्रवियोगचिन्तापरिगतहृदयः सायासमभिनिश्वस्य शिबीनुवाच। यद्येष

१ पा० 'निर्व्यपेक्षस्' ?

उचित रास्ता नहीं है। इसने अपना हाथी दान कर दिया, अब उगले हुए (अन्न) के समान उसे कौन लौटायेगा? किंतु मै स्वयं ऐसा करूँगा जिसमें विश्वन्तर दानकी मात्राको जाने। अतः आप इस विषयमे क्रोध न करें।"

शिबियोंने कहा—"महाराज, इस विषयमें डॉट-फटकारसे ही (=निन्दाके कठोर वचनसे ही) विश्वन्तरको वशमें नही किया जा सकता।"

संजयने कहा—"तो इसमें मै और कर ही क्या सकता हूँ?

वह पापाचारसे विमुख (दूर) है, अत्यन्त धर्माचरण ही उसका व्यसन बन गया है। कहिये कि उस हाथीका मूल्य क्या हो सकता है—अपने पुत्रको कारागारमें डालना या मार डालना?

अतः इस विषयमें आप क्रोध न करें। मैं विश्वन्तरको इस (व्यसन) से रोकूँगा।"

इसपर शिबियोंने क्रुद्ध होकर राजासे कहा—

"हे राजन्, आपके पुत्रको पीटा जाय, कारागारमें डाला जाय या मार डाला जाय—यह किसको अच्छा लगेगा? यह धर्मात्मा अपनी दयालुता और कोमलताके कारण राज्यभारके कष्टको सहनेमें असमर्थ है। ॥ १७ ॥

जो विख्यात पराक्रमी है और अर्थ-धर्म-काम—इस त्रिवर्गके सेवनमें निपुण है वे ही सिंहासन ग्रहण करते है। धर्मानुरागके कारण नीतिकी ओरसे उदासीन यह कुमार तो तपोवनमें रहनेके योग्य है। ॥ १८ ॥

राजाओंकी दुर्नीतिके दोष उनके आश्रितों (=प्रजाओं) में अवश्य फलते है। प्रजा-जनमें दुर्नीतिके ये दोष क्षम्य हो सकते है, किंतु राजाओंमें नहीं; क्योंकि इससे मूलका विनाश होगा[1]। ॥ १९ ॥

इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या? आपके अमङ्गलको नहीं सह सकनेवाले शिबियोंका यह निश्चय है—राजकुमार सिद्धोंसे सेवित (=महात्माओंके स्थान) वङ्क-पर्वतपर तप करनेके लिए जाय।" ॥ २० ॥

जब अनीति-जन्य अनिष्टकी आशका करनेवाली उस हितैषी जनताने स्नेह प्रेम और विश्वासके कारण राजासे यह कठोर वचन कहा तो प्रजाके क्रोधको देखकर उसने लज्जासे अपना मुख नीचे कर लिया और पुत्र-वियोगकी चिन्तासे सन्तप्त होते हुए दुःखकी साँस लेकर शिबियोंसे कहा—"यदि

भवतां निर्बन्धस्तदेकमप्यहोरात्रमस्य मृष्यताम्। प्रभातायां रजन्यामभिप्रेतं वोऽनुष्ठाता विश्वन्तर इति। एवमस्त्विति च प्रतिगृहीतानुनयः शिबिभिः स राजा क्षत्तारमुवाच। गच्छेमं वृत्तान्तं विश्वंतराय निवेदयेति। स तथेति प्रतिश्रुत्य शोकाश्रुपरिषिक्तवदनो विश्वंतरं स्वभवनगतमुपेत्य शोकदुःखावेगात् सस्वरं रुदन् पादयोरस्य न्यपतत्। अपि कुशलं राजकुलस्येति च ससंभ्रमं विश्वंतरेणानुयुक्तः समवसीदन्नविशदपदाक्षरमेनमुवाच। कुशलं राजकुलस्येति। अथ कस्मादेवमधीरोऽसीति च पुनरनुयुक्तो विश्वंतरेण क्षत्ता बाष्पवेगोपरुध्यमानगद्गदकण्ठः श्वासविस्खलितलुलिताक्षरं शनैरित्युवाच।

सान्त्वगर्भामनादृत्य नृपाज्ञामप्यदक्षिणाः।
राष्ट्रात्प्रव्राजयन्ति त्वां कुपिताः शिबयो नृप ॥२१॥

विश्वंतर उवाच। मां शिबयः प्रव्राजयन्ति कुपिता इति कः संबन्धः।

रेमे न विनयोन्मार्गे द्वेष्मि चाहं प्रमादिताम्।
कुत्र मे शिबयः क्रुद्धा यन्न पश्यामि दुष्कृतम् ॥२२॥

क्षत्तोवाच। अत्युदारतायाम्।

अलोभशुभ्रा त्वयि तुष्टिरासील्लोभाकुला याचकमानसेषु।
दत्ते त्वया मानद वारणेन्द्रे धैर्याणि कोपस्त्वहरच्छिबीनाम् ॥२३॥

इत्यतीताः स्वमर्यादां रभसाः शिबयस्त्वयि।
येन प्रव्राजिता यान्ति पथा तेन किल व्रज ॥२४॥

अथ बोधिसत्त्वः कृपाभ्यासरूढां याचनकजनवत्सलतां धैर्यातिशयसंपदं च स्वामुद्भावयन्नुवाच। चपलस्वभावाः खलु शिबयोऽनभिज्ञा इव चास्मत्स्वभावस्य।

आप लोगोंका यही आग्रह है तो एक दिन और रातके लिए इसे क्षमा करें। रातके बीतनेपर प्रातःकाल विश्वन्तर आपकी इच्छा पूरी करेगा।"

"ऐसा ही हो" कहकर जब शिबियोंने राजाके अनुनय-विनयको मान लिया तो उसने क्षत्ता (= द्वारपाल, सारथि) से कहा—"जाकर विश्वन्तरसे यह वृत्तान्त कहो।" "बहुत अच्छा" कहकर वह आँसुओंसे अपने मुखको सींचते हुए, विश्वन्तरके समीप, जो अपने घरमें ही था, पहुँचकर दुःख और शोकके आवेगसे फूट फूटकर रोते हुए उसके चरणोंमें गिर पड़ा। विश्वन्तरने घबडाकर पूछा—"राज-कुलका कुशल तो है?" उसने कातर होकर अस्पष्ट अक्षरोंमें कहा—"राज-कुलका कुशल है।" "तो इतना अधीर क्यों हो?" विश्वन्तरके पुनः यह पूछनेपर क्षत्ताने आँसुओंसे रुँधे हुए गद्‌गद कण्ठसे साँसों (सिसकियों) के कारण रुक रुककर भग्न अक्षरोंमें धीरे धीरे कहा—

"राजाकी सान्त्वनापूर्ण आज्ञाका भी उल्लंघन कर ये हृदय-हीन क्रुद्ध शिबि, हे राजन्, आपको निर्वासित कर रहे हैं। ॥ २१ ॥

विश्वन्तरने पूछा—"शिबि क्रुद्ध होकर मुझे निर्वासित कर रहे हैं, इसका क्या कारण है?

मैं अविनयके मार्गपर नही चलता हूँ और प्रमादसे दूर रहता हूँ। मैं अपना कोई अपराध नही देख रहा हूँ। शिबि क्यों मेरे प्रति कुपित है?"।। २२ ॥

क्षत्ताने उत्तर दिया—"आपकी अति उदारतासे।

अ-लोभके कारण (निस्वार्थ भावसे हाथी देकर) आपका संतोष निर्दोष और पवित्र था, किंतु याचकोंका लोभके कारण दूषित। हे सम्मान देनेवाले, आपके द्वारा गजेन्द्र दान करने पर, क्रोधने शिबियोंको धैर्य-च्युत कर दिया। ॥ २३ ॥

इसलिए आपके प्रति अपनी मर्यादा (प्रतिष्ठाकी सीमा) का अतिक्रमण कर ये उद्धत शिबि (आपसे कहते है)—"जिस रास्तेसे प्रव्रजित (संन्यासी, तपस्वी) जाते है उस रास्तेसे आप जायँ।" ॥ २४ ॥

तब बोधिसत्त्वने याचकोंके प्रति करुणाके अभ्याससे उत्पन्न अपना स्नेह-भाव और परम धैर्य प्रकट करते हुए कहा—"ये चपलस्वभाव शिबि मेरे स्वभावसे अनभिज्ञ जान पड़ते हैं।

द्रव्येषु बाह्येषु क एव वादो दद्यामहं स्वे नयने शिरो वा ।
इमं हि लोकार्थमहं बिभर्मि समुच्छ्रयं किम्वथ वस्त्रबाह्यम् ॥२५॥
यस्य स्वगात्रैरपि याचकानां वचांसि संपूजयितुं मनीषा ।
भयान्न दद्यात्स इति प्रतर्कः प्रकाशना बालिशचापलस्य ॥२६॥

कामं मां शिबयः सर्वे घ्नन्तु प्रव्राजयन्तु वा ।
न त्वेवाहं न दास्यामि गच्छाम्येष तपोवनम् ॥२७॥

अथ बोधिसत्त्वो विप्रियश्रवणविक्लवमुखीं पत्नीमुवाच । श्रुतोऽत्रभवत्या शिबीनां निश्चयः ॥ मद्र्युवाच । श्रुतोऽयं देव ॥ विश्वंतर उवाच ।

तद्यदस्ति धनं किंचिदस्मत्तोऽधिगतं त्वया ।
निधेहि तदनिन्द्याक्षि यच्च ते पैत्रिकं धनम् ॥२८॥
मद्र्युवाच । कुत्रैतद्देव निदधामीति । विश्वंतर उवाच ।
शीलवद्भ्यः सदा दद्या दानं सत्कारशोभरम् ।
तथा हि निहितं द्रव्यमहार्यमनुगामि च ॥२९॥
प्रियं श्वशुरयोः कुर्याः पुत्रयोः परिपालनम् ।
धर्ममेवाप्रमादं च शोकं मद्विरहात्तु मा ॥३०॥

तच्छ्रुत्वा मद्री संतप्तहृदयापि भर्तुरधृतिपरिहारार्थमनादृत्य शोकदैन्यमित्युवाच ।

नैष धर्मो महाराज यद्याया वनमेककः ।
तेनाहमपि यास्यामि येन क्षत्रिय यास्यसि ॥३१॥
त्वदङ्गपरिवर्तिन्या मृत्युरुत्सव एव मे ।
मृत्योर्दुःखतरं तत्स्याज्जीवेयं यत्त्वया विना ॥३२॥

"बाह्य वस्तुओंका क्या कहना ? मैं अपने नेत्र या शिर भी दान कर सकता हूँ। मै लोकोपकारके लिए ही इस शरीरको धारण करता हूँ; फिर वस्त्र और वाहन[1]का क्या कहना ? ॥ २५ ॥

जो अपने शरीरके अवयवोंसे भी याचकोंके वचन (मनोरथ) को सम्मानित (पूरा) करना चाहता है वह भय-भीत होकर दान न दे, यह सोचना मूर्खोंकी चपलता प्रकट करना है। ॥ २६ ॥

भले ही सब शिबि (मिलकर) मुझे मार डालें या निर्वासित करें, किंतु मै दान न दूँ यह हो नही सकता। मैं यह तपोवन चला।" ॥ २७ ॥

तब बोधिसत्त्वने अप्रिय समाचार सुननेसे उदासमुखी पत्नीमे कहा— "सुना आपने शिवियोंका निश्चय ?" मद्रीने कहा—"सुना, हे देव।" विश्वन्तरने कहा—

"इसलिए, हे सुन्दर आँखोंवाली, हमलोगोंसे या तेरे माता-पितासे प्राप्त जो कुछ धन तेरे पास है उसे रख दे।" ॥ २८ ॥

मद्रीने कहा—"उसे कहाँ रखूँ, हे देव ?" विश्वन्तरने कहा—

"शीलवान् व्यक्तियोंको सदा सत्कारपूर्वक दान दे; क्योकि उस प्रकार रखा हुआ धन नष्ट नही होता है और (मरणके बाद) साथ जाता है। ॥ २९ ॥

सास-ससुरकी सेवा कर, पुत्र-पुत्रीका पालन कर, प्रमाद-रहित होकर धर्माचरण कर और मेरे वियोगमें शोक न कर।" ॥ ३० ॥

यह सुनकर मद्रीने संतप्तहृदय होकर भी शोककी उपेक्षा कर स्वामीकी धैर्य-रक्षाके लिए कहा—

"हे महाराज, आप अकेले वन जायँ, यह धर्म नहीं। हे क्षत्रिय, मैं भी वहाँ जाऊँगी जहाँ आप जाइयेगा। ॥ ३१ ॥

आपके समीपमें रहकर (आपकी सेवामें) यदि मेरी मृत्यु भी हो जाय तो वह मेरे लिए उत्सव होगा। यदि आपके वियोगमें मैं जीवित भी रहूँ तो वह मेरे लिए मृत्युसे भी दुःखदायी होगा। ॥ ३२ ॥

नैव च खलु मे देव वनवासो दुःख इति प्रतिभाति। तथा हि।

निर्दुर्जनान्यनुपभुक्तसरित्तरूणि
नानाविहंगविरुतानि मृगाकुलानि।
वैडूर्यकुट्टिममनोहरशाद्वलानि
क्रीडावनाधिकसुखानि तपोवनानि ॥३३॥

अपि च देव।

अलंकृताविमौ पश्यन्कुमारौ मालभारिणौ।
क्रीडन्तौ वनगुल्मेषु न राज्यस्य स्मरिष्यसि ॥३४॥

ऋतुप्रयत्नरचिता वनशोभा नवा नवाः।
वने त्वां रमयिष्यन्ति सरित्कुञ्जाश्च सोदकाः ॥३५॥

चित्रं विरुतवादित्रं पक्षिणां रतिकाङ्क्षिणाम्।
मदाचार्योपदिष्टानि नृत्तानि च शिखण्डिनाम् ॥३६॥

माधुर्यानवगीतं च गीतं मधुपयोषिताम्।
वनेषु कृतसंगीतं हर्षयिष्यति ते मनः ॥३७॥

आस्तीर्यमाणानि च शर्वरीषु ज्योत्स्नादुकूलेन शिलातलानि।
संवाहमानो वनमारुतश्च लब्धाधिवासः कुसुमद्रुमेभ्यः ॥३८॥

चलोपलप्रस्खलितोदकानां कला विरावाश्च सरिद्वधूनाम्।
विभूषणानामिव संनिनादाः प्रमोदयिष्यन्ति वने मनस्ते ॥३९॥

इत्यनुनीयमानः स दयितया वनप्रयाणपर्युत्सुकमतिरर्थिजनापेक्षया महाप्रदानं दातुमुपचक्रमे ॥ अथेमां विश्वंतरप्रव्राजनप्रवृत्तिमुपलभ्य राजकुले तुमुल आक्रन्दशब्दः प्रादुरभूत्। शोकदुःखावेगान्मूर्छापरीत इवार्थिजनो मत्तोन्मत्त इव च तत्तद्बहुविधं विललाप।

छायातरोः स्वादुफलप्रदस्य च्छेदार्थमागूर्णपरश्वधानाम्।
धात्री न लज्जां यदुपैति भूमिर्व्यक्तं तदस्या हतचेतनत्वम् ॥४०॥

और, हे देव, वन-वास मुझे दुःख-दायी नही जान पड़ता। क्योंकि—

"दुर्जनोंसे रहित, निर्मल[1] नदियों और पवित्र[1] वृक्षोंसे युक्त, नाना पक्षियोंमे निनादित, मृगोंसे परिपूर्ण, वैदूर्य-खचित फर्शके समान मनोहर दूर्वाच्छादित (तृणाच्छादित) भूमिसे युक्त तपोवन (राज-प्रासादोंके कृत्रिम) क्रीडा-उद्यानोंसे अधिक सुख-दायक है। ॥ ३३ ॥

और भी, हे देव—

जब आप (फूलोंकी) मालाएँ धारण करनेवाले, (फूल-पत्तियोंसे) अलङ्कृत दोनों बच्चोंको जंगलकी झाड़ियोंमें खेलते हुए देखियेगा तब आप राज्यको भूल जाइयेगा। ॥ ३४ ॥

(भिन्न भिन्न) ऋतुओंकी अभिनव वन-शोभाएँ, लता-निकुञ्ज और जलसे भरी हुई नदियाँ जगलमें आपको आनन्दित करेंगी। ॥ ३५ ॥

रति चाहनेवाले (कामासक्त) पक्षियोके चित्र-विचित्र कूजनरूपी बाजे, उमंगमे आकर नाचनेवाले मोरोंके स्वाभाविक[2] नृत्य, भ्रमरियोंके सुमधुर गीत —ये तीनों जंगलमें आपको संगीतका आनन्द प्रदान करेंगे। ॥ ३६–३७ ॥

रातमें शिलाओंपर चाँदनीरूपी चादरका बिछाया जाना; फूलोंके पेड़ोंसे सुगन्धि लेकर जंगली हवा द्वारा आपका अङ्ग-मर्दन; चलते हुए पत्थरोंपर गिरनेवाली जल-धाराओंकी मधुर ध्वनि, जैसे सरितारूपी बधुओंके आभूषणोंकी झनकार हो;—यह सब वनमें आपके मनको प्रमुदित करेंगे।" ॥ ३८–३९ ॥

इस प्रकार प्रियतमाके अनुनय करनेपर वह वन जानेके लिए उत्सुक हो, याचकोंका खयाल कर उन्हें महादान देने लगा।

विश्वन्तरके इस निर्वासन-समाचारको सुनकर राज-कुलमें जोरोंसे रोनेका शब्द हुआ। शोक और दुःखके आवेगसे मानो मूर्छित होकर याचकों-ने मद-मत्त और पागलके समान भाँति भाँतिसे विलाप किया :—

"(शीतल) छाया और स्वादिष्ठ फल देनेवाले वृक्षको काटनेके लिए जिन्होंने कुठार उठाये[1] है उनके प्रति पृथ्वी माता जो लज्जित नहीं हो रही है सो स्पष्ट ही यह चेतना-हीन हो गई है। ॥ ४० ॥

शीतामलस्वादुजलं निपानं बिभित्सतामस्ति न चेन्निषेद्धा ।
व्यर्थाभिधाना बत लोकपाला विप्रोषिता वा श्रुतिमात्रकं वा ॥४१॥

अधर्मो बत जागर्ति धर्मः सुप्तोऽथवा मृतः ।
यत्र विश्वंतरो राजा स्वस्माद्राज्यान्निरस्यते ॥४२॥

कोऽनर्थपटुसामर्थ्यो याच्ञानूर्जितवृत्तिषु ।
अस्मास्वनपराधेषु वधाभ्युद्यमनिष्ठुरः ॥४३॥

अथ बोधिसत्त्वो नैकशतसहस्रसंख्यं मणिकनकरजतपरिपूर्णकोशं विविधधनधान्यनिचयवन्ति कोशकोष्ठागाराणि दासीदासयानवाहन-वसनपरिच्छदादि च सर्वमर्थिभ्यो यथार्हमतिसृज्य शोकदुःखाभिभूतधैर्ययोर्मातापित्रोश्चरणानभिप्रणम्य सपुत्रदारः स्यन्दनवरमभिरुह्य पुण्याहघोषेणेव महतो जनकायस्याक्रन्दितशब्देन पुरवरान्निरगच्छत् । अनुरागवशगमनुयायिनं च जनं शोकाश्रुपरिक्लिन्नवदनं प्रयत्नाद्विनिवर्त्य स्वयमेव रथप्रग्रहान् प्रतिगृह्य येन वङ्कः पर्वतस्तेन प्रायात् । व्यतीत्य चाविक्लवमतिरुद्यानवनरुचिरमालिनं पुरवरोपचारमनुपूर्वेण प्रविरलच्छायद्रुमं विच्छिद्यमानजनसंपातं प्रविचरितमृगगणसंबाधदिगालोकं चीरीविरावोन्नादितमरण्यं प्रत्यपद्यत ॥ अथैनं यदृच्छयाभिगता ब्राह्मणा रथवाहाँस्तुरगानयाचन्त ।

स वर्तमानोऽध्वनि नैकयोजने सहायहीनोऽपि कलत्रवानपि ।
प्रदानहर्षादनपेक्षितायतिर्ददौ द्विजेभ्यश्चतुरस्तुरंगमान् ॥४४॥

अथ बोधिसत्त्वस्य स्वयमेव रथधुर्यतामुपगन्तुकामस्य गाढतरं परिकरमभिसंयच्छमानस्य रोहितमृगरूपिणश्चत्वारो यक्षकुमाराः सुविनीता इव सदश्वाः स्वयमेव रथयुगं स्कन्धप्रदेशैः प्रत्यपद्यन्त । तांस्तु दृष्ट्वा हर्षविस्मयविशालतराक्षीं मद्रीं बोधिसत्त्व उवाच ।

शीतल विमल और मधुर जलके कुएँको जो फोड़ना चाहते है, उन्हें रोकनेवाला यदि कोई नहीं है तो लोक-पालों का नाम व्यर्थ है, या वे कही चले गये है, या (है तो) नाममात्र के लिए है। ॥ ४१ ॥

जहाँ युवराज विश्वन्तर अपने राज्यसे निकाला जा रहा है वहाँ अधर्म जाग्रत् है और धर्म सोया हुआ या मरा हुआ। ॥ ४२ ॥

इस अनर्थको उपस्थित करनेमें (=इस अनिष्टका सृजन करनेमें) समर्थ वह कौन है जो भिक्षासे जीनेवाले हम निरपराधों को (भूखों) मारनेकी चेष्टामें निष्ठुर हो गया है ?" ॥ ४३ ॥

तब बोधिसत्त्व लाखोंकी सख्यामें (या लाखोंका) सोना चाँदी और मणियोमे परिपूर्ण कोश, विविध धनोंके निधि, नाना प्रकारके अन्न-भण्डार, दास-दासी, गाड़ी-सवारी वस्त्र-आभूषण आदि सब कुछ याचकोंको यथायोग्य देकर, शोक और दुःखसे विचलित-धैर्य माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम कर, पुत्र-पुत्री और पत्नीके साथ उत्तम रथपर सवार होकर, विशाल जन-समूहके रोनेके शब्दके साथ—मानो पुण्य-दिवसकी घोषणाके साथ—नगरसे निकले। प्रेम-वश पीछे पीछे जानेवाले लोगोंको, जिनके मुख शोकके आँसुओं से भीगे थे, प्रयत्नपूर्वक लौटाकर वे स्वयं ही रथ (के घोड़ों) की रस्सियाँ पकडकर जहाँ वङ्क पर्वत था वहाँ चले। शान्तचित्त होकर उन्होने उद्यानों और उपवनोंकी शृखलाओंसे सुशोभित नगरके समीपवर्त्ती स्थानोंको पार किया। अब क्रमशः छाया-वृक्षोंकी विरलता हो रही थी, मनुष्योका आवा-गमन कट रहा था, चारों ओर विचरते मृगों (या पशुओं) से दिशाओंका आलोक लुप्त हो रहा था। वे झिगुरोंकी बोलीसे गूँजते हुए जंगलमें पहुँचे। तब संयोगमे आये हुए ब्राह्मणोंने उनसे रथ ढोनेवाले घोड़ोकी याचना की।

यद्यपि अभी वे अनेक योजनोंके मार्गपर पत्नीके साथ अनुचरोंसे रहित थे, तथापि दानके आनन्दसे भविष्यकी उपेक्षा कर उन्होंने चारों घोड़े द्विजोंको दे दिये। ॥ ४४ ॥

अब बोधिसत्त्व स्वयं ही रथ ढोनेकी इच्छासे दृढ़ परिकर-बद्ध हो रहे थे कि रोहित मृगोंके रूपमें चार यक्ष-कुमार प्रकट हुए। उन्होंने सुशिक्षित (सुविनीत) उत्तम घोड़ोंके समान स्वयं ही रथके जुएको अपने कन्धोंपर ले लिया। उन्हें देखकर आनन्द और आश्चर्यसे विकसित आँखोंवाली मद्रीसे बोधिसत्त्वने कहा—

तपोधनाध्यासनसत्कृतानां पश्य प्रभावातिशयं वनानाम् ।
यत्रैवमभ्यागतवत्सलत्वं संरूढमूलं मृगपुंगवेषु ॥ ४५ ॥

मद्र्युवाच ।

तवैवाहमिमं मन्ये प्रभावमतिमानुषम् ।
रूढोऽपि हि गुणाभ्यासः सर्वत्र न समः सताम् ॥४६॥

तोयेषु ताराप्रतिबिम्बशोभा विशेष्यते यत्कुमुदप्रहासैः ।
कौतूहलाभिप्रसृता इवेन्दोर्हेतुत्वमत्राग्रकराः प्रयान्ति ॥४७॥

इति तयोरन्योन्यानुकूल्यात्परस्परं प्रियं वदतोरध्वानं गच्छतोरथापरो ब्राह्मणः समभिगम्य बोधिसत्त्वं रथवरमयाचत ।

ततः स्वसुखनिःसङ्गो याचकप्रियबान्धवः ।
पूरयामास विप्रस्य स रथेन मनोरथम् ॥४८॥

अथ बोधिसत्त्वः प्रीतमना रथादवतार्य स्वजनान्निर्यात्य रथवरं ब्राह्मणाय जालिनं कुमारमङ्केनादाय पद्भ्यामेवाध्वानं प्रत्यपद्यत । अविमनस्कैव च मद्री कृष्णाजिनां कुमारीमङ्केनादाय पृष्ठतोऽन्वगच्छदेनम् ॥

निमन्त्रयामासुरिव द्रुमास्तं हृद्यैः फलैरानमिताग्रशाखाः ।
पुण्यानुभावादभिवीक्षमाणाः शिष्या विनीता इव च प्रणेमुः ॥४९॥

हंसांसविक्षोभितपङ्कजानि किञ्जल्करेणुस्फुटपिञ्जराणि ।
प्रादुर्बभूवुश्च सरांसि तस्य तत्रैव यत्राभिचकाङ्क्ष वारि ॥५०॥

वितानशोभां दधिरे पयोदाः सुखः सुगन्धिः प्रववौ नभस्वान् ।
परिश्रमक्लेशममृष्यमाणा यक्षाश्च संचिक्षिपुरस्य मार्गम् ॥५१॥

"तपस्वियोंके निवास मे सत्कृत[1] तपोवनका उत्कृष्ट प्रभाव देखो जहाँके श्रेष्ठ मृगोंमे भी इस प्रकारका अतिथि-प्रेम बद्धमूल है।" ॥ ४५ ॥

मद्रीने कहा—

"मै तो इसे आपका ही अलौकिक प्रभाव मानती हूँ। क्योंकि, सज्जन सद्गुणी होकर भी अपने गुणोंको सर्वत्र समान रूपमे नही दिखलाते। ॥४६॥

पानीमें ताराओके प्रतिबिम्बकी शोभाको (खिलते हुए) कुमुदोकी शोभा मात कर देती है, इसका कारण है चन्द्रमाकी किरणे जो मानो कुतूहलसे (कुमुदोतक) पहुँचती है।" ॥ ४७ ॥

जब वे दोनों (दम्पती) इस तरह एक दूसरेके मनोनुकूल परस्पर मधुर वचन बोलते हुए जा रहे थे तब एक दूसरे ब्राह्मणने समीप आकर बोधिसत्त्वसे उस उत्तम रथकी याचना की।

तब अपने सुखकी ओरसे लापरवाह, उस याचकोंके प्रिय बन्धुने रथ देकर ब्राह्मणका मनोरथ पूरा किया। ॥ ४८ ॥

बोधिसत्त्वने प्रसन्नतापूर्वक स्वजनोंको रथसे उतारकर और ब्राह्मणको रथ देकर,[2] स्वयं कुमार जालीको अपनी गोदमें लेकर रास्ता पकड़ा। और, मद्री भी प्रसन्नतापूर्वक कुमारी कृष्णाजिना[3] को अपनी गोदमें लेकर उनके पीछे पीछे चली।

वृक्षोंने अपनी शाखाओंके अग्रभाग झुकाकर उन्हें अपने स्वादिष्ठ फलोंके लिए[4] निमंत्रित किया; पुण्यके प्रभावमे उनका दर्शन पाकर उन वृक्षोंने विनीत शिष्योंके समान उन्हें मानो प्रणाम किया। ॥ ४९ ॥

जहाँ कही उन्होंने जलकी आकाङ्क्षा की वही सरोवर प्रकट हुए, जिनके कमल हंसोंके परोंसे प्रकम्पित हो रहे थे और जिनका जल कमलोंके परागसे लाल-पीला हो रहा था। ॥ ५० ॥

बादलोंने (प्रकट होकर उनके ऊपर) चँदोबेकी शोभा धारण की, सुख-दायक सुगन्धित हवा बही, और उनकी थकावटकी पीड़ाको नहीं सह सकनेवाले यक्षोंने उनके मार्गको संक्षिप्त (छोटा) कर दिया। ॥ ५१ ॥

इति बोधिसत्त्व उद्यानगत इव पादचारविनोदनसुखमनुभवन्मार्गपरिखेदरसमनास्वाद्य सपुत्रदारः प्रान्त एव तु वङ्कपर्वतमपश्यत् । तत्र च पुष्पफलपल्लवालंकृतस्निग्धविविधरुचिरतरुवरनिचितं मदमुदितविहंगबहुविधरुतविनदं प्रवृत्तनृत्तबर्हिगणोपशोभितं प्रविचरितनैकमृगकुलं कृतपरिकरमिव विमलनीलसलिलया सरिता कुसुमरजोऽरुणसुखपवनं तपोवनं वनचरकादेशितमार्गः प्रविश्य विश्वकर्मणा शक्रसंदेशात् स्वयमभिनिर्मितां मनोज्ञदर्शनां सर्वर्तुसुखां तत्र प्रविविक्तां पर्णशालामध्यावसत् ।

तस्मिन्वने दयितया परिचर्यमाणः ।
श्रृण्वन्नयत्नमधुरांश्च सुतप्रलापान् ।
उद्यानसंस्थ इव विस्मृतराज्यचिन्तः
संवत्सरार्धमधिकं स तपश्चचार ॥५२॥

अथ कदाचिन्मूलफलार्थं गतायां राजपुत्र्यां पुत्रयोः परिपालननिमित्तमाश्रमपदमशून्यं कुर्वाणे राजपुत्रे मार्गरेणुपरुषीकृतचरणप्रजङ्घः परिश्रमक्षामनयनवदनो दण्डकाष्ठावबद्धस्कन्धावसक्तकमण्डलुर्ब्राह्मणः पत्न्या परिचारकानयनार्थं समर्पितदृढसंदेशस्तं देशमुपजगाम । अथ बोधिसत्वश्चिरस्यार्थिजनं दृष्ट्वाऽभिगतं मनःप्रहर्षात् समुपजायमाननयनवदनप्रसादः प्रत्युद्गम्य स्वागतादिप्रियवचनपुरःसरं प्रवेश्य चैनमाश्रमपदं कृतातिथिसत्कारमागमनप्रयोजनमपृच्छत् । अथ स ब्राह्मणो भार्यानुरागादुत्सारितधैर्यलज्जः प्रतिग्रहमात्रसज्जो नियतमर्थमीदृशमुवाच ।

इस प्रकार पुत्र-पुत्री और पत्नीके साथ उन्हें रास्तेकी थकावट मालूम नहीं हुई, जान पड़ा जैसे वे उद्यानमें पैदल चलनेका (टहलनेका) आनन्द अनुभव कर रहे हों। अन्तमें उन्होंने वङ्क पर्वतको देखा। और, किसी वन-चारीके बतलाये रास्तेसे चलकर वे फूलों फलों व पल्लवोंसे अलंकृत हरे-भरे[1] नाना प्रकारके वृक्षोंसे खचित, प्रमुदित पक्षियोंके बहुविध कूजनसे निनादित, नाचते हुए मोरोंसे सुशोभित, विचरते हुए अनेक प्रकारके मृगोसे युक्त, निर्मल नीलाभ जलवाली नदीसे परिवेष्टित, फूलोंके परागसे सुगन्धित सुख-दायक हवासे युक्त[2] तपोवनमें पहुँचे और वहाँ शक्रके आदेशसे स्वयं विश्वकर्माद्वारा बनाई गई देखनेमें सुन्दर सब ऋतुओंमें सुख-दायक एकान्त और पवित्र पर्णशालामें रहने लगे।

उस तपोवनमें अपनी प्रियतमाकी सेवाओंका उपभोग करते हुए, अपने बच्चोंकी अकृत्रिम और मीठी बातें सुनते हुए, राज-उद्यानमें रहनेवालेके समान राज्य-चिन्ताओंको भूलकर उन्होंने छः महीने तक कठोर तपस्या की। ॥ ५२ ॥

एकबार जब राज-पुत्री (मद्री) फल-मूल लानेके लिए गई और राज-पुत्र (विश्वन्तर) बच्चोंकी रक्षाके लिए आश्रममें रहे तब एक ब्राह्मण वहाँ आया। रास्तेकी धूलसे भरकर उसके पैर और टाँगें कड़ी हो गई थीं, थकावटसे उसके नेत्र और मुख धँस गये थे, उसके कंधेपर काठकी लाठीसे एक कमण्डल लटक रहा था, उसकी पत्नीने (सेवा-कर्मके लिए) सेवक लानेका दृढ आदेश देकर उसे भेजा था। बहुत दिनोंके बाद याचकको आया देखकर, हार्दिक प्रसन्नताके कारण बोधिसत्त्वके नेत्र और मुख खिल उठे। वे आगे जाकर स्वागत आदिके मधुर वचनोंके साथ उसे आश्रमके भीतर ले आये और अतिथि-सत्कार कर चुकनेपर उससे आनेका प्रयोजन पूछा। पत्नी-प्रेम के कारण धैर्य और लज्जाको छोड़कर, केवल याचनाके लिए ही उद्यत उस ब्राह्मणने अपना निश्चित प्रयोजन यों कहा—

आलोको भवति यतः समश्च मार्गो
लोकोऽयं व्रजति ततो न दुर्गमेण।
प्रायोऽस्मिञ्जगति तु मत्सरान्धकारे-
णान्ये न प्रणयपदानि मे वहन्ति ॥५३॥

प्रदानशौर्योदितया यशःश्रिया गतं च गन्तव्यमशेषतस्तव।
अतोऽस्मि याच्ञाश्रममभ्युपेयिवान्प्रयच्छ तन्मे परिचारकौ सुतौ ॥५४॥

इत्युक्ते बोधिसत्त्वो महासत्त्वः

दानप्रीतौ कृताभ्यासः प्रत्याख्यातुमशिक्षितः।
ददामीत्यवदद्धृष्टं दयितौ तनयावपि ॥५५॥

स्वस्त्यस्तु। तत्किमिदानीमास्यत इति च ब्राह्मणेनाभिहितः स महासत्त्वः प्रदानकथाश्रवणोत्पतितविषादविप्लुताक्षयोः सुतयोः स्नेहावेगादवलम्बमानहृदयो बोधिसत्त्व उवाच।

दत्तावेतौ मया तुभ्यं किं तु मातानयोर्गता।
वनं मूलफलस्यार्थे सायमद्यागमिष्यति ॥५६॥
तया दृष्टावुपाघ्रातौ मालिनावभ्यलंकृतौ।
इहैकरात्रं विश्रम्य श्वो नेतासि सुतौ मम ॥५७॥

ब्राह्मण उवाच। अलमनेनात्रभवतो निर्बन्धेन।

गौणमेतद्धि नारीणां नाम वामा इति स्थितम्।
स्याच्चैव दानविघ्नस्ते तेन वासं न रोचये ॥५८॥

बोधिसत्त्व उवाच। अलं दानविघ्नशङ्कया। सहधर्मचारिणी मम सा। यथा वात्रभवते रोचते। अपि च महाब्राह्मण।

सुकुमारतया बाल्यात्परिचर्यास्वकौशलात्।
कीदृशीं नाम कुर्यातां दासप्रीतिमिमौ तव ॥५९॥
दृष्ट्वा त्वित्थंगतावेतौ शिबिराजः पितामहः।
अद्धा दद्याद्यदिष्टं ते धनं निष्क्रयमेतयोः ॥६०॥
यतस्तद्विषयं साधु त्वमिमौ नेतुमर्हसि।
एवं ह्यर्थेन महता धर्मेण च समेष्यसि ॥६१॥

"जहाँ प्रकाश और समतल मार्ग होता है वहाँ लोगोंके लिए चलना सुगम है (मै अपनी जीवन-यात्रा सुगम बनाना चाहता हूं), किंतु स्वार्थान्धताके कारण इस जगत्‌मे दूसरे लोग मेरी प्रार्थना स्वीकार नही कर सकते। ॥५३॥

आपकी दान-वीरतासे उत्पन्न आपकी कीर्ति-लक्ष्मी सर्वत्र व्याप्त है; अतः मैंने यह याचनाका कष्ट उठाया है, सो इन दोनों बच्चोको आप मेरी परिचर्या (=सेवा-शुश्रूषा) के लिए दें।" ॥५४॥

इतना कहनेपर महासत्त्व बोधिसत्त्वने,

जिन्होने अस्वीकार करना सीखा नही था और जिन्होंने दान देनेमे आनन्दित होनेका अभ्यास किया था, साहसपूर्वक कहा—"मै ये दोनों प्यारे बच्चे भी दे दूँगा।" ॥ ५५ ॥

"स्वस्ति हो। तो आप बैठे क्यो है?" इस प्रकार जब उस ब्राह्मणने महासत्त्वसे पूछा, तब दानकी बात सुनकर दु:खमे अश्रु-प्लावित-नेत्र बच्चोंके प्रति स्नेह उमड़नेके कारण विषण्ण-हृदय बोधिसत्त्वने कहा—

"मैने दोनों बच्चे आपको दे दिये, किंतु इनकी माता फल-मूल लानेके लिए जगल गई है, आज शामको आयेगी। आप यहाँ एक रात ठहर जायँ। (जंगलसे आकर) वह मालाओं और आभूषणोंसे विभूषित बच्चोको देखेगी और सूँघेगी। कल (प्रात:काल) आप इन्हे ले जाइयेगा।" ॥५६-५७॥

ब्राह्मणने कहा—"आप यह हठ न करे।"

स्त्रियोका जो यह 'वामा'[1] नाम पड़ा है वह उनके गुणसे ही। आपके दानमें विघ्न न हो, इसीलिए यहाँ ठहरना मुझे पसन्द नहीं है।" ॥ ५८ ॥

बोधिसत्त्वने कहा—"आप दानमें विघ्न होनेकी आशंका न करें। वह मेरी सहधर्मचारिणी है। या आपको जो पसन्द हो। और, हे महाब्राह्मण,

सेवामें अकुशल ये सुकुमार बच्चे सेवाद्वारा आपको भला कहाँ तक खुश करेंगे। इस अवस्थामें इन्हें देखकर इनके पितामह शिबि-राज (दासतासे) इन्हें छुड़ानेके लिए अवश्य ही आपको यथेष्ट धन देंगे। इसलिए आप इन्हें उनके राज्यमें ले जाइये, इस प्रकार आपको बहुत धन और धर्म प्राप्त होगा। ॥ ५९-६१ ॥

(ब्राह्मण उवाच।) न शक्ष्याम्यहमाशीविषदुरासदं विप्रियोपायनेन राजानमभिगन्तुम्।

आच्छिन्द्यान्मदिमौ राजा दण्डं वा प्रणयेन्मयि।
यतो नेष्याम्यहमिमौ ब्राह्मण्याः परिचारकौ॥६२॥

अथ बोधिसत्त्वो यथेष्टमिदानीमित्यपरिसमाप्तार्थमुक्त्वा सानुनयमनुशिष्य तनयौ परिचर्यानुकूल्ये प्रतिग्रहार्थमभिप्रसारिते ब्राह्मणस्य पाणौ कमण्डलुमावर्जयामास।

तस्य यत्नानुरोधेन पपाताम्बु कमण्डलोः।
पद्मपत्राभिताम्राभ्यां नेत्राभ्यां स्वयमेव तु॥६३॥

अथ स ब्राह्मणो लाभातिहर्षात् संभ्रमाकुलितमतिर्बोधिसत्त्वतनयापहरणत्वरया संक्षिप्तपदमाशीर्वचनमुक्त्वा निर्गम्यतामित्याज्ञाकर्कशेन वचसा कुमारावाश्रमपदान्निष्क्रामयितुमारेभे॥ अथ कुमारौ वियोगदुःखातिभारव्यथितहृदयौ पितरमभिप्रणम्य बाष्पोपरुध्यमाननयनावूचतुः।

अम्बा च तात निष्क्रान्ता त्वं च नौ दातुमिच्छसि।
यावत्तामपि पश्यावस्ततो दास्यति नौ भवान्॥६४॥

अथ स ब्राह्मणः पुरा मातानयोरागच्छति। अस्य वा पुत्रस्नेहात् पश्चात्तापः संभवतीति विचिन्त्य पद्मकलापमिवानयोर्हस्तानाबद्ध्य लतया संतर्जयन्विचेष्टमानौ पितरं प्रति व्यावर्तितवदनौ प्रकृतिसुकुमारौ कुमारौ प्रचकर्ष॥ अथ कृष्णाजिना कुमार्यपूर्वदुःखोपनिपातात् सस्वरं रुदती पितरमुवाच।

अयं मां ब्राह्मणस्तात लतया हन्ति निर्दयः।
न चायं ब्राह्मणो व्यक्तं धार्मिका ब्राह्मणाः किल॥६५॥
यक्षोऽयं ब्राह्मणच्छद्मा नूनं हरति खादितुम्।
नीयमानौ पिशाचेन तात किं नावुपेक्षसे॥६६॥

(ब्राह्मणने कहा––) "मैं यह अप्रिय उपहार लेकर सर्पके समान दुर्गम राजाके पास न जा सकूँगा।

राजा मुझसे इन बच्चोंको छीन लेगा या मुझे दण्ड भी देगा। अतः मै इन परिचारकोंको ब्राह्मणीके समीप ही ले जाऊँगा। ॥ ६२ ॥

तब बोधिसत्त्वने "जैसी आपकी इच्छा...." यह अधूरा वाक्य कहकर, अपने बच्चोंको सेवामें प्रवृत्त होनेके लिए अनुनयपूर्वक उपदेश देकर, दान ग्रहण करनेके लिए ब्राह्मणके पसारे हुए हाथपर कमण्डलु झुकाया।

उनके प्रयत्न करनेपर कमण्डलुसे जल गिरा, किंतु कमलकी पंखुड़ियों के समान ताम्रवर्ण नेत्रोंसे स्वयं ही अश्रु-जल निकल पड़ा। ॥ ६३ ॥

तब वह ब्राह्मण लाभके आनन्दातिरेकमें घबड़ाहटसे व्याकुलचित्त होकर बोधिसत्त्वके बच्चोंके अपहरणकी शीघ्रतामें संक्षिप्त आशीर्वाद देकर, "निकलो" यह कठोर आज्ञा देता हुआ, उन्हें आश्रमसे निकालने लगा। जुदाईके भारी दुःखसे उनके हृदयमें बड़ी पीड़ा हुई, आँसुओंसे उनकी आँखे भर आई। पिताको प्रणाम कर उन्होंने कहा––

"हे पिता, माताजी बाहर गई है, और आप हमें दान करना चाहते हैं। हम उनका भी दर्शन कर लें, तब आप हमें दान कीजियेगा।" ॥ ६४ ॥

अब उस ब्राह्मणने सोचा––'कही इसकी माता न आ जाय या इसे बच्चोंके प्रति स्नेह न उत्पन्न हो जाय।' यह सोचकर वह कमलोके गुच्छेके समान उनके हाथोंको लतासे बाँधकर, पिताकी ओर मुख घुमाकर छट-पटाते हुए स्वभावतः सुकुमार बच्चोंको डरा-धमका कर खीचने लगा। इस अपूर्व विपत्तिमें पड़कर कुमारी कृष्णाजिना बिलख बिलखकर पितासे कहने लगी––

"पिताजी, यह निर्दय ब्राह्मण मुझे लतासे मार रहा है, स्पष्ट ही यह ब्राह्मण नहीं है, ब्राह्मण तो धार्मिक होते है। ब्राह्मणके कपट-वेषमें यह यक्ष निश्चय ही खानेके लिए हमारा अपहरण कर रहा है। पिशाच हमें लिये जा रहा है; पिताजी, आप क्यों हमारी उपेक्षा कर रहे है?" ॥ ६५-६६ ॥

अथ जाली कुमारो मातरमनुशोचन्नुवाच ।

नैवेदं मे तथा दुःखं यदयं हन्ति मां द्विजः ।
नापश्यमम्बां यत्त्वद्य तद्विदारयतीव माम् ॥६७॥

रोदिष्यति चिरं नूनमम्बा शून्ये तपोवने ।
पुत्रशोकेन कृपणा हतशावेव चातकी ॥६८॥

अस्मदर्थे समाहृत्य वनान्मूलफलं बहु ।
भविष्यति कथं न्वम्बा दृष्ट्वा शून्यं तपोवनम् ॥६९॥

इमे नावश्वकास्तात हस्तिका रथकाश्च ये ।
अतोऽर्धं देयमम्बायै शोकं तेन विनेष्यति ॥७०॥

वन्द्यास्मद्वचनादम्बा वार्या शोकाच्च सर्वथा ।
दुर्लभं हि पुनस्तात तव तस्याश्च दर्शनम् ॥७१॥

एहि कृष्णे मरिष्यावः कोन्वर्थो जीवितेन नौ ।
दत्तावावां नरेन्द्रेण ब्राह्मणाय धनैषिणे ॥७२॥

इत्युक्त्वा जग्मतुः ॥ अथ बोधिसत्त्वस्तेनातिकरुणेन तनयप्रलापेनाकम्पितमतिरपि क इदानीं दत्त्वानुतापं करिष्यतीति निष्प्रतीकारेण शोकाग्निना विनिर्दह्यमानहृदयो विषवेगमूर्छापरिगत इव समुपरुध्यमानचेतास्तत्रैव निषसाद । शीतलानिलव्यजनप्रतिलब्धसंज्ञश्च निष्कूजमिवाश्रमपदं तनयशून्यमभिवीक्ष्य बाष्पगद्गदसंनिरुद्धकण्ठ इत्यात्मगतमुवाच ।

पुत्राभिधाने हृदय समक्षं प्रहरन्मम ।
नाशङ्कत कथं नाम धिगलज्जो बत द्विजः ॥७३॥

पत्तिकावनुपानत्कौ सौकुमार्यात्क्लमासहौ ।
यास्यतः कथमध्वानं तस्य च प्रेष्यतां गतौ ॥७४॥

कुमार जालीने माताके लिए शोक करते हुए कहा—“यह ब्राह्मण मुझे लतासे जो मार रहा है, यह मेरे लिए उतना दुःख–दायी नही है; किंतु मैंने आज माताको जो न देखा, इससे मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है। ॥ ६७ ॥

माता शून्य तपोवनमें, अपने बच्चोंके मारे जानेसे (शोकाकुल) चातक चिड़ियाके समान, हमारे लिए चिरकाल तक रोयेगी। ॥ ६८ ॥

हमारे लिए जंगलसे बहुत-सा फल-मूल लाकर (माताजी जब लौटेंगी तब) तपोवनको सूना देखकर उनकी क्या अवस्था होगी? ॥ ६९ ॥

पिताजी, हमारे खेलनेके जो ये घोड़े हाथी और रथ हैं इनमेंसे आधा माँ को दे देना, इससे वे अपना दुःख दूर करेंगी। ॥७० ॥

माताजीको हमारा प्रणाम निवेदन कीजियेगा और उन्हे जैसे भी हो शोकसे रोकियेगा। पिताजी, अब आपका और माताजीका दर्शन दुर्लभ है। ॥ ७१ ॥

कृष्णे, आओ हम मर जायँ। हमारे जीवित रहनेसे क्या प्रयोजन? राजाने हम दोनोंको इस धन-लोलुप ब्राह्मणके हाथ दे दिया।” ॥ ७२ ॥

यह कहकर दोनों चले गये। बच्चोंके उस करुण प्रलापको सुनकर यद्यपि बोधिसत्त्वका निश्चय अविचल रहा तथापि 'देकर अब कौन पछतायें' यह सोचते हुए भी उनका हृदय जलने लगा। विषके वेगसे मूर्छित हुएके समान बेहोश होकर वे वही बैठ रहे। ठंढी हवारूपी पंखेके चलनेसे होशमें आकर, बच्चोंसे रहित आश्रमको निःशब्द और नीरव देखकर, उन्होंने आँसुओंसे रुँधे स्वरमें अपनेको ही कहा—

“पुत्रनामक (=सन्तानके रूपमें) मेरे हृदयपर मेरे समक्ष प्रहार करता हुआ वह क्यों शंकित नही हुआ? धिक्कार है उस निर्लज्ज द्विजको! ॥७३ ॥

सुकुमारताके कारण थकावट सहनेमें असमर्थ बच्चे उनके दास बनकर जूतोंके विना पैदल कैसे रास्ता चलेंगे? ॥ ७४ ॥

मार्गश्रमपरिम्लानौ कोऽद्य विश्रामयिष्यति ।
क्षुत्तर्षदुःखाभिहतौ याचिष्येते कमेत्य वा ॥७५॥

मम तावदिदं दुःखं धीरतां कर्तुमिच्छतः ।
का त्ववस्था मम तयोः सुतयोः सुखवृद्धयोः ॥७६॥

अहो पुत्रवियोगाग्निर्निर्दहत्येव मे मनः ।
सतां तु धर्मं संस्मृत्य कोऽनुतापं करिष्यति ॥७७॥

अथ मद्री विप्रियोपनिपातशंसिभिरनिष्टैर्निमित्तैरुपजनितवैमनस्या मूलफलान्यादाय क्षिप्रतरमागन्तुकामापि व्याडमृगोपरुध्यमानमार्गा चिरतरेणाश्रमपदमुपजगाम । उचितायां च प्रत्युद्गमनभूमावाक्रीडास्थाने च तनयावपश्यन्ती भृशतरमरतिवशमगात् ।

अनीप्सिताशङ्कितजातसंभ्रमा ततः सुतान्वेषणचञ्चलेक्षणा ।
प्रसक्तमाह्वानमसंपरिग्रहं तयोर्विदित्वा व्यलपच्छुचातुरा ॥७८॥

समाजवद्यत्प्रतिभाति मे पुरा सुतप्रलापप्रतिनादितं वनम् ।
अदर्शनादद्य तयोस्तदेव मे प्रयाति कान्तारमिवाशरण्यताम् ॥७९॥

किं नु खलु तौ कुमारौ

क्रीडाप्रसङ्गश्रमजातनिद्रौ सुप्तौ नु नष्टौ गहने वने वा ।
चिरान्मदभ्यागमनादतुष्टौ स्यातां क्वचिद्बालतया निलीनौ ॥८०॥

रुवन्ति कस्माच्च न पक्षिणोऽप्यमी समाकुलास्तद्वधसाक्षिणो यदि ।
तरंगभङ्गैरविनीतकोपया हृतौ नु किं निम्नगयातिवेगया ॥८१॥

रास्तेकी थकावटसे मुरझाये हुए बच्चोंको आज कौन विश्राम करायेगा? या भूख-प्यासकी ज्वालासे व्यथित होकर वे किसके पास जाकर माँगेंगे?॥७५।

मुझ धैर्य चाहनेवालेको जब इतना दुःख है तब सुखमें पले हुए मेरे उन बच्चोंकी क्या अवस्था होगी? ॥ ७६ ॥

अहो! पुत्र-वियोगका शोकाग्नि मेरे हृदयको जला रहा है अवश्य; किंतु सज्जनोंके धर्मका अनुस्मरण कर कौन पश्चात्ताप करे?" ॥ ७७ ॥

मद्री विपत्ति-सूचक दुर्लक्षणोंको देखकर उदास हो गई। वह फल-मूल लेकर शीघ्र लौट आना चाहती थी, किंतु हिंसक पशुओंने उसका रास्ता रोक रखा; अतः वह (टेढ़े-मेढ़े लम्बे रास्तेसे) देरसे आई। आगे आकर मिलने के नियत स्थानपर या खेलनेके स्थानपर अपने बच्चोंको न देखकर वह बहुत बेचैन हो गई।

अनिष्ट (अमङ्गल) की आशंकासे वह घबड़ा गई और अपनी चञ्चल आँखोंसे बच्चोंको खोजने लगी। बार बार पुकारनेपर भी वे कुछ उत्तर नहीं दे रहे हैं, यह जानकर वह शोकाकुल होकर विलाप करने लगी। ॥७८॥

"बच्चोंकी बातोंसे गूँजता हुआ जो जंगल पहले मुझे समाजके समान जान पड़ता था आज बच्चोंको न देखनेके कारण वही जंगल बीहड़ वन (या मरुभूमि) के समान मुझे काट रहा है। ॥ ७९ ॥

क्या वे बच्चे—

खेलते खेलते थककर नींदसे सो तो नहीं गये हैं? या घने वनमें खो तो नहीं गये हैं? या मैं देर से आई हूँ, इसी लिए रुष्ट होकर बाल-भावके कारण छिप तो नहीं गये हैं? ॥ ८० ॥

ये पक्षी बोल क्यों नहीं रहे हैं? शायद बच्चोंकी विपत्ति देखकर व्याकुल हों। या नीचेकी ओर जोरोंसे बहनेवाली यह क्रुद्ध नदी अपने तरंगोंमें उन्हें बहा ले गई हो। ॥ ८१ ॥

अपीदानीं मे वितथा मिथ्याविकल्पा भवेयुः। अपि राजपुत्राय सपुत्राय स्वस्ति स्यात्। अप्यनिष्टनिवेदिनां निमित्तानां मच्छरीर एव विपाको भवेत्। किं नु खल्विदमनिमित्तापवृत्तप्रहर्षमरतितमिस्रया-वच्छाद्यमानं विद्रवतीव हृदयं। विस्रस्यन्त इव मे गात्राणि। व्याकुला इव दिग्विभागाः। भ्रमतीव चेदं परिध्वस्तलक्ष्मीकं वनमिति। अथानु-प्रविश्याश्रमपदमेकान्ते निक्षिप्य मूलफलं यथोपचारपुरःसरं भर्तारम-भिगम्य क्व दारकाविति पप्रच्छ। अथ बोधिसत्त्वो जानानः स्नेहदुर्बल-तां मातृहृदयस्य दुर्निवेद्यत्वाच्च विप्रियस्य नैनां किंचिद्वक्तुं शशाक।

जनस्य हि प्रियार्हस्य विप्रियाख्यानवह्निना।
उपेत्य मनसस्तापः सघृणेन सुदुष्करः ॥८२॥

अथ मद्री व्यक्तमकुशलं मे पुत्रयोः। यदयमेवं तूष्णींभूतः शोक-दैन्यानुवृत्त्यैवेत्यवधार्य समन्ततः क्षिप्तचित्तेव विलोक्याश्रमपदं तनयाव-पश्यन्ती सबाष्पगद्गदं पुनरुवाच।

दारकौ च न पश्यामि त्वं च मां नाभिभाषसे।
हता खल्वहं कृपणा विप्रियं हि न कथ्यते ॥८३॥

इत्युक्त्वा शोकाग्निना परिगतहृदया छिन्नमूलेव लता निपपात। पतन्तीमेव चैनां परिगृह्य बोधिसत्त्वस्तृणशयनमानीय शीताभिरद्भिः परिषिच्य प्रत्यागतप्राणां समाश्वासयन्नुवाच।

सहसैव न ते मद्रि दुःखमाख्यातवानहम्।
नहि संभाव्यते धैर्यं मनसि स्नेहदुर्बले ॥८४॥

जरादारिद्र्यदुःखार्तो ब्राह्मणो मामुपागमत्।
तस्मै दत्तौ मया पुत्रौ समाश्वसिहि मा शुचः ॥८५॥

अब मेरी आशंकाएँ असत्य और मिथ्या हो। बच्चोंसहित राज-कुमार (— आर्यपुत्र) का कुशल हो। अनिष्ट-सूचक लक्षणोका फल मेरे शरीरको ही प्राप्त हो। क्या बात है कि दुर्लक्षणोंमे आनन्द-रहित और अरतिरूपी अन्धकारसे व्याप्त होकर यह हृदय मानो विगलित हो रहा है। मेरे गात्र मानो शिथिल हो रहे हैं। दिशाएं मानो व्याकुल हो रही हैं। यह जंगल श्री-हीन होकर मानो घूम रहा है।"

आश्रममें पहुंचकर, कन्द-मूल और फल एक ओर फेककर, शिष्टाचारपूर्वक पतिके समीप जाकर उसने पूछा—"कहाँ हैं बच्चे?" माताका हृदय स्नेहसे कितना कोमल होता है तथा अप्रिय समाचार निवेदन करना कितना कठिन है, यह जानकर बोधिसत्त्व उसे कुछ न कह सके।

जो व्यक्ति (स्वजन) प्रिय (सवाद सुनने) के योग्य है उसे अप्रिय संवादरूपी अग्निसे मानसिक सताप पहुंचाना दयालु आदमीके लिए अत्यन्त कठिन काम है। ॥ ८२ ॥

अब मद्रीने सोचा—"स्पष्ट ही मेरे बच्चोपर विपत्ति आई है। ये चुप जो हो गये है सो शोकके वशीभूत होकर ही।" यह सोचकर विक्षिप्त चित्तसे आश्रममें चारो ओर दृष्टिपात करते हुए उसने जब बच्चोंको न देखा तब आँसुओसे रुँधे स्वरमें फिरसे कहा :—

"मैं बच्चोंको नही देखती हूँ और आप मुझसे कुछ कहते नही। अप्रिय बात नही बताई जाती है। निस्सन्देह मै अभागिन विपत्तिमे हूँ।" ॥ ८३ ॥

इतना कहते ही शोकाग्निने उसके हृदयको घेर लिया और वह उन्मूलित लताके समान गिर पड़ी। वह गिर ही रही थी कि बोधिसत्त्व उसे पकड़कर घासके बिछावनपर ले आये। उन्होने शीतल जलसे उसे सिक्त किया और उसके प्राण (= होश) लौटने पर उसे सान्त्वना देते हुए कहा—

"मद्री, मैंने हठात् ही तुमसे यह दुःखद समाचार नही कहा, क्योंकि स्नेहके कारण कोमल मनमें धैर्य धारण करना संभव नही। ॥ ८४ ॥

बुढ़ापे और गरीबीके दुःखसे पीड़ित एक ब्राह्मण मेरे पास आया। मैंने उसे बच्चे दे दिये। शान्त होओ। शोक न करो। ॥ ८५ ॥

मां पश्य मद्रि मा पुत्रौ परिदेवीश्च देवि मा।
पुत्रशोकसशल्ये मे प्रहार्षीरिव मा हृदि ॥८६॥
याचितेन कथं शक्यं न दातुमपि जीवितम्।
अनुमोदस्व तद्भद्रे पुत्रदानमिदं मम ॥८७॥

तच्छ्रुत्वा मद्री पुत्रविनाशशङ्काव्यथितहृदया पुत्रयोर्जीवितप्रवृत्तिश्रवणात् प्रतनूभूतशोकक्लमा भर्तुरधृतिपरिहारार्थं प्रमृज्य नयने सविस्मयमुदीक्षमाणा भर्तारमुवाच। आश्चर्यं। किं बहुना।

नूनं विस्मयवक्तव्यचेतसोऽपि दिवौकसः।
यदित्यलब्धप्रसरस्तव चेतसि मत्सरः ॥८८॥

तथा हि दिक्षु प्रसृतप्रतिस्वनैः समन्ततो दैवतदुन्दुभिस्वनैः।
प्रसक्तविस्पष्टपदाक्षरं नभस्तवैव कीर्तिग्रथनादरादभूत् ॥८९॥
प्रकम्पिशैलेन्द्रपयोधरा धरा मदादिवाभूदभिवृद्धवेपथुः।
दिवः पतद्भिः कुसुमैश्च काञ्चनैः सविद्युदुद्योतमिवाभवन्नभः ॥९०॥

तदलं शोकदैन्येन दत्त्वा चित्तं प्रसादय।
निपानभूतो लोकानां दातैव च पुनर्भव ॥९१॥

अथ शक्रो देवेन्द्रः क्षितितलचलनादाकम्पिते विविधरत्नप्रभोद्भासिनि सुमेरौ पर्वतराजे किमिदमिति समुत्पन्नविमर्शो विस्मयोत्फुल्लनयनेभ्यो लोकपालेभ्यः पृथिवीकम्पकारणं विश्वंतरपुत्रदानमुपलभ्य प्रहर्षविस्मयाघूर्णितमनाः प्रभातायां तस्यां रजन्यां ब्राह्मणरूपी विश्वंतरमर्थिवदभ्यगच्छत्। कृतातिथिसत्कारश्च बोधिसत्त्वेन केनार्थ इत्युपनिमन्त्रितो भार्यामेनमयाचत।

महाह्लदेष्वम्भ इवोपशोषं न दानधर्मः समुपैति सत्सु।
याचे ततस्त्वां सुरसन्निभा या भार्यामिमामर्हसि तत्प्रदातुम् ॥९२॥

मद्री, मुझे देखो, बच्चोंको मत देखो, रोओ मत। पुत्र-शोकरूपी बाणसे विद्ध मेरे हृदयको चोट न पहुँचाओ। ॥ ८६ ॥

माँगनेपर मैं पुत्र-दानतक क्यों न कर सकूँ? अतः हे मद्री, मेरे इस पुत्र-दानका अनुमोदन करो।" ॥ ८७ ॥

बच्चोंकी मृत्युकी आशंकासे व्यथित-हृदय मद्रीने जब उनके जीवित होनेका समाचार सुना तब उसकी शोक-जन्य क्लान्ति (दुःखसे होनेवाली थकावट) कम हुई। पतिकी धैर्य-रक्षाके लिए, उसने अपनी आँखें पोछकर विस्मयपूर्वक उन्हें देखते हुए, कहा—"आश्चर्य, बहुत कहनेसे क्या?

आपके मनमें द्वेष (=स्वार्थ-भाव) का उदय नही हुआ, इससे देवताओके मन भी विस्मित है। ॥ ८८ ॥

इसी लिए तो दिशाओंमें चारो ओर देव-दुन्दुभियोंकी प्रतिध्वनि फैल रही है, जिससे जान पड़ता है आकाश आपकी ही कीर्ति-रचनाके पदोंके स्पष्ट अक्षरोंसे निरन्तर गूंज रहा है। ॥ ८९ ॥

बड़े बड़े पर्वतरूपी पयोधरोंके साथ पृथ्वी मानो आनन्दमें आकर प्रकम्पित हो रही है। और, स्वर्गसे गिरते हुए सुवर्णकुसुमोसे, जान पड़ता है, जैसे आकाश बिजलीके आलोकसे चमक रहा हो। ॥ ९० ॥

अतः आप शोक न करें, दान देकर चित्तको प्रसन्न रखे। और, लोगोंके लिए कुआँ (के समान उदार) होकर पुनः दान करें।" ॥ ९१ ॥

भूकम्पके करण विविध रत्नोंकी प्रभासे भासित गिरि-राज सुमेरुके काँपनेपर देवेन्द्र शक्रने सोचा 'यह क्या है'। तब विस्मयसे विकसित आँखोंवाले लोक-पालोंसे भूकम्पका कारण 'विश्वन्तरका पुत्र-दान है' यह जानकर आनन्द और आश्चर्यसे उसका चित्त चञ्चल हो उठा। रातके बीतनेपर प्रातःकालमें वह ब्राह्मणका रूप धारण कर याचककी तरह विश्वन्तरके समीप गया। बोधिसत्त्वने उसका अतिथि-सत्कार किया और पूछा—'क्या चाहते है?' उसने उनसे पत्नीकी याचना की—

"जैसे बड़े बड़े सरोवरोंका जल नहीं सूखता है वैसे ही सज्जनोंका दान-धर्म बन्द नहीं होता है। अतः मेरी प्रार्थना है कि आपकी देवतातुल्य जो यह पत्नी है इसे आप मुझे दान कर दें। ॥ ९२ ॥

अविमना एव तु बोधिसत्त्वस्तथेत्यस्मै प्रतिशुश्राव।

ततः स वामेन करेण मद्रीमादाय सव्येन कमण्डलुं च।
न्यपातयत्तस्य जलं कराग्रे मनोभुवश्चेतसि शोकवह्निम् ॥९३॥

चुकोप मद्री न तु नो रुरोद विवेद सा तस्य हि तं स्वभावम्।
अपूर्वदुःखातिभरातुरा तु तं प्रेक्षमाणा लिखितेव तस्थौ ॥९४॥

तद्दृष्ट्वा परमविस्मयाक्रान्तहृदयः शक्रो देवानामिन्द्रस्तं महासत्त्वमभिष्टुवन्नुवाच।

अहो विकृष्टान्तरता सदसद्धर्मयोर्यथा।
श्रद्धातुमपि कर्मेदं का शक्तिरकृतात्मनाम् ॥९५॥

अवीतरागेण सता पुत्रदारमतिप्रियम्।
निःसङ्गमिति दातव्यं का नामेयमुदात्तता ॥९६॥

असंशयं त्वद्गुणरक्तसंकथैः प्रकीर्यमाणेषु यशस्सु दिक्षु ते।
तिरोभविष्यन्त्यपरा यशःश्रियः पतंगतेजस्सु यथान्यदीप्तयः ॥९७॥

तस्य तेऽभ्यनुमोदन्ते कर्मेदमतिमानुषम्।
यक्षगन्धर्वभुजगास्त्रिदशाश्च सवासवाः ॥९८॥

इत्युक्त्वा शक्रः स्वमेव वपुरभिज्वलदास्थाय शक्रोऽहमस्मीति च निवेद्यात्मानं बोधिसत्त्वमुवाच।

तुभ्यमेव प्रयच्छामि मद्रीं भार्यामिमामहम्।
व्यतीत्य नहि शीतांशुं चन्द्रिका स्थातुमर्हति ॥९९॥

तन्मा चिन्तां पुत्रयोर्विप्रयोगाद्राज्यभ्रंशान्मा च संतापमागाः।
सार्धं ताभ्यामभ्युपेतः पिता ते कर्ता राज्यं त्वत्सनाथं सनाथम् ॥१००॥

उदास हुए विना ही बोधिसत्त्वने 'बहुत अच्छा' कहकर उसे वचन दे दिया।

तब उन्होंने बाएं हाथसे मद्रीको पकड़कर और दाहिने से कमण्डलु लेकर उस (ब्राह्मण) के हाथमें जल गिराया और (साथ ही) कामदेव (—मार) के मनमें शोकाग्नि (प्रज्वलित किया)। ॥ ९३ ॥

मद्री न क्रुद्ध हुई, न रोई; इसलिए कि वह अपने पतिके स्वभावसे परिचित थी। किंतु अभूतपूर्व दुःखके भारसे दुःखी होकर, उनकी ओर देखती हुई वह चित्र-लिखित-सी (निश्चल) खड़ी रही। ॥ ९४ ॥

यह देखकर देवेन्द्र शक्रके हृदयमे बड़ा विस्मय हुआ। उसने उस महासत्त्वकी स्तुति करते हुए कहा—

"अहो! सज्जनों और असज्जनोंके धर्ममें महान् अन्तर है। जो पुण्यात्मा नही हैं उनके लिए इस (दिव्य) कर्मपर विश्वास करना भी अशक्य है। ॥ ९५ ॥

(परिवारके प्रति) जिसका अनुराग अभी नष्ट नही हुआ है वह अपने प्यारे बच्चों और पत्नीको भी अनासक्त भावसे दान कर दे, यह कितनी बडी उदारता है! ॥ ९६ ॥

इसमें सन्देह नही कि आपके गुणोसे अनुराग करनेवाले कथक जब चारों ओर आपकी कीर्ति फैलायेंगे तब दूसरोंकी उज्ज्वल कीर्ति लुप्त हो जायगी, जैसे सूर्यका प्रकाश होनेपर दूसरे (ग्रह और नक्षत्र) का प्रकाश लुप्त हो जाता है। ॥ ९७ ॥

ये यक्ष गन्धर्व नाग तथा इन्द्र-सहित देवगण आपके इस अलौकिक कर्मका अनुमोदन कर रहे हैं।" ॥ ९८ ॥

यह कहकर शक्रने अपना उज्ज्वल रूप धारण किया और 'मै शक्र हूँ' इस प्रकार अपना परिचय देकर बोधिसत्त्वसे कहा—

"मै आपकी पत्नी इस मद्रीको आपको ही वापस दे रहा हूँ। चन्द्रमा-को छोडकर चन्द्रिका और कहां रह सकती है'? ॥ ९९ ॥

अतः आप पुत्र-वियोगकी चिन्ता न करें, और राज्य-च्युत होनेका शोक न करें। दोनों बच्चोंके साथ आपके पिता यहाँ आयेंगे और आपको राज तिलक देकर राज्यको राजन्वान् (उत्तम राजासे युक्त) करेंगे।" ॥ १००॥

इत्युक्त्वा शक्रस्तत्रैवान्तर्दधे । शक्रानुभावाच्च स ब्राह्मणो बोधिसत्त्वतनयौ शिबिविषयमेव संप्रापयामास । अथ शिबयः संजयश्च शिबिराजस्तदतिकरुणमतिदुष्करं च बोधिसत्त्वस्य कर्म श्रुत्वा समाक्लेदितहृदया ब्राह्मणहस्तान्निष्क्रीयबोधिसत्त्वतनयौ प्रसाद्यानीय च विश्वंतरं राज्य एव प्रतिष्ठापयामासुः ।

तदेवमत्यद्भुता बोधिसत्त्वचर्येति तदुन्मुखेषु सत्त्वविशेषेषु नावज्ञा प्रतीघातो वा करणीयः । तथागतवर्णे सत्कृत्य धर्मश्रवणे चोपनेयम् ।

इति विश्वंतरजातकं नवमम् ।

---

१० यज्ञजातकम्

न कल्याणाशयाः पापप्रतारणामनुविधीयन्त इत्याशयशुद्धौ प्रयतितव्यम् । तद्यथानुश्रूयते ।

बोधिसत्त्वः किल स्वपुण्यप्रभावोपनतामानतसर्वसामन्तां प्रशान्तस्वपरचक्राद्युपद्रवत्वादकण्टकामसपत्नामेकातपत्रां दायाद्यक्रमागतां पृथिवीं पालयामास ।

नाथः पृथिव्याः स जितेन्द्रियारिर्भुक्तावगीतेषु फलेष्वसक्तः ।
प्रजाहितेष्वाहितसर्वभावो धर्मैककार्यो मुनिवद्बभूव ॥ १ ॥

विवेद लोकस्य हि स स्वभावं प्रधानचर्यानुकृतिप्रधानम् ।
श्रेयः समाधित्सुरतः प्रजासु विशेषतो धर्मविधौ ससञ्जे ॥ २ ॥

यह कहकर शक्र वही अदृश्य हो गया। और, शक्रके प्रभावसे उस ब्राह्मणने बोधिसत्त्वके बच्चोंको शिबिके राज्यमें ही पहुँचाया। जब शिवियों और शिबि-राज संजयने बोधिसत्त्वके इस अतिकरुण एवं अति दुष्कर कर्मको सुना तब उनके हृदय पिघल पड़े। उन्होंने ब्राह्मणके हाथसे बोधिसत्त्वके बच्चोंको छुड़ाया, (तपोवनमें जाकर) विश्वन्तरको मनाया और उन्हें ले आकर राज्यपर बैठाया।

बोधिसत्त्वका चरित इतना अद्भुत है, यह देखकर, उनकी ओर (= उनके रास्तेपर) चलनेवाले प्राणियोंका न अपमान करना चाहिए और न उन्हें विघ्न पहुँचाना चाहिए। तथागतका वर्णन करनेमें और ध्यानपूर्वक धर्मोपदेश सुननेमें यह कथा उपस्थित करनी चाहिए।

विश्वन्तर-जातक नवम समाप्त।

---

१० यज्ञ-जातक

जिनका आशय शुद्ध है वे पाप-कर्म[1] नहीं करते; अतः आशयकी शुद्धिके लिए प्रयत्न करना चाहिए। यह बात इस अनुश्रुति (= कथा) से साबित होगी।

बोधिसत्त्व अपने पुण्य-प्रभावसे वंश-परम्परानुसार प्राप्त एकछत्र पृथिवीका पालन कर रहे थे। उनके सभी सामन्त वशवर्ती थे। स्वराष्ट्र और परराष्ट्र आदिके उपद्रव शान्त हो जानेसे उनका राज्य अकण्टक और शत्रुरहित था।

वह जितेन्द्रिय पृथिवी-पति उच्छिष्ट एव निन्दित भोगों में अनासक्त तथा प्रजाओंके हितके कार्यों में दत्तचित्त थे। धर्माचरण ही उनका एकमात्र कार्य था। उनकी वृत्ति मुनिकी जैसी हो गई थी। ॥ १ ॥

उन्हें विदित हुआ कि प्रधान पुरुष (= राजा) के आचरणका अनुसरण करना लोगोंका स्वभाव-सा हो गया है। अतः प्रजाओंका श्रेय (कल्याण) करनेकी इच्छासे वह स्वयं विशेष रूपसे धर्माचरणमें आसक्त हुए। ॥ २ ॥

ददौ धनं शीलविधिं समाददे क्षमां निषेवे जगदर्थमैहत ।
प्रजाहिताध्याशयसौम्यदर्शनः स मूर्तिमान्धर्म इव व्यरोचत ।। ३ ।।

अथ कदाचित्तद्भुजाभिगुप्तमपि तं विषयं सत्त्वानां कर्मवैगुण्यात्प्रमादवशगत्वाच्च वर्षकर्माधिकृतानां देवपुत्राणां दुर्वृष्टिपर्याकुलता क्वचित्क्वचिदभिदुद्राव । अथ स राजा व्यक्तमयं मम प्रजानां वा धर्मापचारात्समुपनतोऽनर्थ इति निश्चितमतिः संरूढहिताध्याशयत्वात्प्रजासु तद्दुःखममृष्यमाणो धर्मतत्त्वज्ञसंमतान्पुरोहितप्रमुखान्ब्राह्मणवृद्धान्मतिसचिवांश्च तदुद्धरणोपायं पप्रच्छ । अथ ते वेदविहितमनेकप्राणिशतवधारम्भभीषणं यज्ञविधिं सुवृष्टिहेतुं मन्यमानास्तस्मै संवर्णयामासुः । विदितवृत्तान्तस्तु स राजा यज्ञविहितानां प्राणिवैशसानां करुणात्मकत्वान्न तेषां तद्वचनं भावेनाभ्यनन्दत् । विनयानुवृत्त्या चैनान्प्रत्याख्यानरूक्षाक्षरमनुक्त्वा प्रस्तावान्तरेणैषां तां कथां तिरश्चकार । ते पुनरपि तं राजानं धर्मसंकथाप्रस्तावलब्धावसरा गाम्भीर्यावगूढं तस्य भावमजानाना यज्ञप्रवृत्तये समनुशशासुः ।

कार्याणि राज्ञां नियतानि यानि लाभे पृथिव्याः परिपालने च ।
नात्येति कालस्तव तानि नित्यं तेषां क्रमो धर्मसुखानि यद्वत् ।। ४ ।।

त्रिवर्गसेवानिपुणस्य तस्य प्रजाहितार्थं धृतकार्मुकस्य ।
यज्ञाभिधाने सुरलोकसेतौ प्रमादतन्द्रेव कथं मतिस्ते ।। ५ ।।

भृत्यैरिवाज्ञा बहुमन्यते ते साक्षादियं सिद्धिरिति क्षितीशैः ।
श्रेयांसि कीर्तिज्वलितानि चेतुं यज्ञैरयं ते रिपुकाल कालः ।। ६ ।।

उन्होंने धन दान किया, शीलका आश्रय लिया, क्षमाका सेवन किया, जगत्के कल्याणकी कामना की। प्रजाओंके हित-चिन्तनसे सौम्यदर्शन राजा मूर्तिमान् धर्मके समान शोभित हुए। ॥ ३ ॥

तब एक बार उनके बाहु-बलसे रक्षित होनेपर भी उस देशमें प्राणियोके दुष्कर्मसे और वर्षाके अधिकारी देव-दूतोंकी असावधानीसे कही कही अनावृष्टिके कारण बड़ी व्याकुलता फैल गई। "यह स्पष्ट है कि मेरे अथवा मेरी प्रजाओंके अधर्माचरणसे यह अनर्थ उपस्थित हुआ है" ऐसा निश्चय कर अपनी हितैषिताके कारण प्रजाओके उस दुःखको नही सह सकते हुए राजाने धर्मके तत्त्वको जाननेवाले सम्मानित कुल-पुरोहितो वृद्ध ब्राह्मणों और बुद्धिमान् मंत्रियोसे इसके निवारणका उपाय पूछा। उन लोगोंने वेद-विहित यज्ञ-विधिको वृष्टिका कारण मानते हुए उन्हें उस (यज्ञ-विधि) का वर्णन सुनाया जो सैकड़ो प्राणियोंकी हिसाके कारण भयकर है। यज्ञ-विहित प्राणि-हिसाका हाल जानकर अपनी दयालुताके कारण उन्होंने मनमें उनके वचनका अनुमोदन नहीं किया। अपनी नम्रताके कारण डॉट-फटकारके लिए कठोर वचन न कहकर उन्होंने बात-चीतके विषयको बदल कर उस (यज्ञवाली) कथाकी उपेक्षा कर दी। राजाके गम्भीर और गूढ भावको नही समझते हुए उन लोगोने धर्म-विषयक बातचीतके सिलसिलेमें अवसर पाकर उन्हें यज्ञ करनेके लिए फिरसे उपदेश दिया।

"राज्यकी प्राप्ति और पालनमें राजाके जो आवश्यक कर्तव्य है उन्हें आप नित्य समयपर करते है, आपका यह कार्य-क्रम धर्म-सम्मत है' । ॥ ४ ॥

आप प्रजाके हितके लिए धनुष धारण करते है और त्रिवर्ग (धर्म अर्थ और काम) के सेवनमें निपुण है; तब फिर यज्ञ नामक स्वर्गकी सीढीके सम्बन्धमें आपका मन इतना उदास और सुस्त क्यों है? ॥ ५ ॥

राजा लोग भृत्योंकी तरह आपकी आज्ञाको साक्षात् सिद्धि समझकर शिरोधार्य करते हैं। हे शत्रु-विनाशक, आपका यह समय श्रेय अर्जन करनेका है, जिससे उज्ज्वल कीर्तिकी प्राप्ति होगी। ॥ ६ ॥

कामं सदा दीक्षित एव च त्वं दानप्रसङ्गान्नियमादराच्च।
वेदप्रसिद्धैः क्रतुभिस्तथापि युक्तं भवेन्मोक्तुमृणं सुराणाम्॥ ७॥

स्विष्ट्याभितुष्टानि हि दैवतानि भूतानि वृष्ट्या प्रतिमानयन्ति।
इति प्रजानां हितमात्मनश्च यशस्करं यज्ञविधिं जुषस्व॥८॥

तस्य चिन्ता प्रादुरभवत्, अतिदुर्न्यस्तो बतायं परप्रत्ययहार्यपेलवमतिरमीमांसको धर्मप्रियः श्रद्दधानो जनो यत्र हि नाम

य एव लोकेषु शरण्यसम्मतास्त एव हिंसामपि धर्मतो गताः।
विवर्तते कष्टमपायसङ्कटे जनस्तदादेशितकापथानुगः॥ ९॥

को हि नामाभिसम्बन्धो धर्मस्य पशुहिंसया।
सुरलोकाधिवासस्य दैवतप्रीणनस्य वा॥१०॥

विशस्यमानः किल मन्त्रशक्तिभिः पशुर्दिवं गच्छति तेन तद्वधः।
उपैति धर्मत्वमितीदमप्यसत्परैः कृतं को हि परत्र लप्स्यते॥११॥

असत्प्रवृत्तेरनिवृत्तमानसः शुभेषु कर्मस्वविरूढनिश्चयः।
पशुर्दिवं यास्यति केन हेतुना हतोऽपि यज्ञे स्वकृताश्रयाद्विना॥१२॥

हतश्च यज्ञे त्रिदिवं यदि व्रजेन्ननु व्रजेयुः पशुतां स्वयं द्विजाः।
यतस्तु नायं विधिरीक्ष्यते क्वचिद्वचस्तदेषां क इव ग्रहीष्यति॥१३॥

अतुल्यगन्धर्द्धिरसौजसं शुभां सुधां किलोत्सृज्य वराप्सरोधृताम्।
मुदं प्रयास्यन्ति वपादिकारणाद्वधेन शोच्यस्य पशोर्दिवौकसः॥१४॥

तदिदमत्र प्राप्तकालमिति विनिश्चित्य स राजा यज्ञारम्भसमुत्सुक इव नाम तत्तेषां वचनं प्रतिगृह्यावोचदेनान्। सनाथः खल्वहमनुग्रह-

अपनी दानशीलता और संयम-प्रियताके कारण आप सदा (यज्ञ-विधिमे) दीक्षित तो रहते ही हैं, तथापि वेद-विहित यज्ञोंका अनुष्ठान करके देव-ऋणसे मुक्त होना आपके लिए उचित होगा। ॥ ७ ॥

भलीभाँति सम्पादित निर्दोष यज्ञोंसे सन्तुष्ट होकर देवगण वृष्टिद्वारा प्राणियोंको प्रसन्न करते है। इसलिए अपनी और प्रजाओंकी भलाईके लिए यज्ञ-विधिका सेवन कीजिये, जिससे यश मिलेगा।" ॥ ८ ॥

उन्होंने सोचा—"जिनकी दुर्बल बुद्धि दूसरोंपर आश्रित है', जो स्वयं 'विचार नही कर सकते हैं, जो अधर्म-प्रिय और अन्ध-विश्वासी है ऐसे लोगोके बीच यह व्यक्ति (=मै) असहाय और अरक्षित है।

जनताके बीच जो लोग दूसरोंको शरण देनेवाले और सम्मानित है वे ही धर्मके नामपर हिंसा तक करते हैं। उनके आदेशानुसार जो दूसरे लोग कुमार्गपर चलते है वे दुर्गतिमें पड़ते है। ॥ ९ ॥

भला पशु-हिंसासे धर्मका, स्वर्ग-प्राप्तिका या देवताओकी प्रसन्नताका क्या सम्बन्ध हो सकता है? ॥ १० ॥

मंत्र-शक्ति से (=मन्त्रोच्चारण पूर्वक) मारा जाता हुआ पशु स्वर्ग जाता है, इसलिए उसकी हिसा पुण्य कार्य है—यह भी असत्य है। भला दूसरोंके कर्म-फलको कौन दूसरा परलोकमें प्राप्त करेगा? ॥ ११॥

जिसका चित्त असत्की ओरसे विमुख नही हुआ है, जिसने शुभ कर्म करनेके लिए निश्चय नही किया है वह पशु यज्ञमें मारा जानेपर भी अपने कर्मरूप आश्रयके विना किस कारणसे स्वर्ग जायगा? ॥ १२ ॥

यज्ञमें मारा जानेपर यदि वह स्वर्ग जाता, तो ब्राह्मण स्वय पशु बन जाते (पशुका स्थान ले लेते); किंतु ऐसा कही देखा नहीं जाता; इसलिए कौन (समझदार आदमी) उनकी बात मानेगा? ॥ १३ ॥

सुन्दर अप्सराएँ जिनके लिए अनुपम सुगन्धि स्वाद और ओजसे युक्त सुन्दर सुधा लिये (खड़ी) रहती है, वे देवगण उसे छोड़कर क्या चर्बी आदिके लिए बेचारे पशुकी हिंसासे प्रमुदित होंगे?" ॥ १४ ॥

"इस सम्बन्धमें ऐसा करनेका समय हो गया है" यह निश्चय कर, यज्ञ-आरम्भ करनेके लिए उत्सुक हो, उनकी बात मानकर राजाने उन्हें

वांश्च यदेवं मे हिताविहितमनसोऽत्रभवन्तः। तदिच्छामि पुरुषमेधसहस्रेण यष्टुम्। अन्विष्यतां तदुपयोग्यसम्भारसमुदानयनार्थं यथाधिकारममात्यैः। परीक्ष्यतां सत्रागारनिवेशनयोग्यो भूमिप्रदेशस्तदनुगुणश्च तिथि-करण-मुहूर्त-नक्षत्र-योग इति। अथैनं पुरोहित उवाच—ईप्सितार्थसिद्धये स्नातु तावन्महाराज एकस्य यज्ञस्य समाप्ताववभृथे। अथोत्तरेषामारम्भः करिष्यते क्रमेण। युगपत्पुरुषपशवः सहस्रशो हि परिगृह्यमाणा व्यक्तमुद्वेगदोषाय प्रजानां ते स्युरिति। अस्त्येतदिति ब्राह्मणैरुक्तः स राजा तानुवाच——अलमत्रभवतां प्रकृतिकोपाशङ्कया। तथाहि संविधास्ये यथोद्वेगं मे प्रजा न यास्यन्तीति। अथ स राजा पौरजानपदान्संनिपात्याब्रवीत् इच्छामि पुरुषमेधसहस्रेण यष्टुम्। न च मयार्हः कश्चिदकामः पुरुषः पशुत्वे नियोक्तुमुद्दिष्टः[1]। तद्यं यमतः प्रभृति वो द्रक्ष्यामि व्यवधूतप्रमादनिद्रेण विमलेन चारचक्षुषा शीलमर्यादातिवर्तिनमस्मदाज्ञां परिभवन्तं तं तं स्वकुलपांसनं देशकण्टकमहं यज्ञपशुनिमित्तमादास्य इत्येतद्वो विदितमस्त्विति। अथ तेषां मुख्यतमाः प्राञ्जलयो भूत्वैनमूचुः——

सर्वाः क्रियास्तव हितप्रवणाः प्रजानां
तत्रावमाननविधेर्नरदेव कोऽर्थः।
ब्रह्मापि ते चरितमभ्यनुमन्तुमर्हः
साधुप्रमाण परमत्र भवान्प्रमाणम्॥१५॥

प्रियं यदेव देवस्य तदस्माकमपि प्रियम्।
अस्मत्प्रियहितादन्यद्दृश्यते नहि ते प्रियम्॥१६॥

---

१ पा० 'नियोक्तुमदुष्टः।'

कहा—"मैं सुरक्षित और अनुगृहीत हूँ कि आप लोग मेरे हित-चिन्तनमें इस प्रकार दत्तचित्त हैं। मै सहस्र नर-मेध यज्ञ करना चाहता हूँ। अमात्य-गण अपने अपने अधिकार के अनुसार यज्ञके काममे आनेवाली सामग्रियाँ मँगवाये। यज्ञ-शाला खड़ी करने योग्य भूमिकी परीक्षा कीजिये और यज्ञके उपयुक्त तिथि-करण-मुहूर्त-नक्षत्र-योगकी जाँच कीजिये।" तब पुरोहितने उन्हें कहा—"अभीष्ट लक्ष्यकी सिद्धिके लिए महाराज एक यज्ञ समाप्त कर अवभृथ स्नान करें। फिर दूसरे यज्ञोंको क्रमसे आरम्भ कीजियेगा। एक साथ सौ नर-पशुओंको पकड़ने से, स्पष्ट है, प्रजाएँ आपसे उद्विग्न हो जायँगी।" ब्राह्मणोंने कहा—"हाँ ठीक है।" राजाने उन्हें उत्तर दिया—"आप लोगोंको प्रजाओंके कुपित होनेकी आशंका न करनी चाहिए। मैं ऐसा प्रबन्ध करूँगा जिससे मेरी प्रजाओंको उद्वेग न हो।"

तब राजाने पुर-वासियों और ग्राम-वासियोंको एकत्र करके कहा—"मैं सहस्र नरमेघ यज्ञ करना चाहता हूँ। किंतु किसी भी निष्काम (=निष्पाप) मनुष्यको पशुके स्थानमें नियुक्त करनेका मेरा उद्देश्य नही है, इसलिए आप लोगोंको विदित हो कि प्रमाद और निद्रासे रहित (सतत जागरूक रहनेवाले) निर्मल गुप्तचर रूपी नेत्रोंद्वारा आजसे आपलोगोंके बीच जिस किसीको शील-मर्यादाका उल्लंघन करते, मेरी आज्ञाकी अव-हेलना करते देखूँगा उस कुलाङ्गार देश-कण्टकको यज्ञ-पशुके निमित्त ग्रहण करूँगा।"

तब उनमें जो प्रधान थे, उन्होंने हाथ जोड़कर कहा—

"आपके सभी कार्य प्रजाओंके हितके लिए होते है। हे नरदेव, आपके कार्योंका तिरस्कार (विरोध) करनेसे क्या लाभ होगा? ब्रह्माको भी आपके चरितका अनुमोदन करना उचित है। हे साधु-प्रमाण (साधुओंके लिए प्रमाण-स्वरूप, साधु-श्रेष्ठ), इस विषयमें आप स्वय परम प्रमाण हैं।॥ १५॥

श्रीमान्‌को जो कुछ प्रिय है वही हमें भी प्रिय है। हमारे प्रिय और हितके अतिरिक्त और कुछ भी आपको प्रिय नहीं है।" ॥ १६॥

इति प्रतिगृहीतवचनः पौरजानपदैः स राजा जनप्रकाशेनाडम्बरेण प्रत्ययितानमात्यान्पापजनोपग्रहणार्थं जनपदं नगराणि च प्रेषयामास समन्ततश्च प्रत्यहमिति घोषणाः कारयामास।

अभयमभयदो ददाति राजा स्थिरशुचिशीलधनाय सज्जनाय।
अविनयनिरतैः प्रजाहितार्थं नरपशुभिस्तु सहस्रशो यियक्षुः ॥१७॥

तद्यः कश्चिदतः प्रभृत्यविनयश्लाघानुवृत्त्युद्भवा-
त्सामन्तक्षितिपार्चितामपि नृपस्याज्ञामवज्ञास्यति।
स स्वैरेव विषह्य यज्ञपशुतामापादितः कर्मभि-
र्यूपाबद्धतनुर्विषादकृपणः शुष्यञ्जनैर्द्रक्ष्यते ॥ १८ ॥

अथ तद्विषयनिवासिनः पुरुषाः यज्ञपशुनिमित्तं दुःशीलपुरुषान्वेषणादरं तमन्ववेक्ष्य राज्ञस्तां च घोषणामतिभीषणां प्रत्यहमुपश्रृण्वन्तः पापजनोपग्रहावहितांश्च राजपुरुषान्समन्ततः समापततोऽभिवीक्ष्य त्यक्तदौःशील्यानुरागाः शीलसंवरसमादानपरा वैरप्रसङ्गपराङ्मुखाः परस्परप्रेमगौरवसुमुखाः प्रशान्तविग्रहविवादा गुरुजनवचनानुवर्तिनः संविभागविशारदाः प्रियातिथयो विनयनैभृत्यश्लाघिनः कृत इव युगे बभूवुः।

भयेन मृत्योः परलोकचिन्तया कुलाभिमानेन यशोऽनुरक्षया।
सुशुक्लभावाच्च विरूढया ह्रिया जनः स शीलामलभूषणोऽभवत् ॥१९॥

यथा यथा धर्मपरोऽभवज्जनस्तथा तथा रक्षिजनो विशेषतः।
चकार दुःशीलजनाभिमार्गणामतश्च धर्मान्न चचाल कश्चन ॥२०॥

स्वदेशवृत्तान्तमथोपशुश्रुवानिमं नृपः प्रीतिविशेषभूषणः।
चरान्प्रियाख्यानकदानविस्तरैः सन्तर्पयित्वा सचिवान्समन्वशात् ॥२१॥

जब पुर-वासियों और ग्राम-वासियोंने राजाका वचन स्वीकार कर लिया तब उन्होंने विश्वासी अमात्योंको पापियोंके पकड़नेके लिए ग्रामों और नगरोंमें भेजा और चारों ओर जनताकी जानकारीके लिए प्रतिदिन डंकेकी चोटसे[1] यह घोषणा करवाई—

"जिस सज्जनकी शील रूपी सम्पत्ति अचल और पवित्र है उसको अभय-देनेवाले राजा अभय देते है; किंतु जो दुर्विनीत और दुराचारी हैं उन नर-पशुओंको हजारोंकी संख्यामें पकड़कर प्रजाओंके हितके लिए यज्ञ करना चाहते है। ॥ १७ ॥

इसलिए अबसे जो कोई अपनी अविनयशीलताके कारण राज-आज्ञाका, जो सामन्त-नरेशोके लिए भी शिरोधार्य है, उल्लंघन करेगा वह अपने ही कर्मोसे यज्ञ-पशुके स्थानमें नियुक्त होकर यज्ञके खम्भेमें बाँधा जायगा और दुःखसे कातर होकर उस सूखते हुए को लोग देखेंगे।" ॥ १८ ॥

दुराचारी पुरुषोंकी खोजमें राजाकी रुचि देखकर, उनकी वह अत्यन्त भीषण घोषणा प्रतिदिन सुनते हुए, और पापियोंके पकड़नेमें सावधान राज-पुरुषोको चारों ओर विचरते देखकर, उस देशके रहनेवाले लोग दुराचारकी आसक्तिको छोड़कर शील-संवर (=सदाचार) से युक्त हो गये, वैर-भावसे विमुख होकर परस्पर प्रेम और सम्मान करनेमें प्रवृत्त हुए, विग्रह-विवाद (=लड़ाई-झगड़ा) छोड़कर गुरुजनोंकी आज्ञामें रहने लगे। वे उदार, अतिथि-सेवक, विनयी और विनम्र हो गये। जान पड़ता था जैसे वे कृतयुगमें रहते हों।

मृत्युके भयसे, परलोककी चिन्तासे, कुलके अभिमानसे, यशकी रक्षाके ख्यालसे, पवित्र भाव और लज्जा उत्पन्न होनेसे लोग शीलरूपी निर्मल आभूषणसे भूषित हुए। ॥ १९ ॥

ज्यों ज्यों लोग धर्मपरायण होते गये त्यों त्यों राज-पुरुष विशेष रूपसे दुराचारियोंकी खोज करने लगे, अतः कोई भी व्यक्ति धर्म-पथसे विचलित नही हुआ। ॥ २० ॥

जब राजाने अपने देशके इस वृत्तान्तको सुना तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। यह प्रिय संवाद सुनानेके लिए गुप्तचरोंको उन्होंने खूब दान देकर तृप्त किया और मंत्रियोंको आदेश दिया—॥ २१ ॥

परा मनीषा मम रक्षितुं प्रजा गताश्च ताः सम्प्रति दक्षिणीयताम् ।
इदं च यज्ञाय धनं प्रतर्कितं यियक्षुरस्मीति यथा प्रतर्कितम् ॥२२॥

यदीप्सितं यस्य सुखेन्धनं धनं प्रकाममाप्नोतु स तन्मदन्तिकात् ।
इतीयमस्मद्विषयोपतापिनी दरिद्रता निर्विषया यथा भवेत् ॥२३॥

मयि प्रजारक्षणनिश्चयस्थिते सहायसम्पत्परिवृद्धसाधने ।
इयं जनार्तिर्मदमर्षदीपनी मुहुर्मुहुर्मे ज्वलतीव चेतसि ॥२४॥

अथ ते तस्य राज्ञः सचिवाः परममिति प्रतिगृह्य तद्वचनं सर्वेषु ग्रामनगरनिगमेषु मार्गविश्रामप्रदेशेषु च दानशालाः कारयित्वा यथा-सन्दिष्टं राज्ञा प्रत्यहमर्थिजनमभिलषितैरर्थविसर्गैः सन्तर्पयामासुः ।

अथ विहाय जनः स दरिद्रतां सममवाप्तवसुर्वसुधाधिपात् ।
विविधचित्रपरिच्छदभूषणः प्रविततोत्सवशोभ इवाभवत् ॥२५॥

प्रमुदितार्थिजनस्तुतिसञ्चितं प्रवितताम नृपस्य दिशो यशः ।
तनुतरङ्गविवर्धितविस्तरं सर इवाम्बुजकेशरजं रजः ॥२६॥

इति नृपस्य सुनीतिगुणाश्रयात्सुचरिताभिमुखे निखिले जने ।
समभिभूतबलाः कुशलोच्छ्रयैर्विलयमीयुरसङ्गमुपद्रवाः ॥२७॥

अविषमत्वसुखा ऋतवोऽभवन्नवनृपा इव धर्मपरायणाः ।
विविधसस्यधरा च वसुन्धरा सकमलामलनीलजलाशयाः ॥२८॥

"प्रजाओंकी रक्षा करनेकी मेरी बड़ी अभिलाषा है। वे अब दक्षिणा पानेके योग्य हो गये हैं, और यज्ञके लिए ही मैंने इस धनका सकल्प किया है। मै अपने संकल्पके अनुसार यज्ञ करना चाहता हूँ। ॥ २२ ॥

जो कोई सुख-प्राप्तिके लिए धन चाहता हो वह मेरी ओरसे यथेष्ट धन प्राप्त करे, जिससे मेरे राज्यको संतप्त करनेवाली यह दरिद्रता यहाँसे निर्वासित हो जाय। ॥ २३ ॥

यद्यपि मैं प्रजाओंकी रक्षा करनेके अपने निश्चयपर दृढ हूँ और (आप-जैसे) योग्य सहायकों एवं विशाल साधनोसे युक्त हूँ, तथापि मेरे अभिमान और क्रोधको उद्दीपित करनेवाली जनताकी यह पीड़ा मेरे हृदयमें बार बार प्रज्वलित हो रही है।" ॥ २४ ॥

तब राजाके सचिवोंने "बहुत अच्छा" कह, उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर, सभी ग्रामों, नगरों, निगमों और मार्गके विश्राम-स्थलोंमें दान-शालाएँ बनवाईं तथा राजाके आदेशानुसार प्रतिदिन याचकोंको यथेष्ट धन देकर तृप्त किया।

लोगोंने एक ही साथ (एक ही समयमें) राजासे बहुत-सा धन प्राप्त किया। उनकी दरिद्रता दूर हो गई। तरह तरहके रंग-बिरंगे वस्त्र और आभूषण पहनकर उन्होंने मानो महोत्सवकी शोभा उपस्थित कर दी। ॥२५॥

प्रसन्न होकर याचकों-द्वारा की गई स्तुतियोंसे राजाकी यश-राशि[1] चारों ओर फैल गई, जैसे छोटी छोटी तरंगोंद्वारा पद्म-पराग सरोवरमें अधिकाधिक व्याप्त हो जाता है। ॥ २६ ॥

राजाकी सुन्दर नीति कार्यान्वित होनेसे जब सभी लोग सत्कर्मोंमें लग गये तब कुशलके उत्थानसे (पुण्यके उदयसे) (अनावृष्टि आदि) उपद्रव बलहीन होकर सर्वथा विलीन हो गये। ॥ २७ ॥

धर्म-परायण नये राजाओंके समान अपनी अपनी प्रकृतिमें रहनेवाले ऋतु विषमतासे रहित होनेके कारण सबके लिए सुख-दायक हुए। पृथिवी नाना प्रकारके सस्योंसे परिपूर्ण हो गई तथा नीले जलाशय निर्मल जल और कमलोंसे भर गये। ॥२८॥

न जनमभ्यरुजन्प्रबला रुजः पटुतरं गुणमोषधयो दधुः ।
ऋतुवशेन ववौ नियतोऽनिलः परिययुश्च शुभेन पथा ग्रहाः ॥२९॥

न परचक्रकृतं समभूद्भयं न च परस्परजं न च दैविकम् ।
नियमधर्मपरे निभृत जने कृतमिवात्र युगं समपद्यत ॥३०॥

अथैवं प्रवृत्तेन धर्मयज्ञेन राज्ञा प्रशमितेष्वर्थिजनदुःखेषु सार्धमुपद्रवैः प्रमुदितजनसम्बाधायामभ्युदयरम्यदर्शनायां वसुन्धरायां नृपतेराशीर्वचनाध्ययनसव्यापारे लोके वितन्यमाने समन्ततो राजयशसि प्रसादावर्जितमतिः कश्चिदमात्यमुख्यो राजानमित्युवाच । सुष्ठु खल्विदमुच्यते ।

उत्तमाधममध्यानां कार्याणां नित्यदर्शनात् ।
उपर्युपरि बुद्धीनां चरन्तीश्वरबुद्धयः ॥३१॥

इति । देवेन हि पशुवैशसवाच्यदोषविरहितेन धर्मयज्ञेन प्रजानामुभयलोकहितं सम्पादितमुपद्रवाश्च प्रशमं नीता दारिद्र्यदुःखानि च शीले प्रतिष्ठापितानाम् । किं बहुना । सभाग्यास्ता प्रजाः ।

लक्ष्मेव क्षणदाकरस्य विततं गात्रे न कृष्णाजिनं
दीक्षायन्त्रणया निसर्गललिता चेष्टा न मन्दोद्यमा ।
मूर्ध्नश्छत्रनिभस्य केशरचना शोभा तथैवाथ च
त्यागैस्ते शतयज्वनोऽप्यपहृतः कीर्त्याश्रयो विस्मयः ॥३२॥

हिंसाविषक्तः कृपणः फलेप्सोः प्रायेण लोकस्य नयज्ञ यज्ञः ।
यज्ञस्तु कीर्त्याभरणः समस्ते शीलस्य निर्दोषमनोहरस्य ॥३३॥

लोग असाध्य रोगोंसे पीड़ित नही हुए। ओषधियाँ पहलेसे अधिक गुणकारी हो गई। ऋतुके अनुमार हवा नियमपूर्वक बहने लगी। और, ग्रहगण शुभ मार्गपर चलने लगे। ॥ २९ ॥

पर-राष्ट्रसे कोई भय नही हुआ। पारस्परिक और दैविक भय चला गया। लोग संयमी धार्मिक और विनम्र हो गये, जान पड़ता था जैसे कृत-युग उपस्थित हुआ हो। ॥ ३० ॥

इस प्रकार सम्पादित धर्म-यज्ञके द्वारा राजाने उपद्रवोंके साथ साथ याचकोंका दुःख दूर किया। वसुन्धरा प्रमुदित जनतासे परिपूर्ण हो गई। समृद्धिशालिनी पृथ्वीका दृश्य रमणीय हो गया। राजाकी कल्याण-कामनामें लगे हुए लोगोंने उनका यश चारों ओर फैलाया। तब श्रद्धासे प्रेरित होकर किसी प्रमुख अमात्यने राजासे निवेदन किया—"यह ठीक ही कहा है—

उत्तम मध्यम और निकृष्ट (मनुष्योंके) कार्योका नित्य निरीक्षण करनेसे राजाकी बुद्धि दूसरोंकी बुद्धिसे बहुत ऊपर रहती है। ॥ ३१ ॥

देव (=श्रीमान्) ने पशु-हिंसाके निन्दनीय दोषसे रहित धर्म-यज्ञ द्वारा प्रजाओंका उभय-लोक (=इहलोक और परलोक) में भला करनेके लिए उन्हें शीलमें स्थापित कर, उपद्रवोंको शान्त किया और उनके दारिद्रय-दुःखको दूर किया। अधिक कहनेसे क्या? आपकी ये प्रजाएँ भाग्यशालिनी हैं।

चन्द्रमाके चिह्नके समान काले मृगछालेको आपने अपने शरीरमें नहीं लपेटा। (यज्ञ-) दीक्षामें होनेवाली (मौन, उपवास आदि) यन्त्रणाओंके द्वारा आपने अपनी स्वभाव-सुन्दर (सम्भाषण आदि) चेष्टाओंमें कोई कमी नहीं की। आपके छत्र-तुल्य मस्तकके केश-विन्यासकी शोभा ज्यों की त्यों बनी रही। किंतु आपने अपने त्याग द्वारा सौ यज्ञ करनेवाले (इन्द्र) की भी कीर्तिको मात किया और उसके अभिमानको चूर्ण किया। ॥ ३२ ॥

हे नीतिज्ञ, फल चाहनेवाले लोगोंका यज्ञ हिंसा-युक्त और शोचनीय होता है। किंतु कीर्ति बढ़ानेवाला आपका यज्ञ आपके निर्दोष और मनोहर शीलके अनुरूप है। ॥ ३३ ॥

अहो प्रजानां भाग्यानि यासां गोपायिता भवान् ।
प्रजानामपि हि व्यक्तं नैवं स्याद्गोपिता पिता ।।३४।।

अपर उवाच—

दानं नाम धनोदये सति जनो दत्ते तदाशावशः
स्याच्छीलेऽपि च लोकपंक्त्यभिमुखः स्वर्गे च जातस्पृहः ।
या त्वेषा परकार्यदक्षिणतया तद्वत्प्रवृत्तिस्तयो-
र्नाविद्वत्सु न सत्त्वयोगविधुरेष्वेषा समालक्ष्यते ।।३५।।

तदेवं कल्याणाशया न पापप्रतारणामनुविधीयन्त इत्याशयशुद्धौ प्रयतितव्यम् ।

इति प्रजाहितोद्योगः श्रेयःकीर्तिसुखावहः ।
यन्नृपाणामतो नालं तमनादृत्य वर्तितुम् ।।३६।।

एवं राजापवादेऽपि वाच्यम् । धर्माभ्यासः प्रजानां भूतिमावहतीति भूतिकामेन धर्मानुवर्तिना भवितव्यमित्येवमप्युन्नेयम् । न पशुहिंसा कदाचिदभ्युदयाय दानदमसंयमादयस्त्वभ्युदयायेति तदर्थिना दानादिपरेण भवितव्यमित्येवमपि वाच्यम् । लोकार्थचर्याप्रवणमतिरेवं पूर्वजन्मस्वपि भगवानिति तथागतवर्णेऽपि वाच्यम् ।।

इति यज्ञ-जातकं दशमम्।

---

११ शक्रजातकम्

आपदपि महात्मनामैश्वर्यसम्पद्वा सत्त्वेष्वनुकम्पां न शिथिलीकरोति । तद्यथानुश्रूयते ।

बोधिसत्त्वः किलानल्पकालस्वभ्यस्तपुण्यकर्मा सात्मीभूतप्रदानदमसंयमकरुणः परहितनियतक्रियातिशयः कदाचिच्छक्रो देवानामिन्द्रो बभूव ।

अहो! ये प्रजाएँ भाग्यशालिनी हैं जिनके आप रक्षक हैं। पिता भी अपनी संतानोंके ऐसे (सुयोग्य) रक्षक नहीं हो सकते। ॥ ३४ ॥

धन होनेपर लोग धन-वृद्धिकी आशासे दान देते हैं। पंक्तिमें बैठनेकी (=लोगोंके बीच सम्मानित होनेकी) इच्छासे और स्वर्ग-प्राप्तिकी अभिलाषासे लोग शीलमें रहते हैं (=शीलका पालन करते हैं)। किंतु आपकी परोपकारिताके कारण आपकी-जैसी दान और शीलकी (निस्वार्थ) प्रवृत्ति अज्ञानियों और असात्त्विकोंमें नहीं देखी जाती है। ॥ ३५ ॥

इस प्रकार जिनका अन्तःकरण शुद्ध है वे पापियोंके बहकावे (भुलावे) में नही पड़ते। अतः अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए यत्न करना चाहिए।

प्रजाओंकी भलाईके लिए किया जानेवाला उद्योग श्रेयस्कर कीर्ति-प्रद और सुख-दायक होता है। अतः राजाओंको अपने इस कर्तव्यकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। ॥ ३६ ॥

इस प्रकार राजाओंको उपदेश देनेमें कहना चाहिए। यह भी निष्कर्ष निकालना चाहिए कि धर्माचरणसे प्रजाओंका कल्याण होता है, इसलिए कल्याण चाहनेवालेको धर्मका अनुसरण करना चाहिए। यह भी कहना चाहिए कि पशु-हिंसासे कदापि अभ्युदय नहीं हो सकता, किंतु दान दम संयम आदिसे अभ्युदय होता है; इसलिए अभ्युदय चाहनेवालेको दान आदि करना चाहिए। तथागतके वर्णनमें कहना चाहिए कि अपने पूर्व-जन्मोंमें भी भगवान् लोकोपकारमे दत्तचित्त रहते थे।

यज्ञ-जातक दशम समाप्त।

---

११ शक्र-जातक

विपत्ति या ऐश्वर्यके कारण प्राणियोंके प्रति महात्माओंकी दयामें कोई कमी नहीं होती। यह बात इस अनुश्रुति (=कथा) से साबित होगी।

बोधिसत्त्वने जब (अनेक जन्मोंमें) चिरकाल तक पुण्य कर्मोका आचरण किया, दान दम संयम और करुणाको आत्मसात् कर लिया, दूसरोंको भलाईके लिए अच्छा अच्छा काम करनेका नियम बना लिया, तब एक बार वह देवोंके अधिपति इन्द्र हुए।

सुरेन्द्रलक्ष्मीरधिकं रराज तत्संश्रयात्स्फीततरप्रभावा।
हर्म्ये सुधासेकनवाङ्गरागे निषक्तरूपा शशिनः प्रभेव॥ १॥
यस्याः कृते दितिसुता रभसागतानि
दिङ्नागदन्तमुसलान्युरसाभिजग्मुः।
सौभाग्यविस्तरसुखोपनतापि तस्य
लक्ष्मीर्न दर्पमलिनं हृदयं चकार॥ २॥

तस्य दिवस्पृथिव्योः सम्यक्परिपालनोपार्जितां सर्वलोकानुव्यापिनीं कीर्तिसम्पदं तां च लक्ष्मीमत्यद्भुताममृष्यमाणा दैत्यगणाः कल्पनाटोपभीषणतरद्विरदरथतुरगपदातिना क्षुभितसागरघोरनिर्घोषेण जाज्वल्यमानविविधप्रहरणावरणदुर्निरीक्ष्येण महता बलकायेन युद्धायैनमभिजग्मुः।

धर्मात्मनोऽपि तु स तस्य परावलेपः
क्रीडाविघातविरसं च भयं जनस्य।
तेजस्विता नयपथोपनतः क्रमश्च
युद्धोद्धवाभिमुखतां हृदयस्य चक्रुः॥ ३॥

अथ स महासत्त्वस्तुरगवरसहस्रयुक्तमभ्युच्छ्रिताहद्वसनचिह्नरुचिरध्वजं विविधमणिरत्नदीप्तिव्यवभासितमतिज्वलद्वपुषं कल्पनाविभागोपनियतनिशितज्वलितविविधायुधविराजितोभयपार्श्वं पाण्डुकम्बलिनं हैमं रथवरमभिरुह्य महता हस्त्यश्वरथपदातिविचित्रेण देवानीकेन परिवृतस्तदसुरसैन्यं समुद्रतीरान्त एव प्रत्युज्जगाम।

अथ प्रववृते तत्र भीरूणां धृतिदारणः।
अन्योन्यायुधनिष्पेषजर्जरावरणो रणः॥ ४॥
तिष्ठ नैवमितः पश्य क्वेदानीं मन्न मोक्ष्यसे।
प्रहरायं न भवसीत्येवं तेऽन्योन्यमार्दयन्॥ ५॥

उनके आश्रयमें रहकर देवेन्द्रकी लक्ष्मी और भी तेजस्विनी हो गई तथा हालमें ही चूना पोतकर उज्ज्वल किये गये महलपर चमकती हुई चाँदनीके समान अत्यन्त शोभित हुई। ॥ १ ॥

जिस (लक्ष्मी) के लिए दैत्योंने वेगपूर्वक आते हुए दिग्गजोंके दाँतों (दाँतरूपी मुसलों) के सामने जाकर सीना तान दिया, वह लक्ष्मी (शक्रके) सौभाग्यसे अनायास ही उन्हें प्राप्त हुई और तो भी वह उनके हृदयको अभिमानसे मलिन न कर सकी। ॥ २ ॥

उन्होंने स्वर्ग और पृथ्वीका सम्यक् (अच्छी तरह) परिपालन किया, जिससे उन्हें त्रिभुवन-व्यापिनी कीर्ति प्राप्त हुई। दैत्य लोग उनकी उस कीर्ति और अद्भुत लक्ष्मीको न सह सके। अतः वे हाथियों रथों घोड़ों और पैदलोंकी विशाल सेना लेकर उनसे युद्ध करनेके लिए चल पड़े। वह सेना व्यूह-रचनाके कारण भयंकर लगती थी, क्षुब्ध सागरके समान घोर गर्जन कर रही थी और भाँति भाँतिके चमकीले अस्त्र-शस्त्रोंके कारण कठिनाईसे देखी जा सकती थी।

यद्यपि वह धर्मात्मा थे, तथापि शत्रुओंके अभिमानने, जनताके सुखमें विघ्न होनेकी आशंकाने, उनकी तेजस्विताने तथा राजनीतिके नियमने उनके हृदयको युद्धकी अशान्तिकी ओर प्रेरित कर दिया। ॥ ३ ॥

तब वह महाप्राणी (बोधिसत्त्व) हजार उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए, चिह्न-विशेषसे विभूषित[1] ऊँची पताकासे युक्त, नाना प्रकारके रत्नों और मणियोंकी चमकसे उज्ज्वल, दोनों पार्श्वों (बगल, ओर) में सजाकर रखे गये तरह तरहके तेज और चमकीले हथियारोंसे सुशोभित, सफेद वस्त्रसे मण्डित, सुवर्ण-निर्मित, उज्ज्वल और उत्तम रथपर चढ़कर, हाथियों घोड़ों रथों और पैदल चलनेवालोंसे चित्र-विचित्र विशाल देव-सेनाके साथ समुद्र-तटपर उस असुर-सेनासे जा भिड़े।

तब वहाँ कायरोंका धैर्य विदीर्ण करनेवाला संग्राम शुरू हुआ, जिसमें एक-दूसरेके शस्त्रोंकी चोटसे (योद्धाओं के) कवच (आदि) चूर हो रहे थे। ॥ ४ ॥

'खड़ा रह, ऐसा न कर, इधर देख, अब कहाँ, मुझसे तू छूट नहीं सकता, मार, यह तू मर रहा है, इस प्रकार (कोलाहल करते हुए) वे एक दूसरेको मार रहे थे। ॥ ५ ॥

ततः प्रवृत्ते तुमुले स्फूर्जत्प्रहरणे रणे।
पटहध्वनिनोत्क्रुष्टैः स्फुटतीव नभस्तलम् ॥ ६ ॥
दानगन्धोद्धतामर्षेष्वापतत्सु परस्परम् ।
युगान्तवाताकलितशैलभीमेषु दन्तिषु ॥ ७ ॥
विद्युल्लोलपताकेषु प्रसृतेषु समन्ततः।
रथेषु पटुनिर्घोषेषूत्पाताम्बुधरेष्विव ॥ ८ ॥
पात्यमानध्वजच्छत्रशस्त्रावरणमौलिषु ।
देवदानववीरेषु शितैरन्योन्यसायकैः ॥ ९ ॥

अथ प्रतप्तासुरशस्त्रसायकैर्भयात्प्रदुद्राव सुरेन्द्रवाहिनी।
रथेन विष्टभ्य बलं तु विद्विषां सुरेन्द्र एकः समरे व्यतिष्ठत ॥१०॥

अभ्युदीर्णं त्वासुरं बलमतिहर्षात्पटुतरोत्क्रुष्टक्ष्वेडितसिंहनादमभिपतितमभिसमीक्ष्य मातलिर्देवेन्द्रसारथिः स्वं च बलं पलायनपरमवेत्यापयानमत्र प्राप्तकालमिति मत्वा देवाधिपतेः स्यन्दनमावर्तयामास। अथ शक्रो देवेन्द्रः समुत्पततो रथस्याग्राभिमुखान्य[1]भिघातपथागतानि शाल्मलीवृक्षे गरुडनीडान्यपश्यत्। दृष्ट्वैव च करुणया समालम्ब्यमानहृदयो मातलिं संग्राहकमित्युवाच–

अजातपक्षद्विजपोतसङ्कुला द्विजालयाः शाल्मलिपादपाश्रयाः।
अमी पतेयुर्न यथा रथेषया विचूर्णिता वाहय मे रथं तथा ॥११॥

मातलिरुवाच––अमी तावन्मार्ष समभियान्ति नो दैत्यसंघा इति। शक्र उवाच––ततः किम्। परिहरैतानि सम्यग्गरुडनीडानीति। अथैनं मातलिः पुनरुवाच––

निवर्तनादस्य रथस्य केवलं शिवं भवेदम्बुरुहाक्ष पक्षिणाम्।
चिरस्य लब्धप्रसरा सुरेष्वसावभिद्रवत्येव तु नो द्विषच्चमूः ॥१२॥

---

१ पा० 'रथेषाग्राभिमुखान्य०'।

तब तुमुल युद्ध आरम्भ होनेपर शस्त्रों (के सञ्चालन) से शब्द उठने लगा और नगाड़ोंकी प्रतिध्वनिसे आकाश मानो फटने लगा। ॥ ६ ॥

कल्पान्त कालके वायु-द्वारा चलायमान किये गये पर्वतोंके समान भयंकर दन्तार हाथी मद-जलकी गन्धसे अत्यन्त क्रुद्ध होकर एक-दूसरेपर टूट पड़े। ॥७॥

बिजलीके समान चञ्चल पताकाओंवाले रथ उपद्रव-कारी बादलोंके समान घोर गर्जन करते हुए चारों ओर फैल गये। ॥ ८ ॥

देवों और दानवोंके वीर सैनिक अपने अपने तेज तीरोंसे एक दूसरेकी पताकाएँ छत्र शस्त्र कवच और मस्तक (काट काटकर) गिराने लगे। ॥९॥

तब राक्षसोंकी प्रज्वलित तलवारों और तीरोंसे डरकर देवेन्द्रकी सेना भाग चली। किंतु (स्वयं) देवेन्द्र अकेले ही शत्रुओंकी सेनाको रोककर समरमें स्थिर रहे। ॥ १० ॥

हर्षोल्लाससे घोर गर्जन करती हुई तथा सिंहनाद छोड़ती हुई राक्षसोंकी विशाल सेनाको समीप आते देखकर, और अपनी सेनाको भागनेमें तत्पर जानकर, 'अब यहाँसे हट जानेका समय आ पहुँचा है, ऐसा निश्चय कर, देवेन्द्रके सारथि मातलिने उनके रथको घुमाया। तब शक्रने उड़ते हुए रथके आगे शाल्मली-वृक्षपर गरुड़ नामक पक्षियोंके घोंसले देखे, जो रथसे टकरानेके रास्तेमें आ गये थे। देखते ही दयार्द्र-चित्त होकर उन्होंने अपने सारथि मातलिसे कहा—

"जिनके अभी पंख भी उत्पन्न नहीं हुए हैं उन पक्षि-शावकोंसे खचाखच भरे हुए घोंसले इस शाल्मलि-तरुपर आश्रित हैं। इसलिए रथको इस प्रकार चलाओ कि ये घोंसले रथ (के डंडे) से टकराकर नीचे न गिरने पायें।" ॥ ११ ॥

मातलिने कहा—"स्वामिन्, इतनी देरमें तो दैत्य-समूह हमारे पास पहुँच जायँगे।" शक्रने उत्तर दिया—"इससे क्या? इन घोंसलोंको अच्छी तरह बचा लो।" तब मातलिने फिर उनसे कहा—

"हे कमलनयन, इस रथके घुमानेसे तो केवल पक्षियों का ही कल्याण होगा। बहुत देरके बाद देवताओंपर विजय प्राप्त करनेवाली यह शत्रु-सेना हमारा पीछा करती हुई समीप आ रही है।" ॥ १२ ॥

अथ शक्रो देवेन्द्रः स्वमध्याशयातिशयं सत्त्वविशेषं च कारुण्यविशेषात्प्रकाशयन्नुवाच—

तस्मान्निवर्तय रथं वरमेव मृत्यु-
दैत्याधिपप्रहितभीमगदाभिघातैः ।
धिग्वाददग्धयशसो न तु जीवितं मे
सत्त्वान्यमूनि भयदीनमुखानि हत्वा ॥१३॥

अथ मातलिस्तथेति प्रतिश्रुत्य तुरगसहस्रयुक्तं स्यन्दनमस्य निवर्तयामास ।

दृष्ट्वावदाना रिपवस्त तस्य युद्धे समालोक्य रथं निवृत्तम् ।
भयद्रुताः प्रस्खलिताः प्रणेमुर्वाताभिनुन्ना इव कालमेघाः ॥१४॥
भग्ने स्वसैन्ये विनिवर्तमानः पन्थानमावृत्य रिपुध्वजिन्याः ।
सङ्कोचयत्येव मदावलेपमेकोऽप्यसम्भाव्यपराक्रमत्वात् ॥१५॥
निरीक्ष्य भग्नं तु तदासुरं बलं सुरेन्द्रसेनाप्यथ सा न्यवर्तत ।
बभूव नैव प्रणयः सुरद्विषां भयद्रुतानां विनिर्वर्तितुं यतः ॥१६॥
सहर्षलज्जैस्त्रिदशैः सुराधिपः सभाज्यमानोऽथ रणाजिराच्छनैः ।
अभिज्वलच्चारुवपुर्जयश्रिया समुत्सुकान्तःपुरमागमत्पुरम् ॥१७॥

एवं स एव तस्य संग्रामस्य विजयो बभूव । तस्मादुच्यते ।

पापं समाचरति वीतघृणो जघन्यः
प्राप्यापदं सघृण एव तु मध्यबुद्धिः ।
प्राणात्ययेऽपि तु न साधुजनः स्ववृत्तिं
वेलां समुद्र इव लङ्घयितुं समर्थः ॥१८॥

तब देवोंके अधिपति शक्रने अतिशय करुणाके कारण अपना उत्तम आशय और उत्कृष्ट धैर्य प्रकट करते हुए कहा—

"अब रथको लौटाओ। बड़े बड़े दैत्यों[1] द्वारा फेंकी जानेवाली भयंकर गदाओंके प्रहारोंसे मृत्युको प्राप्त होना श्रेयस्कर है, न कि भयसे कातर मुखवाले इन प्राणियोंको मारकर अपकीर्तिसे कलंकित होकर जीवित रहना।" ॥१३॥

तब वैसा ही करनेका वचन देकर मातलिने हजार घोड़ोंसे जुते हुए उनके रथको लौटाया।

जिन्होंने युद्धमें इन्द्रका पराक्रम देख लिया था उन देव-शत्रुओंने जब उनका रथ लौटा हुआ देखा तो वे हवाद्वारा सञ्चालित काले बादलोंके समान भयसे भागते हुए गिरने पड़ने लगे। ॥ १४ ॥

अपनी सेनाके तितर-बितर होनेपर यदि एक भी योद्धा लौटकर शत्रु-सेनाका रास्ता रोक ले तो अपने असंभावित (अप्रत्याशित) पराक्रमके कारण वह अकेला ही उस (सेना) का अभिमान चूर्ण करेगा। ॥ १५ ॥

उस आसुरी सेनाको अस्त-व्यस्त देखकर देवेन्द्रकी सेना भी लौट आई। भयसे भागते हुए देव-शत्रुओंको अब लौटनेकी इच्छा (हिम्मत) नहीं हुई। ॥ १६ ॥

प्रसन्न और लज्जित देवोंसे सम्मानित होते हुए देवेन्द्र, जिनका सुन्दर शरीर विजय-लक्ष्मीसे शोभित हो रहा था, धीरे धीरे अपने नगर और उत्सुक अन्तःपुरमें आये। ॥ १७ ॥

इस प्रकार उस संग्राममें विजय प्राप्त हुई। इसलिए कहा जाता है—

नीच मनुष्य अपनी क्रूरताके कारण (सर्वदा) पापाचरण (=प्राणि-वध) करता है; किंतु मध्यम बुद्धिवाला दयालु व्यक्ति विपत्तिमें पड़कर (कदाचित् ही) पाप-कर्म करता है, और साधु पुरुष तो प्राण जानेपर भी अपनी सद्वृत्तिका उल्लंघन करनेमें समर्थ नहीं होता जैसे कि समुद्र अपनी सीमाको पार नहीं कर सकता। ॥ १८ ॥

तदेवं देवराज्यं प्राणानपि परित्यज्य दीर्घरात्रं परिपालितानि भगवता सत्त्वानि। तेष्विह प्राज्ञस्याघातो न युक्तरूपः प्रागेव विप्रतिपत्तिरिति प्राणिषु दयायत्तेनार्येण भवितव्यम्। तथा हि धर्मो ह वै रक्षति धर्मचारिणमित्यत्राप्युन्नेयम्। तथागतवर्णे सत्कृत्य धर्मश्रवणे चेति॥

इति शक्रजातकमेकादशम्।

---

१२ ब्राह्मणजातकम्

आत्मलज्जयैव सत्पुरुषा नाचारवेलां लंघयन्ति। तद्यथानुश्रूयते।

बोधिसत्त्वः किल कस्मिंश्चिदनुपक्रुष्टगोत्रचारित्रे स्वधर्मानुवृत्तिप्रकाशयशसि विनयाचारश्लाघिनि महति ब्राह्मणकुले जन्मपरिग्रहं चकार। स यथाक्रमं गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मादिभिः कृतसंस्कारक्रमो वेदाध्ययननिमित्तं श्रुताभिजनाचारसम्पन्ने गुरौ प्रतिवसति स्म।

तस्य श्रुतग्रहणधारणपाटवं च
भक्त्यन्वयश्च सततं स्वकुलप्रसिद्धः।
पूर्वे वयस्यपि शमाभरणा स्थितिश्च
प्रेमप्रसादसुमुखं गुरुमस्य चक्रुः॥ १॥

सु· वशीकरणमन्त्रा हि नित्यमव्याहता गुणाः।
अपि द्वेषाग्नितप्तानां किं पुनः स्वस्थचेतसाम्॥ २॥

अथ तस्याध्यापकः सर्वेषामेव शिष्याणां शीलपरीक्षानिमित्तं स्वाध्यायविश्रामकालेष्वात्मनो दारिद्र्यदुःखान्यभीक्ष्णमुपवर्णयामास।

सु· स्वजनेऽपि निराक्रन्दमुत्सवेऽपि हतानन्दम्।
धिक्प्रदानकथामन्दं दारिद्र्यमफलच्छन्दम्॥ ३॥

इस प्रकार बहुत दिन हुए कि देव-राज्य और प्राणोंका भी मोह छोड़कर भगवान्‌ने उन जीवोंको बचाया। तब इस युगमें बुद्धिमान् मनुष्यके लिए उन्हें चोट पहुँचाना उचित नही, उनके प्रति पापाचरण करना तो और भी अनुचित है। ऐसा सोचकर आर्य पुरुषको प्राणियोंके प्रति दयालु होना चाहिए। धर्म धार्मिकोंकी रक्षा करता है—यह निष्कर्ष यहाँ भी निकालना चाहिए। तथागतका वर्णन करनेमें और सावधान होकर धर्मश्रवण करनेमें (यह कथा कहनी चाहिए)।

शक्र-जातक एकादश समाप्त।

---

१२ ब्राह्मण-जातक

आत्म-लज्जा (=आत्म-सम्मान) के ही कारण सत्पुरुष सदाचारकी सीमाका उल्लंघन नहीं करते। यह बात इस अनुश्रुति (=कथा) से साबित होगी।

(एकबार) बोधिसत्त्वने उत्तम गोत्र और चरित्रसे युक्त, स्वधर्मके पालनसे प्रकाशित यशवाले, विनयवान् और आचारवान् किसी महान् ब्राह्मण-कुलमें जन्म लिया। उनके गर्भाधान-पुंसवन-सीमन्तोन्नयन-जातकर्म आदि संस्कार क्रमसे किये जानेपर वे वेदाध्ययनके निमित्त विद्वान् कुलीन और सदाचारी गुरुके समीप रहने लगे।

सुने हुए शास्त्रको समझने और याद रखनेकी उनकी योग्यताने, वंश-परंपरागत उनकी स्थिर गुरु-भक्तिने, प्रथम वयस (=बाल्यावस्था) में भी उनके शान्त स्वभावने उनके गुरुको प्रेम और प्रसन्नतासे पुलकित कर दिया। ॥ १ ॥

नित्य अखण्डित सद्‌गुण (सदाचरण), द्वेषाग्निसे जलनेवालोंके लिए भी वशीकरण-मंत्र हैं, फिर शान्त चित्तवालोंके लिए क्या कहना? ॥ २ ॥

उनके अध्यापक सभी शिष्योंके शीलकी परीक्षा करनेके लिए स्वध्याय-कार्यसे विश्राम मिलनेपर बार बार अपने दारिद्र्य-दुःखका वर्णन करने लगे।

"धिक्कार है दरिद्रताको जो स्वजनके प्रति भी सहानुभूति-शून्य (उदासीन), उत्सवमें भी आनन्द-रहित, दान देनेकी बात करनमें सुस्त और इच्छा पूरी करनेमें असफल होती है। ॥ ३ ॥

परिभवभवनं श्रमास्पदं सुखपरिवर्जितमत्यनूर्जितम् ।
व्यसनमिव सदैव शोचनं धनविकलत्वमतीव दारुणम् ॥ ४ ॥

अथ ते तस्य शिष्याः प्रतोदसंचोदिता इव सदश्वा गुरुस्नेहात्समुपजातसंवेगाः सम्पन्नतरं प्रभततरं च भैक्षमुपसंहरन्ति स्म । स तानुवाच ।

अलमनेनात्रभवतां परिश्रमेण । न भैक्षोपहाराः कस्यचिद्दारिद्र्यक्षामतां क्षपयन्ति । अस्मत्परिक्लेशामर्षिभिस्तु भवद्भिरयमेव यत्नो धनाहरणं प्रति युक्तः कर्त्तुं स्यात् । कुतः

क्षुधमन्नं जलं तर्षं मन्त्रवाक्सागदा गदान् ।
हन्ति दारिद्र्यदुःखं तु सन्तत्याराधनं धनम् ॥ ५ ॥

शिष्या ऊचुः । किं करिष्यामो मन्दभाग्या वयं यदेतावान्नः शक्तिप्रयामः । अपि च ।

भैक्षवद्यदि लभ्येरन्नुपाध्याय धनान्यपि ।
नेदं दारिद्र्यदुःखं ते वयमेवं सहेमहि ॥ ६ ॥
प्रतिग्रहकृशोपायं विप्राणां हि धनार्जनम् ।
अप्रदाता जनश्चायमित्यगत्या हता वयम् ॥ ७ ॥

अध्यापक उवाच । सन्त्यन्येऽपि शास्त्रपरिदृष्टा धनार्जनोपायाः । जरानिष्पीतसामर्थ्यास्तु वयमयोग्यरूपास्तत्प्रतिपत्तौ । शिष्या ऊचुः । वयमुपाध्याय जरयानुपहतपराक्रमाः । तद्यदि नस्तेषां शास्त्रविहितानामुपायानां प्रतिपत्तिसहतां मन्यसे तदुच्यताम् । यावदध्यापनपरिश्रमस्यानृण्यं ते गच्छाम इति । अध्यापक उवाच । तरुणैरपि व्यवसायशिथिलहृदयैर्दुरभिसम्भवाः खल्वेवंविधा धनार्जनोपायाः । यदि त्वयमत्रभवतां निर्बन्धः । तच्छ्रूयतां साधुः कतम एको धनोपार्जनक्रमः ।

निर्धनता अत्यन्त दारुण है। वह अपमानका घर, थकावटका स्थान, सुख-विहीन और शक्ति-हीन है; विपत्तिके समान सदैव दुःखदायी है।" ॥ ४ ॥

चाबुक मारकर उत्तेजित किये गये अच्छे घोड़ोके समान उनके शिष्य गुरु-स्नेहके कारण संविग्न (विचलित) हो गये और उत्तमोत्तम एवं अधि-काधिक भिक्षा माँगकर लाने लगे। गुरुने उनसे कहा—

"आपलोगोंका यह परिश्रम निष्प्रयोजन (बेकार) है। भिक्षाके अन्नसे किसीकी दरिद्रता दूर नही हो सकती। यदि आप मेरे दुःखको सहनेमें असमर्थ हैं तो धन ले आनेके विषयमें आप इतना ही (अधिक) उद्योग करें, यही उचित होगा। क्यों? (इसलिए कि)

अन्न भूखको, पानी प्यासको, औषध-सहित मंत्र व्याधिको तथा संतानों (के उद्योग) द्वारा प्राप्त होनेवाला[1] धन दारिद्रय-दुःखको दूर करता है।" ॥५॥

शिष्योंने उत्तर दिया—"हम भाग्य-हीन क्या करें? हमारी शक्तिकी दौड़ (पहुँच) तो इतनी ही है। और भी—

हे उपाध्याय, यदि भिक्षाकी तरह धन भी प्राप्त होता तो हम आपके इस दारिद्रय-दुःखको इस प्रकार (कदापि) नहीं सहते। ॥ ६ ॥

ब्राह्मणोंके लिए धनोपार्जन करनेका रास्ता संकीर्ण है और ये लोग दानशील नहीं है। इस उपाय-हीनताके कारण हम दुःखी हैं।" ॥ ७ ॥

अध्यापकने उत्तर दिया—"धनोपार्जनके लिए शास्त्र-विहित दूसरे उपाय भी तो हैं। किंतु बुढ़ापेने हमारी शक्ति चूस ली है और हम उन्हें करनेके योग्य नही है।" शिष्योंने उत्तर दिया—"हे उपाध्याय, बुढ़ापेसे हमारी शक्ति तो क्षीण नहीं हुई है। तब यदि आप हमें उन शास्त्र-विहित उपायोंके करनेमें समर्थ समझते हैं तो कहिये, ताकि हम आपके अध्यापन-परिश्रमसे उऋण हों।" अध्यापकने उत्तर दिया—"उद्योग करनेमें शिथिल-हृदय तरुणोंके लिए भी धनार्जनके ये उपाय अशक्य है। किंतु इसके लिए यदि आपका आग्रह है तो धनार्जनका कोई एक अच्छा[2] उपाय सुनिये।

आपद्धर्मः स्तेयमिष्टं द्विजानामापच्चान्त्या निःस्वता नाम लोके ।
तस्माद्भोज्यं स्वं परेषामदुष्टैः सर्वं चैतद्ब्राह्मणानां स्वमेव ॥ ८॥

कामं प्रसह्यापि धनानि हर्तुं शक्तिर्भवेदेव भवद्विधानाम् ।
न त्वेष योगः स्वयशो हि रक्ष्यं शून्येषु तस्माद्व्यवसेयमेव ॥ ९ ॥

इति मुक्तप्रग्रहास्तेन ते छात्राः परममिति तत्तस्य वचनमयुक्तमपि युक्तमिव प्रत्यश्रौषुरन्यत्र बोधिसत्त्वात् ।

स हि प्रकृतिभद्रत्वात्तन्नोत्सेहेऽनुमोदितुम् ।
कृत्यवत्प्रतिपन्नं तैर्व्याहन्तुं सहसैव तु ॥१०॥

व्रीडावनतवदनस्तु बोधिसत्त्वो मृदु विनिश्वस्य तूष्णीमभूत् । अथ स तेषामध्यापको बोधिसत्त्वमवेक्ष्य तं विधिमनभिनन्दन्तमप्रति-क्रोशन्तं निविष्टगुणसम्भावनस्तस्मिन्महासत्त्वे किं नु खल्वयमव्यवसित-त्वान्निःस्नेहतया वा मयि स्तेयं न प्रतिपद्यते । उताधर्मसंज्ञयेति समु-त्पन्नविमर्शस्तत्स्वभावव्यक्तीकरणार्थं बोधिसत्त्वमुवाच । भो महा-ब्राह्मण !

अमी द्विजा मद्व्यसनासहिष्णवः समाश्रिता वीरमनुष्यपद्धतिम् ।
भवाननुत्साहजडस्तु लक्ष्यते[1] न नूनमस्मद्व्यसनेन तप्यते ॥११॥
परिप्रकाशेऽप्यनिगूढविस्तरे मयात्मदुःखे वचसा विदर्शिते ।
कथं नु निःसम्भ्रमदीनमानसो भवानिति स्वस्थवदेव तिष्ठति ॥१२॥

---

१ पा० 'लभ्यते' ।

द्विजोंके लिए चोरीको आपद्धर्म कहा गया है और संसारमें निर्धनता अन्तिम विपत्ति है। इसलिए दूसरोंकी सम्पत्तिका उपयोग करनेमें हम दोषी नही हो सकते और यह सब कुछ तो ब्राह्मणोंकी ही सम्पत्ति है। ॥ ८॥

आप-सरीखोको बलात् धन हरण करनेकी शक्ति तो होगी ही। किंतु ऐसा करना उचित नही होगा, क्योंकि अपने यशकी भी तो रक्षा करनी है। इसलिए सूनेमें ही उद्योग करना चाहिए।" ॥ ९॥

इस प्रकार जब उन्होंने अपने शिष्योंका बन्धन खोल दिया तब बोधिसत्त्वको छोड़कर उन छात्रोने उनके उस अनुचित वचनको भी ऐसे स्वीकार किया जैसे उचित ही हो।

यद्यपि उन्होंने इसे अपना कर्तव्य समझकर स्वीकार कर लिया, किंतु बोधिसत्त्व अपनी भद्र (उत्तम) प्रकृतिके कारण इसका न अनुमोदन ही कर सके और न हठात् विरोध ही कर सके[1]। ॥ १०॥

उन्होंने लज्जासे अपना मुख झुका लिया और ठंढी साँस लेकर चुप हो गये। जब अध्यापकने देखा कि बोधिसत्त्व उस उपायका न अनुमोदन ही कर रहे हैं और न निन्दा ही, तब उस महासत्त्वमे सद्‌गुणोंका समावेश होनेकी सम्भावनासे उन्होंने सोचा—"क्यों यह चोरी करना नही स्वीकार रहे है? क्या इनमें साहस ही नहीं है (या अब तक निश्चय नही कर सके है या ये उद्योगी ही नहीं है), या मेरे प्रति इन्हें स्नेह ही नहीं है, या इसे यह अधर्म समझ रहे हैं?" इस प्रकार विचार-विमर्श करते हुए उनका अपना भाव प्रकट करवानेके लिए उन्होंने बोधिसत्त्वसे पूछा—"हे महा-ब्राह्मण,

मेरे दुःखको नहीं सह सकनेवाले इन द्विजोंने वीरोचित मार्गका अवलम्बन किया है। आप तो अनुत्साही और अचेतन जान पड़ते हैं। अवश्य ही मेरी विपत्तिसे आपको संताप नही हो रहा है। ॥ ११॥

यद्यपि मेरा दुःख प्रकट है, कुछ भी छिपा हुआ नहीं है, मैंने वाणी द्वारा सब बतला दिया है, तो भी कैसे आप चुपचाप (शान्त) बैठे हुए हैं, क्यों आपका मन दुःखसे कातर नही हो रहा है?" ॥ १२॥

अथ बोधिसत्त्वः ससम्भ्रमोऽभिवाद्योपाध्यायमुवाच—शान्तं पापम् न खल्वहं निःस्नेहकठिनहृदयत्वादपरितप्यमानो गुरुदुःखैरेवमवस्थितः किन्त्वसम्भवादुपाध्यायप्रदर्शितस्य क्रमस्य। नहि शक्यमदृश्यमानेन क्वचित्पापमाचरितुम्। कुतः। रहोऽनुपपत्तेः।

नास्ति लोके रहो नाम पापं कर्म प्रकुर्वतः।
अदृश्यानि हि पश्यन्ति ननु भूतानि मानुषान् ॥१३॥

कृतात्मानश्च मुनयो दिव्योन्मिषितचक्षुषः।
तानपश्यन्रहोमानी बालः पापे प्रवर्तते ॥१४॥

अहं पुनर्न पश्यामि शून्यं क्वचन किञ्चन।
यत्राप्यन्यं न पश्यामि नन्वशून्यं मयैव तत् ॥१५॥

परेण यच्च दृश्येत दुष्कृतं स्वयमेव वा।
सुदृष्टतरमेतत्स्याद्दृश्यते स्वयमेव यत् ॥१६॥

स्वकार्यपर्याकुलमानसत्वात्पश्येन्न वान्यश्चरितं परस्य।
रागार्पितैकाग्रमतिः स्वयं तु पापं प्रकुर्वन्नियमेन वेत्ति ॥१७॥

तदनेन कारणेनाहमेवं व्यवस्थित इति। अथ बोधिसत्त्वः समभिप्रसादितमनसमुपाध्यायमवेत्य पुनरुवाच—

न चात्र मे निश्चयमेति मानसं धनार्थमेवं प्रतरेद्भवानपि।
अवेत्य को नाम गुणागुणान्तरं गुणोपमर्दं धनमूल्यतां नयेत् ॥१८॥

स्वाभिप्रायं खलु निवेदयामि।

कपालमादाय विवर्णवाससा वरं द्विषद्वेश्मसमृद्धिरीक्षिता।
व्यतीत्य लज्जां न तु धर्मवैशसे सुरेन्द्रतार्थेऽप्युपसंहृतं मनः ॥१९॥

तब बोधिसत्त्वने शीघ्रतासे आचार्यका अभिवादन कर उत्तर दिया—"शान्तं पापम् (ऐसा न कहें)। मैं जो इस प्रकार स्थिर हूँ, सो क्यों? इसलिए नहीं कि अपनी स्नेह-हीनता और कठोर-हृदयताके कारण मैं गुरुके दुःखसे दुःखी नहीं हो रहा हूँ, किंतु इसलिए कि आचार्यका दिखलाया हुआ उपाय संभव नहीं है। क्योंकि किसीके लिए कहीं भी छिपकर पापका आचरण करना शक्य नहीं है। क्यों? इसलिए कि एकान्त (=शून्य) का अस्तित्व ही नहीं है।

पापकर्म करनेवालेके लिए संसारमें शून्य है ही नहीं। क्योंकि अदृश्य (=नहीं देखे जा सकनेवाले) प्राणी तथा वे पुण्यात्मा मुनि, जिनके दिव्य नेत्र विकसित हुए हैं, मनुष्यों (के शुभाशुभ कर्मों) को देखते रहते हैं। उन्हें नहीं देख सकनेके कारण एकान्तकी कल्पना करनेवाला मूर्ख मनुष्य पापकर्ममें प्रवृत्त होता है। ॥ १३–१४ ॥

मैं तो कहीं थोड़ा सा भी एकान्त नहीं देखता हूँ। जहाँ दूसरेको नहीं भी देखता हूँ वह स्थान मेरेसे ही अशून्य है। ॥ १५ ॥

(मनुष्यके) कुकर्मको दूसरा कोई देखे या वह स्वयं देखे। जो स्वयं देखा जाता है वह अच्छी तरह देखा जाता है। ॥ १६ ॥

अपने कार्यमें व्यस्त रहनेके कारण दूसरा दूसरेके कर्मको देखे या न देखे। किंतु आसक्तिपूर्वक एकाग्रचित्त होकर स्वयं पापकर्मको करता हुआ निश्चित रूपसे जानता है (कि मैं पापकर्म कर रहा हूँ)। ॥ १७ ॥

तब इसी कारणसे मैं इस प्रकार स्थिर हूँ।" बोधिसत्त्वने अध्यापकको प्रसन्नचित्त जानकर पुनः कहा—

"यहाँ मेरे मनमें यह विश्वास नहीं हो रहा है कि आप भी धनके लिए इस प्रकार हमें बहका सकते हैं। सद्गुण और दुर्गुणका अन्तर जानकर भला कौन मनुष्य सद्गुण खोकर बदलेमें धन चाहेगा? ॥ १८ ॥

अब मैं अपना अभिप्राय निवेदन करता हूँ—काषायवस्त्र पहनकर भिक्षा-पात्र लेकर पर-गृहोंकी समृद्धि देखना अच्छा है, किंतु निर्लज्ज होकर धर्मकी हत्या करके इन्द्र-पदकी भी इच्छा करना अच्छा नहीं है।" ॥ १९ ॥

अथ तस्योपाध्यायः प्रहर्षविस्मयाक्षिप्तहृदय उत्थायासनात्सम्परिष्वज्यैनमुवाच——साधु साधु पुत्रक ! सधु साधु महाब्राह्मण ! प्रतिरूपमेतत्ते प्रशमालङ्कृतस्यास्य मेधाविकस्य।

निमित्तमासाद्य यदेव किञ्चन
स्वधर्ममार्गं विसृजन्ति बालिशाः।
तपःश्रुतज्ञानधनास्तु साधवो
न यान्ति कृच्छ्रे परमेऽपि विक्रियाम् ॥२०॥

त्वया कुलं सममलमभ्यलङ्कृतं
समुद्यता नभ इव शारदेन्दुना।
तवार्थवत्सुचरितविश्रुतं श्रुतं
सुखोदयः सफलतया श्रमश्च मे ॥२१॥

तदेवमात्मलज्जयैव सत्पुरुषा नाचारवेलां लङ्घयन्तीति ह्रीबलेनार्येण भवितव्यम्। एवं ह्रीपरिखासम्पन्न आर्यश्रावकोऽकुशलं प्रजहाति कुशलं च भावयतीत्येवमादिषु सूत्रेषूपनेयम्। ह्रीवर्णप्रतिसंयुक्तेषु लोकाधिपतेयेषु चेति।

इति ब्राह्मणजातकं द्वादशम्।

---

१३ उन्मादयन्ती-जातकम्

तीव्रदुःखातुराणामपि सतां नीचमार्गनिष्प्रणयता भवति स्वधैर्यावष्टम्भात् ॥ तद्यथानुश्रूयते।

सत्यत्यागोपशमप्रज्ञादिभिर्गुणातिशयैर्लोकहितार्थमुद्यच्छमानः किल बोधिसत्त्वः कदाचिच्छिबीनां राजा बभूव साक्षाद्धर्म इव विनय इव पितेव प्रजानामुपकारप्रवृत्तः।

(यह सुनकर) उनके आचार्यके हृदयमें बड़ा आनन्द और विस्मय हुआ। अपने आसनसे उठकर उन्होंने शिष्यको आलिंगन करके कहा—"साधु पुत्र साधु! साधु ब्राह्मण साधु! यह शान्तिरूपी अलंकारसे युक्त आप मेधावीके ही अनुरूप हैं।

जो कुछ भी कारण (=बहाना) पाकर मूर्ख अपने धर्म-मार्गको छोड़ देते हैं। किंतु तपस्या विद्या और ज्ञानके धनी सत्पुरुष अत्यन्त कष्टमें भी विचलित नही होते हैं। ॥ २० ॥

जैसे शरद् ऋतुमें उगता हुआ चन्द्रमा आकाशको अलंकृत करता है वैसे ही आपने अपने सम्पूर्ण वंशको अलंकृत (=उज्ज्वल) कर दिया। आपकी विद्या सफल हुई यह बात आपके सुन्दर आचरणसे प्रकट है, और इस सफलताके कारण मेरा परिश्रम सुख-दायक हुआ।" ॥ २१ ॥

इस प्रकार आत्म-लज्जाके ही कारण सत्पुरुष सदाचारकी सीमाका उल्लंघन नहीं करते। इसलिए आर्य पुरुषको लज्जासे युक्त होना चाहिए। 'इस प्रकार लज्जारूपी खाई (रक्षा) से सम्पन्न आर्य श्रावक अकुशलको छोड़ता है और कुशलकी भावना करता है' ऐसे सूत्रों (की व्याख्या) में, लज्जाका वर्णन करनेमें और तथागतका सम्मान करनेमें यह दृष्टान्त (=कथा) उपस्थित करना चाहिए।

ब्राह्मण-जातक द्वादश समाप्त।

---

१३ उन्मादयन्ती-जातक

तीव्र पीड़ासे पीड़ित होकर भी सत्पुरुष अपने धैर्यकी दृढ़ताके कारण नीच मनुष्योंके मार्गपर नहीं चलते। तब जैसी कि अनुश्रुति है—

जब बोधिसत्त्व सत्य त्याग शान्ति प्रज्ञा आदि उत्कृष्ट गुणोंसे लोक-हितके लिए उद्यम कर रहे थे तब एक बार वे शिबियोंके राजा हुए। वे साक्षात् धर्मके समान और विनय (=अनुशासन) के समान जान पड़ते थे। वे पिताके समान प्रजाओंके उपकारमें प्रवृत्त हुए।

दोषप्रवृत्तेर्विनियम्यमानो निवेश्यमानश्च गुणाभिजात्ये।
पित्रेव पुत्रः क्षितिपेन तेन ननन्द लोकद्वितयेऽपि लोकः ॥ १ ॥

समप्रभावा स्वजने जने च धर्मानुगा तस्य हि दण्डनीतिः।
अधर्म्यमावृत्य जनस्य मार्गं सोपानमालेव दिवो बभूव ॥ २ ॥

धर्मान्वयं लोकहितं स पश्यंस्तदेककार्यो नरलोकपालः।
सर्वात्मना धर्मपथेऽभिरेमे तस्योपमर्दं च परैर्न सेहे ॥ ३ ॥

अथ तस्य राज्ञः पौरमुख्यस्य दुहिता श्रीरिव विग्रहवती साक्षाद्रतिरिवाप्सरसामन्यतमेव परया रूपलावण्यसंपदोपेता परमदर्शनीया स्त्रीरत्नसंमता बभूव।

अवीतरागस्य जनस्य यावत्सा लोचनप्राप्यवपुर्बभूव।
तावत्स तद्रूपगुणावबद्धां न दृष्टिमुत्कम्पयितुं शशाक ॥ ४ ॥

अतश्च तस्या उन्मादयन्तीत्येव बान्धवा नाम चक्रुः ॥ अथ तस्याः पिता राज्ञः संविदितं कारायामास। स्त्रीरत्नं ते देव विषये प्रादुर्भूतम्। यतस्तत्प्रतिग्रहं विसर्जनं वा प्रति देवः प्रमाणमिति ॥ अथ स राजा स्त्रीलक्षणविदो ब्राह्मणान् समादिदेश। पश्यन्त्वेनां तत्रभवन्तः किमसावस्मद्योग्या न वेति ॥ अथ तस्याः पिता तान्ब्राह्मणान् स्वभवनमभिनीयोन्मादयन्तीमुवाच। भद्रे स्वयमेव ब्राह्मणान् परिवेषयेति। सा तथेति प्रतिश्रुत्य यथाक्रमं ब्राह्मणान् परिवेषयितुमुपचक्रमे ॥ अथ ते ब्राह्मणाः।

तदाननोद्वीक्षणनिश्चलाक्षा मनोभुवा संह्रियमाणधैर्याः।
अनीश्वरा लोचनमानसानामासुर्मदेनेव विलुप्तसंज्ञाः ॥ ५ ॥

पिताके द्वारा पुत्रकी तरह उस राजाके द्वारा पापाचारसे रोककर सद्‌गुणोंमें लगाया जाता हुआ जन-समूह दोनों लोकोंमें आनन्दित हुआ। ॥ १ ॥

धर्मका अनुसरण करनेवाली, प्रजा और स्वजनके लिए समान फल देनेवाली उनकी दण्ड-नीति[१] अधर्म-मार्गको रोककर प्रजाके लिए स्वर्गकी सीढ़ीके समान सिद्ध हुई। ॥ २ ॥

धर्ममें लोक-हित निहित है यह देखकर वह राजा केवल धर्ममें ही व्यस्त रहते थे। वे सर्व-भावसे धर्मपथमें निरत थे और दूसरोंके द्वारा धर्म-पथका अतिक्रमण नही सह सकते थे। ॥ ३ ॥

उस राजाके एक प्रधान नागरिककी कन्या मूर्तिमती लक्ष्मीके समान, साक्षात् रतिके समान, किसी अप्सराके समान अत्यन्त रूपवती और परम दर्शनीय थी। वह श्रेष्ठ स्त्री-रत्न थी।

जिनकी काम-वासना क्षीण नही हुई, ऐसे (अवीतराग) व्यक्तियोंके दृष्टि-पथपर जब वह आती थी तब उसके रूप-पाशमें आबद्ध दृष्टिको छुड़ाना उनके लिए अशक्य था। ॥ ४ ॥

इसी लिए भाई-बन्धुओंने उस लड़कीका नाम उन्मादयन्ती[२] रखा। उसके पिताने राजासे निवेदन किया—"हे देव, आपके राज्यमें स्त्री-रत्न प्रकट हुआ है। अतः उसे स्वीकार या अस्वीकार करनेके सन्बन्धमें देव प्रमाण हैं (जैसा निश्चय करें)।" तब राजाने स्त्रियोंके लक्षण जाननेवाले ब्राह्मणोंको आदेश दिया—"आप जाकर देखें कि वह कन्या मेरे योग्य है वा नहीं।" उसके पिताने उन ब्राह्मणोंको अपने घर ले आकर उन्मादयन्तीसे कहा—"भद्रे, तू स्वयं ब्राह्मणोंको (भोजन) परोस।" वह "बहुत अच्छा" कहकर ब्राह्मणोंके आगे परोसने लगी। जब उन ब्राह्मणोंने उसके मुखकी ओर देखा तो उनकी आँखें वही स्थिर हो गई। कामदेवने उनका धैर्य हरण कर लिया। उनकी आँखों और मनपर उनका वश न रहा। वे बेहोश हो गये, जैसे नशेमें चूर (=मद-मत्त) हों। ॥ ५ ॥

यदा च नैव शक्नुवन्ति स्म प्रतिसंख्यानधीरनिभृतमवस्थातुं कुत एव भोक्तुम्। अथैषां चक्षुष्पथादुत्सार्य स्वां दुहितरं स गृहपतिः स्वयमेव ब्राह्मणान् परिवेष्य विसर्जयामास॥ अथ तेषां बुद्धिरभवत् कृत्यारूपमिव खल्विदमतिमनोहरमस्या दारिकाया रूपचातुर्यम्। यतो नैनां राजा द्रष्टुमप्यर्हति कुतः पुनः पत्नीत्वं गमयितुम्। अनया हि रूपशोभया नियतमस्योन्मादितहृदयस्य धर्मार्थकार्यप्रवृत्तेर्विस्रस्यमानोत्साहस्य राजकार्यकालातिक्रमाः प्रजानां हितसुखोदयपथमुपपीडयन्तः पराभवाय स्युः।

इयं हि संदर्शनमात्रकेण कुर्यान्मुनीनामपि सिद्धिविघ्नम्।
प्रागेव भावार्पितदृष्टिवृष्टेर्यूनः क्षितीशस्य सुखे स्थितस्य॥ ६॥

तस्मादिदमत्र प्राप्तकालमिति यथाप्रस्तावमुपेत्य राज्ञे निवेदयामासुः। दृष्टास्माभिर्महाराज सा कन्यका। अस्ति तस्या रूपचातुर्यमात्रकमपलक्षणोपघातनिःश्रीकं तु। यतो नैनां द्रष्टुमप्यर्हति देवः किं पुनः पत्नीत्वं गमयितुम्।

कुलद्वयस्यापि हि निन्दिता स्त्री यशो विभूतिं च तिरस्करोति।
निमग्नचन्द्रेव निशा समेघा शोभां विभागं च दिवस्पृथिव्योः॥७॥

इति श्रुतार्थः स राजा। अपलक्षणा किलासौ न च मे कुलानुरूपेति तस्यां विनिवृत्ताभिलाषो बभूव। अनर्थितां तु विज्ञाय राज्ञः स गृहपतिस्तां दारिकां तस्यैव राज्ञोऽमात्यायाभिपारगाय प्रायच्छत्। अथ कदाचित्स राजा क्रमागतां कौमुदीं स्वस्मिन्पुरवरे निषक्तशोभां द्रष्टुमुत्सुकमना रथवरगतः सिक्तसंमृष्टरथ्यान्तरापणमुच्छ्रितविचित्रध्वजपताकं

जब वे ज्ञान-बलसे धैर्य और शान्तिकी रक्षा न कर सके तब फिर भोजन कहाँसे कर सकते? अब उनके दृष्टि-पथसे अपनी बेटीको हटाकर उस गृह्-पतिने स्वयं ही ब्राह्मणोंको परोसकर खिलाया और विदा किया। उन ब्राह्मणोंने सोचा "इस लड़कीका यह अत्यन्त मनोहर रूप अवश्य ही कृत्या (=माया) के रूपके समान है। यह तो राजाके देखने योग्य भी नहीं है, फिर पत्नी बनानेके योग्य कहाँसे होगी? निश्चित है कि इस रूप-शोभासे उनके हृदयमें उन्माद पैदा होगा, धार्मिक और आर्थिक कार्योंमें उनका उत्साह शिथिल होगा, राज-कार्य समयपर सम्पादित न होंगे, जिससे प्रजाके हित-सुखके उदयमें बाधा होगी और उसका अनिष्ट होगा।

यह अपने दर्शन-मात्रसे मुनियोंकी सिद्धिमें भी विघ्न डाल सकती है। फिर सुखमें रहनेवाले जवान राजा जब चावसे उसकी ओर देखेंगे तब उनका क्या हाल होगा (उनके कार्यमें कितना विघ्न होगा)?" ॥ ६ ॥

इसलिए अब इसका समय हो गया, यह सोचकर अपने निश्चयके अनुसार राजाके समीप जाकर उन्होंने निवेदन किया—"हे महाराज, हमने वह कन्या देखी। उसमें केवल रूप है, अलक्षणोंके कारण वह रूप श्री-हीन (अशुभ) है। इसलिए वह देवके देखने योग्य भी नहीं है, फिर पत्नी बनाने योग्य कहाँसे होगी?

निन्दनीय स्त्री दोनों कुलोंकी कीर्ति और सम्पत्तिको बोरती है, जैसे चन्द्रमाके डूबनेपर बादलोंवाली रात आकाश और पृथ्वीकी शोभा और विभाग को छिपाती है।" ॥ ७ ॥

यह सुनकर राजाने सोचा—'वह अलक्षणा है और मेरे कुलके अनुरूप नहीं है।' इसलिए उसके प्रति उनकी चाह जाती रही। राजा नहीं चाहते हैं, यह जानकर उस गृह्-पतिने उसी राजाके अमात्य अभिपारगको अपनी कन्या दान कर दी।

एकबार वह राजा क्रमागत कौमुदी-महोत्सवकी शोभा अपनी राजधानीमें देखनेकी उत्सुकतासे उत्तम रथपर चढ़कर नगरमें घूमने लगे। वहाँ जल छिड़ककर गलियाँ और दूकानें साफ की गई थीं, चित्र-विचित्र ध्वजाएँ

समन्ततः पुष्पोपहारशबलभूमिभागधवलं प्रवृत्तनृत्तगीतहास्यलास्यवादित्रं पुष्पधूपचूर्णवासमाल्यासवस्नानानुलेपनामोदप्रसृतसुरभिगन्धि प्रसारितविविधरुचिरपण्यं तुष्टपुष्टोज्ज्वलतरवेषपौरजानपदसंबाधराजमार्गं पुरवरमनुविचरंस्तस्यामात्यस्य भवनसमीपमुपजगाम। अथोन्मादयन्त्यपलक्षणा किलाहमित्यनेन राज्ञावधूतेति समुत्पन्नामर्षा राजदर्शनकुतूहलेव नाम संदृश्यमानरूपशोभा विद्युदिव घनशिखरं हर्म्यतलमवभासयन्ती व्यतिष्ठत। शक्तिरस्येदानीमस्त्वपलक्षणादर्शनादविचलितधृतिस्मृतिमात्मानं धारयितुमिति॥ अथ तस्य राज्ञः पुरवरविभूतिदर्शनकुतूहलप्रसृता दृष्टिरभिमुखस्थितायां सहसैव तस्यामपतत्। अथ स राजा

प्रकाममन्तःपुरसुन्दरीणां वपुर्विलासैः कलितेक्षणोऽपि।
अनुद्धतो धर्मपथानुरागादुद्योगवानिन्द्रियनिर्जयेऽपि॥ ८॥
विपुलधृतिगुणोऽप्यपत्रपिष्णुः परयुवतीक्षणविक्लवेक्षणोऽपि।
उदितमदनविस्मयः स्त्रियं तां चिरमनिमेषविलोचनो ददर्श॥९॥

कौमुदी किं न्वियं साक्षाद्भवनस्यास्य देवता।
स्वर्गस्त्री दैत्ययोषिद्वा न ह्येतन्मानुषं वपुः॥१०॥

इति विचारयत एव तस्य राज्ञस्तद्दर्शनावितृप्तनयनस्य स रथस्तं देशमतिवर्तमानो न मनोरथानुकूलो बभूव। अथ स राजा शून्यहृदय इव तद्गतैकाग्रमनाः स्वभवनमुपेत्य मन्मथाक्षिप्तधृतिः सुनन्दं सारथिं रहसि पर्यपृच्छत्।

सितप्राकारसंवीतं वेत्सि कस्य नु तद्गृहम्।
क्व सा तत्र व्यरोचिष्ट विद्युत्सित इवाम्बुदे॥११॥

और पताकाएँ ऊपर फहरा रही थी, चारों ओर फूलोके उपहारसे सफेद जमीन रंग-बिरंगी हो गई थी, नृत्य गीत हास्य-लास्य और वाद्य-वादन हो रहा था, फूल धूप चूर्ण सुगन्धित द्रव्य माला मदिरा और स्नानोपयुक्त अनुलेपसे सुगन्धि निकलकर फैल रही थी, नाना प्रकारके मनोहर पण्य (=सौदे) पसारे हुए थे, उज्ज्वल-वेष-विभूषित हृष्ट-पुष्ट नागरिकों और ग्रामवासियोंसे राज-मार्ग भरे हुए थे। उस नगरमें घूमते हुए वे उस अमात्यके घरके समीप पहुँचे। अलक्षणा जानकर राजाने मुझे तिरस्कृत कर दिया, यह सोचकर उन्मादयन्ती क्रुद्ध हो गई और राजाको देखनेके कुतूहलके बहानेसे अपनी रूप-शोभाके साथ महलके ऊपर जाकर खड़ी हुई, जैसे बादलकी चोटीपर बिजली चमक रही हो। (वहाँ खड़ी होकर उसने सोचा) अब ये इस अलक्षणाको देखकर अपने धैर्य और स्मृतिकी रक्षा करें। कुतूहलवश उस नगरकी शोभा देखते देखते राजाकी दृष्टि हठात् ही सामनेमें खड़ी उन्मादयन्तीपर पड़ी। वह राजा

यद्यपि अपने अन्तःपुरकी सुन्दरियोंके रूपको इच्छानुसार बार बार देखकर भी शान्त रहते थे, यद्यपि धर्ममार्गसे अनुराग होनेके कारण उन्होंने इन्द्रियोंको जीतनेका उद्योग किया था, यद्यपि वे बड़े धैर्यशाली और लज्जाशील थे, यद्यपि दूसरोंकी युवती स्त्रियोंको देखकर उनकी आँखोंमें कष्ट होता था, तथापि कामके वशीभूत होकर उन्होंने उस स्त्रीको देरतक निर्निमेष आँखोंसे देखा। ॥ ८–९ ॥

"क्या यह साक्षात् कौमुदी है या इस घरकी देवता है, अप्सरा है या असुराङ्गना है? यह मनुष्यकी आकृति नहीं है।" ॥ १० ॥

जब राजा इस प्रकार विचार-विमर्श कर ही रहे थे और उसे देखकर उनकी आँखें तृप्त भी नहीं हुई थीं कि उनका रथ उनकी इच्छाके प्रतिकूल उस स्थानसे आगे बढ़ा। राजा शून्य हृदयसे उसीमें एकाग्रचित्त होकर घर लौटे। कामदेवने उनका धैर्य विचलित कर दिया। उन्होंने एकान्तमें सारथि सुनन्दसे पूछा—

"सफेद महलोंसे घिरा हुआ, जानते हो, वह किसका घर है? सफेद बादलपर बिजलीके समान वहाँ वह कौन चमकती थी?" ॥ ११ ॥

सारथिरुवाच। अस्ति देवस्याभिपारगो नामामात्यमुख्यः। तस्य तद्गृहं तस्यैव च सा भार्या किरीटवत्सस्य दुहिता। उन्मादयन्ती नामेति। तदुपश्रुत्य स राजा परभार्येति वितानीभूतहृदयश्चिन्तास्तिमितनयनो दीर्घमुष्णमभिनिश्वस्य तदर्पितमनाः शनैरात्मगतमुवाच।

अन्वर्थरम्याक्षरसौकुमार्यमहो कृतं नाम यथेदमस्याः।
उन्मादयन्तीति शुचिस्मितायास्तथा हि सोन्मादमिवाकरोन्माम्॥

विस्मर्तुमेनामिच्छामि पश्यामीव च चेतसा।
स्थितं तस्यां हि मे चेतः सा प्रभुत्वेन तत्र वा॥१३॥

परस्य नाम भार्यायां ममाप्येवमधीरता।
तदुन्मत्तोऽस्मि संत्यक्तो लज्जयेवाद्य निद्रया॥२४॥

तस्या वपुर्विलसितस्मितवीक्षितेषु
संरागनिश्चलमतेः सहसा स्वनन्ती।
कार्यान्तरक्रमनिवेदनधृष्टशब्दा
विद्वेषमुत्तुदति चेतसि नालिका मे॥१५॥

इति स राजा मदबलविचलितधृतिर्व्यवस्थापयन्नप्यात्मानमापाण्डुकृशतनुः प्रध्यानविनिश्वसितविजृम्भणपरः प्रव्यक्तमदनाकारो बभूव।

धृत्या महत्यापि निगुह्यमानः स भूपतेस्तस्य मनोविकारः।
मुखेन चिन्तास्तिमितेक्षणेन कार्श्येन च व्यक्तिमुपाजगाम॥१६॥

अथेङ्गिताकारग्रहणनिपुणमतिरभिपारगोऽमात्यस्तं राज्ञो वृत्तान्तं सकारणमुपलभ्य स्नेहात्तदत्ययाशङ्की जानानश्चातिबलतां मदनस्य रहसि राजानं संविदितं समुपेत्य कृताभ्यनुज्ञो विज्ञापयामास।

सारथिने उत्तर दिया—"देवका अभिपारग नामक मुख्य मंत्री है। उसका वह घर है और उसीकी वह पत्नी है। वह किरीटवत्सकी बेटी है, उसका नाम है उन्मादयन्ती।" जब राजाने यह सुना तब 'दूसरेकी स्त्री है' यह सोचकर उनका हृदय भारी हो गया, चिन्तासे उनकी आँखें स्थिर हो गई। उन्होंने लम्बी और गर्म साँसें लेकर उसीका ध्यान करते हुए धीरे-धीरे मनमें कहा—

"इस शुभ्र मुसकानवालीका जो यह उन्मादयन्ती नाम है वह यथार्थमें मधुर और कोमल है, इसने मुझे मानो पागल बना दिया है। ॥ १२ ॥

मै इसे विसरना चाहता हूँ, किंतु इसे चित्तसे देख रहा हूँ। उसमें मेरा मन समा गया है या उसने मेरे मनपर अधिकार कर लिया है। ॥१३॥

दूसरेकी स्त्रीके लिए मै इतना अधीर हूँ? आज लज्जा और निद्रासे परित्यक्त होकर मै पागल हो गया हूँ। ॥ १४ ॥

उसके रूप हाव-भाव मुसकान और चितवनमें मै ध्यान-मग्न रहता हूँ तब अन्य कार्य-क्रमकी सूचना देनेमें प्रगल्भ यह काल-नालिका[१] (=घण्टी) हठात् ही बजकर मेरे मनमें क्रोध उत्पन्न करती है।" ॥ १५ ॥

जब कामकी शक्तिने राजाके धैर्यको विचलित कर दिया तब अपनेको स्थिर (रखनेकी कोशिश) करते हुए भी उनका शरीर दुबला-पतला और पीला हो गया, वे ध्यान-मग्न (चिन्तित) रहने लगे, लम्बी साँसें और जँभाइयाँ लेने लगे, उनमें कामके चिह्न स्पष्ट दिखाई पड़े।

बड़े धैर्य (=यत्न) से छिपाने पर भी राजाका मानसिक विकार चिन्ताओंके कारण निश्चल आँखोंवाले चेहरेसे और शारीरिक कृशतासे प्रकट हो गया। ॥ १६ ॥

अभिपारग नामक अमात्य बाहरी चिह्नोंसे भीतरी अभिप्राय[२] जाननेमें निपुण था। जब उसने कारण-सहित राजाका वृत्तान्त जान लिया तब स्नेह-वश उसे राजाके अनिष्टकी आशंका हुई। कामकी शक्ति कितनी अधिक होती है, यह जानते हुए, उसने राजाको सूचित कर, एकान्तमें उनके समीप पहुँचकर, उनसे आज्ञा लेकर निवेदन किया—

अद्यार्चयन्तं नरदेव देवान्साक्षादुपेत्याम्बुरुहाक्ष यक्षः।
मामाह नावैषि नृपस्य कस्मादुन्मादयन्त्यां हृदयं निविष्टम् ॥१७॥

इत्येवमुक्त्वा सहसा तिरोऽभूद्विमर्शवानित्यहमभ्युपेतः।
तच्चेत्तथा देव किमेतदेवमस्मासु ते निष्प्रणयत्वमौनम् ॥१८॥

तत्प्रतिग्रहीतुमेनामर्हति मदनुग्रहार्थं देव इति। अथ राजा प्रत्यादेशाल्लज्जावनतवदनो मदनवशगतोऽपि स्वभ्यस्तधर्मसंज्ञत्वादविक्लवीभूतधैर्यः प्रत्याख्यानविशदाक्षरमेनमुवाच। नैतदस्ति। कुतः।

पुण्याच्च्युतः स्याममरो न चास्मि विद्याच्च नः पापमिदं जनोऽपि।
तद्विप्रयोगाच्च मनो ज्वलंस्त्वां वह्निः पुरा कक्षमिव क्षिणोति ॥१९॥

यच्चोभयोरित्यहितावहं[1] स्याल्लोके परस्मिन्निह चैव कर्म।
तद्यस्य हेतोरबुधा भजन्ते तस्यैव हेतोर्न बुधा भजन्ते ॥२०॥

अभिपारग उवाच। अलमत्र देवस्य धर्मातिक्रमाशङ्कया।

दाने साहाय्यदानेन धर्म एव भवेत्तव।
दानविघ्नात्त्वधर्मः स्यात्तां मत्तोऽप्रतिगृह्णतः ॥२१॥

कीर्त्युपरोधावकाशमपि चात्र देवस्य न पश्यामि। कुतः।

आवाभ्यामिदमन्यश्च क एव ज्ञातुमर्हति।
जनापवादादाशङ्कामतो मनसि मा कृथाः ॥२२॥

---

१ पा० 'यच्चोभयोरत्यहितावहं'।

"हे राजन्, हे कमलनयन, आज जब कि मैं देव-पूजन कर रहा था तब साक्षात् यक्षने मेरे समीप आकर मुझसे कहा—'राजाका हृदय उन्मादयन्तीमें प्रविष्ट हो चुका है, यह तुम्हे विदित नहीं, सो क्यों ? ॥ १७ ॥

इतना कहकर वह तुरंत अदृश्य हो गया। यही सोचता विचारता मैं यहाँ आया हूँ। यदि यह सच है तो आप हमसे रुष्ट होकर इस प्रकार चुप क्यों है ? ॥ १८ ॥

अतः मेरे ऊपर अनुग्रह करनेके लिए देव उसे ग्रहण करें।" यह अपमान सुनकर राजाने लज्जासे अपना मुख नीचे कर लिया। कामके वशीभूत होकर भी धर्माभ्यास के कारण उनका धैर्य नष्ट नहीं हुआ। उन्होंने अस्वीकार-सूचक स्पष्ट शब्दोंमें कहा—"यह हो नहीं सकता। क्यों ? इसलिए कि—

मेरा पुण्य क्षीण होगा, (मैं जानता हूँ कि) मैं अमर नहीं हूँ, लोगोंको भी मेरा यह पाप विदित होगा। उसके वियोगसे होनेवाला संताप तुम्हारे चित्तको जलाकर तुम्हें तुरत नष्ट कर डालेगा, जैसे अग्नि सूखे तृणको जलाकर भस्म कर देता है। ॥ १९ ॥

जो कर्म उभयलोकमें—इहलोक और परलोकमें—अत्यन्त अनिष्टकर है उस कर्मको जिस (काम-सुखके) हेतुसे मूर्ख करते है उस कर्मको उसी (काम-सुखके) हेतुसे विद्वान् नहीं करते।" ॥ २० ॥

अभिपारगने कहा—"इसमें धर्मका अतिक्रमण (उलंघन) होगा, देव यह आशंका न करें।

(स्त्री-) दानमें सहायता करनेसे आपको धर्म ही होगा। किंतु यदि आप मुझसे उसे ग्रहण नहीं करते तो इस प्रकार दानमें विघ्न डालनेसे आपको अधर्म होगा। ॥ २१ ॥

इसमें आपकी अपकीर्ति होगी, इसकी भी कोई संभावना मैं नहीं देखता हूँ। इसलिए कि—

हम दोनोंको छोड़कर दूसरा कौन इसे जानेगा ही ? अतः आप अपने मनमें लोक-निन्दाकी आशंका न करें। ॥ २२ ॥

अनुग्रहश्चैष मम स्यान्न पीडा। कुतः।

स्वाम्यर्थचर्यार्जितया हि तुष्ट्या निरन्तरे चेतसि को विघातः।
यतः सुकामं[1] कुरु देव काममलं मदुत्पीडनशङ्कया ते ॥२३॥

राजोवाच। शान्तं पापम्।

व्यक्तमस्मदतिस्नेहान्न त्वयैतदपेक्षितम्।
यथा दाने न सर्वस्मिन्साचिव्यं धर्मसाधनम् ॥२४॥
यो मदर्थमतिस्नेहात्स्वान् प्राणानपि नेक्षते।
तस्य बन्धुविशिष्टस्य सख्युर्भार्या सखी मम ॥२५॥

तदयुक्तं मामतीर्थे प्रतारयितुम्। यदपि चेष्टं नैतदन्यः कश्चिज्ज्ञास्यतीति किमेवमिदमपापं स्यात्।

अदृश्यमानोऽपि हि पापमाचरन्विषं निषेव्येव कथं समृध्नुयात्।
न तं न पश्यन्ति विशुद्धचक्षुषो दिवौकसश्चैव नराश्च योगिनः ॥२६॥

किं च भूयः।

श्रद्दधीत क एतच्च यथासौ तव न प्रिया।
तां परित्यज्य सद्यो वा विघातं न समाप्नुयाः ॥२७॥

अभिपारग उवाच।

सपुत्रदारो दासोऽहं स्वामी त्वं दैवतं च मे।
दास्यामस्यां यतो देव कस्ते धर्मव्यतिक्रमः ॥२८॥

यदपि चेष्टं प्रिया ममेयमिति किम्।

मम प्रिया कामद काममेषा तेनैव दित्सामि च तुभ्यमेनाम्।
प्रियं हि दत्त्वा लभते परत्र प्रकर्षरम्याणि जनः प्रियाणि ॥२९॥

यतः प्रतिगृह्णात्वेवैनां देव इति ॥ राजोवाच। मा मैवम्। अक्रम एषः। कुतः।

---

१ पा० 'सकामं'।

और, यह तो मेरे ऊपर अनुग्रह ही होगा। पीड़ा कहाँसे होगी? क्यों? इसलिए कि—

स्वामीकी सेवासे उपार्जित संतोषसे परिपूर्ण हृदयमें पीड़ाके लिए स्थान ही कहाँ है? अतः देव कामको सफल करें। मुझे पीड़ा होगी, यह आशंका आप न करें।" ॥ २३ ॥

राजाने कहा—"पापका नाश हो। कुविचारका अन्त हो।

स्पष्ट ही मेरे प्रति अत्यन्त स्नेहके कारण तुमने यह नहीं सोचा कि सब प्रकारके दानमें सहायता करना धर्मोदयिक (श्रेयस्कर) नही है। ॥ २४ ॥

जो अति स्नेहके कारण मेरे लिए अपने प्राणोंकी भी परवाह नहीं करता बन्धुसे भी बढ़े हुए उस मित्रकी पत्नी मेरा मित्र ही है। ॥ २५ ॥

अतः मुझे पाप-कर्ममें फँसाना अनुचित है। और, यह सोचना कि दूसरा कोई इसे न जानेगा तो क्या यह इस प्रकार पाप न होगा?

जैसे विष पीकर कोई आदमी मोटा-ताजा नही हो सकता उसी प्रकार छिपकर भी पाप करनेवाला मनुष्य समृद्धिशाली नही हो सकता। उस (पाप करनेवाले) को दिव्य-चक्षु देवगण और निर्मलदृष्टि योगिगण नहीं देखते, यह हो नहीं सकता।

और यह कि

कौन यह विश्वास करेगा कि वह तुम्हारी प्रियतमा (प्रेमास्पद) नहीं है या उसका परित्याग कर तुम सद्यः पीड़ा (या विनाश) को न प्राप्त होगे?" ॥२७॥

अभिपारगने कहा—"अपने बच्चों और स्त्रीके साथ मैं आपका दास हूँ, आप मेरे स्वामी और देवता हैं। अतः इस दासी (को ग्रहण करने) में आपके द्वारा क्या धर्म-अतिक्रमण (धर्मोल्लंघन) होगा? ॥ २८ ॥

यह सोचना कि वह मेरी प्रियतमा है तो इससे क्या? हे कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले, अवश्य ही वह मेरी प्रियतमा है, इसीसे तो मैं उसे आपको देना चाहता हूँ। क्योंकि प्रिय वस्तु देकर मनुष्य परलोकमें अत्यन्त रमणीय प्रिय वस्तु प्राप्त करता है। ॥२९॥

अतः देव उसे स्वीकार करें ही।" राजा ने कहा—"नहीं, यह नहीं होगा। यह अनुचित है। क्यों?

अहं हि शस्त्रं निशितं विशेयं हुताशनं विस्फुरदर्चिषं वा।
न त्वेव धर्मादधिगम्य लक्ष्मीं शक्ष्यामि तत्रैव पुनः प्रहर्तुम् ॥३०॥

अभिपारग उवाच। यद्येनां मद्भार्येति देवो न प्रतिग्रहीतुमिच्छत्ययमहमस्याः सर्वजनप्रार्थनाविरुद्धवेश्याव्रतमादिशामि। तत एनां देवः प्रतिगृह्णीयादिति। राजोवाच। किमुन्मत्तोऽसि।

अदुष्टां संत्यजन्भार्यां मत्तो दण्डमवाप्नुयाः।
स धिग्वादास्पदीभूतः परत्रेह च धक्ष्यसे ॥३१॥

तदलमकार्यनिर्बन्धितया। न्यायाभिनिवेशी भवेति॥ अभिपारग उवाच।

धर्मात्ययो मे यदि कश्चिदेवं जनापवादः सुखविप्लवो वा।
प्रत्युद्गमिष्याम्युरसा तु तत्तत्त्वत्सौख्यलब्धेन मनःसुखेन ॥३२॥

त्वत्तः परं चाहवनीयमन्यं लोके न पश्यामि महीमहेन्द्र।
उन्मादयन्ती मम पुण्यवृद्ध्यै तां दक्षिणामृत्विगिव प्रतीच्छ ॥३३॥

राजोवाच। काममस्मदतिस्नेहादनवेक्षितात्महिताहितक्रमो मदर्थचर्यासमुद्योगस्तवायम्। अत एव तु त्वां विशेषतो नोपेक्षितुमर्हामि। नैव खलु लोकापवादनिःशङ्केन भवितव्यम्। पश्य।

लोकस्य यो नाद्रियतेऽपवादं धर्मानपेक्षः परतः फलं वा।
जनो न विश्वासमुपैति तस्मिन्ध्रुवं च लक्ष्म्यापि विवर्ज्यते सः ॥३४॥

एतस्त्वां ब्रवीमि।

मा ते रोचिष्ट धर्मस्य जीवितार्थे व्यतिक्रमः।
निःसंदिग्धमहादोषः ससंदेहकृशोदयः ॥३५॥

मैं तीक्ष्ण शस्त्रपर भले ही गिर पड़ूँ (और मृत्युका आलिङ्गन करूँ) या प्रज्व-लित ज्वालाओंवाले अग्निमें प्रवेश करूँ, किंतु मैंने जिस धर्मसे (जिस धर्म-मार्गपर चलकर) लक्ष्मीको प्राप्त किया है उसीपर पुनः प्रहार न कर सकूँगा।" ॥ ३० ॥

अभिपारगने कहा—"यदि देव इसे मेरी पत्नी समझकर ग्रहण नहीं करना चाहते, तो मैं इसे वेश्या-वृत्ति ग्रहण करनेके लिए आदेश दूँगा, जब सब लोग उसे पानेकी इच्छा कर सकेंगे। अतः देव उसे ग्रहण करें।"

राजाने कहा—"क्या पागल हो गये हो?"

निर्दोष पत्नीका परित्याग करनेपर मुझसे दण्ड पाओगे और निन्दाका पात्र होकर इहलोक और परलोकमें जलोगे (संताप पाओगे)। ॥ ३१ ॥

अतः अकार्यके लिए आग्रह मत करो। न्यायके लिए आग्रह करो।"

अभिपारगने कहा—

"यदि ऐसा करनेमें मेरे द्वारा धर्मका अतिक्रमण हो, मेरी लोक-निन्दा हो, या मेरे सुखमें बाधा हो, तो मैं इन सबका हृदयसे स्वागत करूँगा इसलिए कि आपको होनेवाले सुखसे मुझे मानसिक शान्ति मिलेगी। ॥ ३२॥

हे पृथ्वीपति, मेरे लिए आपसे बढ़कर दूसरा कोई पूज्य[1] नही है। मेरी पुण्य-वृद्धिके लिए आप पुरोहित की तरह दक्षिणामें उस उन्मादयन्तीको ग्रहण करें।" ॥ ३३ ॥

राजाने कहा—"निस्सन्देह मेरे प्रति अति स्नेहके कारण अपने हित-अहितका विचार न कर तुम मेरे उपकारके लिए यह उद्योग कर रहे हो। इसी लिए किसी प्रकार भी मैं तुम्हारी उपेक्षा नही कर सकता। तुम्हें लोक-निन्दासे लापरवाह नहीं होना चाहिए। देखो—

जो धर्मकी उपेक्षा कर लोक-निन्दा या पारलौकिक फलकी परवाह नहीं करता लोग उसपर विश्वास नहीं करते और निश्चित है कि वह लक्ष्मीसे[2] भी परित्यक्त (वञ्चित) होगा। ॥ ३४ ॥

अतः मैं तुम्हें कहता हूँ—

तुम्हें जीवनके लिए धर्मका अतिक्रमण न रुचे। निस्सन्देह उसमें महादोष है, उससे थोड़ा-सा भी लाभ होना संदिग्ध है। ॥ ३५ ॥

किं च भूयः ।

निन्दादिदुःखेषु परान्निपात्य नेष्टा सतामात्मसुखप्रवृत्तिः ।
एकोऽप्यनुत्पीड्य परानतोऽहं धर्मे स्थितः स्वार्थधुरं प्रपत्स्ये ॥३६॥

अभिपारग उवाच । स्वाम्यर्थं भक्तिवशेन चरतो मम तावदत्र क एवाधर्मावकाशः स्याद्देवस्य वा दीयमानामेनां प्रतिगृह्णतः । यतः सनैगमजानपदाः शिबयः किमत्राधर्म इति ब्रूयुः । तत् प्रतिगृह्णात्वेवैनां देव इति ॥ राजोवाच । अद्धा मदर्थचर्याप्रणयिमतिर्भवान् । इदं त्वत्र चिन्तयितव्यम् । सनैगमजानपदानां वा शिबीनां तव मम वा कोऽस्माकं धर्मवित्तम इति ॥ अथाभिपारगः ससंभ्रमो राजानमुवाच ।

वृद्धोपसेवासु कृतश्रमत्वाच्छ्रुताधिकारान्मतिपाटवाच्च ।
त्रिवर्गविद्यातिशयार्थतत्त्वं त्वयि स्थितं देव बृहस्पतौ च ॥३७॥

राजोवाच । तेन हि न मामत्र प्रतारयितुमर्हसि । कुतः ।

नराधिपानां चरितेष्वधीनं लोकस्य यस्मादहितं हितं च ।
भक्तिं प्रजानामनुचिन्त्य तस्मात्कीर्तिक्षमे सत्पथ एव रंस्ये ॥३८॥

जिह्मं शुभं वा वृषभप्रचारं गावोऽनुगा यद्वदनुप्रयान्ति ।
उत्क्षिप्तशङ्काङ्कुशनिर्विघट्टं प्रजास्तथैव क्षितिपस्य वृत्तिम् ॥३९॥

अपि पश्यतु तावद्भवान् ।

आत्मानमपि चेच्छक्तिर्न स्यात्पालयितुं मम ।
का न्ववस्था जनस्यास्य मत्तो रक्षाभिकाङ्क्षिणः ॥४०॥

इति प्रजानां हितमीक्षमाणः स्वं चैव धर्मं विमलं यशश्च ।
नेच्छामि चित्तस्य वशेन गन्तुमहं हि नेता वृषवत्प्रजानाम् ॥४१॥

और यह कि—

दूसरोंको (लोक–) निन्दा आदिके दुःखमें डालकर सज्जन अपने लिए सुख नहीं चाहते। अतः मैं दूसरोंको उत्पीड़ित न कर, अकेला भी धर्ममें स्थिर रहकर अपना कार्य-भार वहन करूँगा (अपना लक्ष्य सिद्ध करूँगा)।" ॥३६॥

अभिपारगने कहा—"यदि स्वामीके लिए भक्ति-भावसे मैं ऐसा आचरण करूँ या मेरे देनेपर स्वामी उसे स्वीकार करें तो इसमें अधर्मके लिए स्थान ही कहाँ है ? नगरों और ग्रामोंमें रहनेवाले शिबि ही बतलायें कि इसमें क्या अधर्म है। अतः देव इसे स्वीकार करें ही।"

राजाने कहा—"सच है कि आप मेरे उपकारमें दत्तचित्त हैं। किन्तु इसमें यह सोचिये कि नगरों और ग्रामोंमें रहनेवाले शिबियों, आपके और मेरे बीच सबसे बड़ा धर्मज्ञ कौन है।"

अभिपारगने शीघ्र ही राजासे कहा—

"आपने परिश्रमपूर्वक वृद्धोंकी उपासना की है, आपकी बुद्धि सूक्ष्म है, आप शास्त्रके अधिकारी है, अतः तीनो[1] विद्याओंका सम्यक् ज्ञान आपमें है और बृहस्पतिमें है।" ॥ ३७ ॥

राजाने कहा—"इसलिए इस विषयमें आप मुझे पथभ्रष्ट नही कर सकते। क्योंकि—

प्रजाओंका हित-अहित राजाओंके चरितपर निर्भर है। अतः प्रजाओंकी राज-भक्तिका विचार करते हुए मै कीर्ति-दायक सन्मार्गमें ही रमूँगा। ॥३८॥

साँड़ सीधा चले या टेढ़ा (सुमार्गसे चले या कुमार्गसे) उसकी अनुगामिनी गाएँ उसीके पीछे पीछे चलती हैं, उसी प्रकार प्रजाएँ निश्शंक और अविचल होकर राजाके आचरणका अनुकरण करती हैं। ॥ ३९ ॥

आप यह भी देखें कि—

यदि अपनी भी रक्षा करनेकी शक्ति मुझमें न हो तो मुझसे रक्षा चाहनेवाली मेरी प्रजाओंकी क्या अवस्था होगी? ॥ ४०॥

अतः प्रजा-हित, स्वधर्म और अपनी विमल कीर्तिको देखते हुए मैं अपने चित्तके वशमें होकर नहीं चलना चाहता हूँ (स्वेच्छाचारी नहीं बनना चाहता हूँ), क्योंकि मैं (गवां-पति) साँड़के समान लोक-नेता हूँ।" ॥४१॥

अथाभिपारगोऽमात्यस्तेन राज्ञोऽवस्थानेन प्रसादितमनाः प्रणम्य राजानं प्राञ्जलिरित्युवाच।

अहो प्रजानामतिभाग्यसंपद्यासां त्वमेवं नरदेव गोप्ता।
धर्मानुरागो हि सुखानपेक्षस्तपोवनस्थेष्वपि मृग्य एव ॥४२॥

महच्छब्दो महाराज त्वय्येवायं विराजते।
विगुणेषु गुणोक्तिर्हि क्षेपरूक्षतराक्षरा ॥४३॥

विस्मयोऽनिभृतत्वं वा किं ममैतावता त्वयि।
समुद्र इव रत्नानां गुणानां यस्त्वमाकरः ॥४४॥

तदेवं तीव्रदुःखातुराणामपि सतां नीचमार्गनिष्प्रणयता भवति स्वधैर्यावष्टम्भात्स्वभ्यस्तधर्मसंज्ञत्वाच्चेति धैर्यधर्माभ्यासे च योगः कार्य इति ॥

इत्युन्मादयन्तीजातकं त्रयोदशम्।

१४ सुपारगजातकम्

धर्माश्रयं सत्यवचनमप्यापदं नुदति प्रागेव तत्फलमिति धर्मानुवर्तिना भवितव्यम्। तद्यथानुश्रूयते।

बोधिसत्त्वभूतः किल महासत्त्वः परमनिपुणमतिर्नौसारथिर्बभूव। धर्मता ह्येषा बोधिसत्त्वानां प्रकृतिमेधावित्वाद्यद्युत यं यं शास्त्रातिशयं जिज्ञासन्ते कलाविशेषं वा तस्मिंस्तस्मिन्नधिकतरा भवन्ति मेधाविनो जगतः। अथ स महात्मा विदितज्योतिर्गतित्वाद्दिग्विभागेष्वसंमूढमतिः परिविदितनियतागन्तुकौत्पातिकनिमित्तः कालाकालक्रमकुशलो मीनतोयवर्णभौमप्रकारशकुनिपर्वतादिभिश्चिह्नैः सूपलक्षितसमुद्रदेशः स्मृति-

राजाके इस प्रकार स्थिर होनेपर अमात्य अभिपारगने प्रसन्नचित्तसे राजाको प्रणाम किया और हाथ जोड़कर कहा—

"अहो, इन प्रजाओंका बड़ा सौभाग्य है, जिनके कि, हे राजन्, आप ऐसे रक्षक हैं। सुखकी उपेक्षा कर धर्मसे अनुराग करना, यह तो तपोवनके रहनेवालोंमें भी खोजना ही पड़ेगा। ॥ ४२ ॥

हे महाराज, यह 'महा' शब्द आपमें ही शोभित हो रहा है; क्योंकि जो गुण-हीन हैं उनमें यदि गुणका होना कहा जाय तो यह निन्दाका कठोर वचन होगा। ॥ ४३ ॥

आपके इस कार्यसे मैं क्यों विस्मित और चकित होऊँ? आप तो गुणोंके निधि हैं, जैसे कि समुद्र रत्नोंका आकर है।" ॥ ४४ ॥

तब इस प्रकार तीव्र पीड़ासे पीड़ित होकर भी सत्पुरुष अपने धैर्यकी स्थिरता और धर्माभ्यासके कारण नीच मनुष्योके मार्गपर चलना पसन्द नहीं करते, यह जानकर धैर्य और धर्मके अभ्यासमें उद्योग करना उचित है।

उन्मादयन्ती—जातक त्रयोदश समाप्त।

---

१४ सुपारग-जातक

धर्मका आश्रय लेकर[1] कहा गया सत्यवचन भी विपत्तिको टालता है, फिर धर्माचरणके फल का क्या कहना? इसलिए धर्माचरण करना ही चाहिए। यह बात इस अनुश्रुति (=कथा) से प्रमाणित होगी।

एक बार बोधिसत्त्व महापुरुष अत्यन्त निपुण नौ-सारथि (=नाविक) हुए। प्रकृतिसे मेधावी होनेके कारण बोधिसत्त्वोंका यह स्वभाव है कि वे जिस किसी शास्त्र या कलाका ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं उसमें दूसरे लोगोंसे अधिक प्रवीण हो जाते हैं। वह महात्मा ग्रहों और नक्षत्रोंकी गति-को जानते थे, इसलिए उन्हें दिग्भ्रम नहीं होता था। अवश्य आनेवाले उत्पातोंके लक्षणोंको अच्छी तरह जानते थे, इसलिए सुकाल और दुष्काल-की पहचान करनमें कुशल थे। मछली पानीका रंग भूमि-प्रकार पक्षी पर्वत आदि चिह्नोंसे समुद्र-प्रदेश (की अच्छाई या बुराई) का पता लगा लेते

मान्विजिततन्द्रीनिद्रः शीतोष्णवर्षादिपरिखेदसहिष्णुरप्रमादी धृतिमानाहरणापहरणकुशलत्वादीप्सितं देशं प्रापयिता वणिजामासीत्। तस्य परमसिद्धयात्रत्वात्सुपारग इत्येव नाम बभूव। तदध्युषितं च पत्तनं सुपारगमित्येवाख्यातमासीत्। यदेतर्हि सूपारगमिति ज्ञायते। सोऽपि मङ्गलसम्मतत्वाद् वृद्धत्वेऽपि सांयात्रिकैर्यात्रासिद्धिकामैर्वहनमभ्यर्थनसत्कारपुरःसरमारोप्यते स्म।

अथ कदाचिद्भरुकच्छादभिप्रयाताः सुवर्णभूमिवणिजो यात्रासिद्धिकामाः सुपारगं पत्तनमुपेत्य तं महासत्त्वं वहनारोहणार्थमभ्यर्थयामासुः। स तानुवाच—

जराज्ञया संह्रियमाणदर्शने श्रमाभिपातैः प्रतनूकृतस्मृतौ।
स्वदेहकृत्येऽप्यवसन्नविक्रमे सहायता का परिशङ्क्यते मयि॥ १॥

वणिज ऊचुः। विदितेयमस्माकं युष्मच्छरीरावस्था। सत्यपि च वः पराक्रमासहत्वे नैवं वयं कर्मविनियोगेन युष्मानायासयितुमिच्छामः। किं तर्हि।

त्वत्पादपङ्कजसमाश्रयसत्कृतेन
मङ्गल्यतामुपगता रजसा त्वियं नौः।
दुर्गे महत्यपि च तोयनिधावमुष्मि-
न्स्वस्ति व्रजेदिति भवन्तमुपागताः स्मः॥ २॥

अथ स महात्मा तेषामनुकम्पया जराशिथिलशरीरोऽपि तद्वहनमारुरोह। तदधिरोहणाच्च प्रमुदितमनसः सर्व एव ते वणिजो बभूवुर्नियतमस्माकमुत्तमा यात्रासिद्धिरिति। क्रमेण चावजगाहिरे विविधमीन-

थे। जागरूक रहते थे। आलस्य और नीन्दको जीत लिया था । सर्दी गर्मी वर्षा आदिसे होनेवाले कष्टको सह सकते थे। प्रमाद-रहित (=सावधान) और धीर थे। आहरण और अपहरणमें[१] कुशल होनेके कारण व्यापारियोंको उनके अभीष्ट देशमें पहुँचा देते थे। (समुद्र-) यात्रामें उन्हें परम सिद्धि प्राप्त होनेके कारण उनका नाम सुपारग हुआ। और, वह जिस नगरमें रहते थे वह भी सुपारग ही कहलाता था, जो आज 'सूपारग' के नामसे विख्यात है। (समुद्र-) यात्रामें सफलता चाहनेवाले सामुद्रिक व्यापारी[२] मङ्गलमय होनेके कारण बुढ़ापेमें भी सुपारगको अनुनय और आदरके साथ अपने अपने जल-यानमें चढ़ा लेते थे।

एक बार सुवर्ण-भूमिके बनियोंने भरूकच्छसे प्रस्थान किया और यात्राको सफल करनेकी इच्छासे सुपारग-नगरमें पहुँचकर उस महापुरुषसे अपने जहाज पर चढ़नेके लिए अनुरोध किया। उसने उन्हें कहा—

"बुढ़ापेके कारण मेरी दृष्टि हरण हो रही है, थकावटके कारण मेरी स्मृति क्षीण हो गई है। अपने शरीरसे किये जाने वाले कार्योंको करनेमें भी मै असमर्थ हूँ। मुझसे किस सहायताकी आप आशा करते हैं?" ॥ १ ॥

बनियोंने कहा—"आपकी यह शारीरिक अवस्था हमें विदित है। आप पराक्रम (शारीरिक कार्य) करनेमें असमर्थ है। हम आपको ऐसा कोई कार्य सौंपकर कष्ट नही देना चाहते हैं।

तो क्या?

(यही कि) आपके चरण-कमलोंके सम्पर्कसे पवित्र हुई धूलसे मङ्गलमय होकर हमारी यह नाव इस दुर्गम महासमुद्रमें भी[३] सकुशल चले, इसीलिए हम आपके समीप आये है।" ॥ २ ॥

तब वह महात्मा बुढ़ापेके कारण शिथिलशरीर होनेपर भी उन व्यापारियोंपर अनुग्रह करते हुए उनके जल-पोतपर चढ़ गये। उनके चढ़नेसे वे सभी व्यापारी अत्यन्त प्रसन्न हुए और मनमें सोचने लगे कि इस यात्रामें हमें अच्छी सफलता मिलेगी। वे क्रमसे असुरोंकी नाग-सेनाके निवास-स्थान,

कुलविचरितमनिभृतजलकलकलारावमनिलबलविलासप्रविचलिततरङ्गं बहुविधरत्नैर्भूमिविशेषैरर्पितरङ्गं फेनावलीकुसुमदामविचित्रमसुरबल-भुजगभवनं दुरापपातालमप्रमेयतोयं महासमुद्रम् ।

अथेन्द्रनीलप्रकराभिनीलं सूर्यांशुतापादिव खं विलीनम् ।
समन्ततोऽन्तर्हिततीरलेखमगाधमम्भोनिधिमध्यमीयुः ॥ ३ ॥

तेषां तत्रानुप्राप्तानां सायाह्नसमये मृदुभूतकिरणचक्रप्रभावे सवितरि महदौत्पातिकं परमभीषणं प्रादुरभूत् ।

विभिद्यमानोर्मिविकीर्णफेनश्चण्डानिलास्फालनभीमनादः ।
नैभृत्यनिर्मुक्तसमग्रतोयः क्षणेन रौद्रः समभूत्समुद्रः ॥ ४ ॥

उत्पातवाताकलितैर्महद्भिस्तोयस्थलैर्भीमरयैर्भ्रमद्भिः ।
युगान्तकालप्रचलाचलेव भूमिर्बभूवोग्रवपुः समुद्रः ॥ ५ ॥

विद्युल्लतोद्भासुरलोलजिह्वा नीला भुजङ्गा इव नैकशीर्षाः ।
आवव्रुरादित्यपथं पयोदाः प्रसक्तभीमस्तनितानुनादाः ॥ ६ ॥

घनैर्घनैरावृतरश्मिजालः सूर्यः क्रमेणास्तमुपारुरोह ।
दिनान्तलब्धप्रसरं समन्तात्तमो घनीभावमिवाजगाम ॥ ७ ॥

धाराशरैराच्छुरितोर्मिचक्रे महोदधावुत्पततीव रोषात् ।
भीतेव नौरभ्यधिकं चकम्पे विषादयन्ती हृदयानि तेषाम् ॥ ८ ॥

ते त्रासदीनाश्च विषादमूका धीराः प्रतीकारससम्भ्रमाश्च ।
स्वदेवतायाचनतत्पराश्च भावान्यथासत्त्वगुणं विवव्रुः ॥ ९ ॥

अतल-स्पर्श और असीम-जल-राशि महा-समुद्रमें पहुँचे, जहाँ अनेक प्रकारकी मछलियाँ विचरण कर रही थी, अशान्त जल-कलकल हो रहा था और वायु-के वेगसे तरङ्गें चञ्चल हो रही थीं। वह समुद्र अनेक प्रकारके रत्नोंसे परिपूर्ण स्थलोंसे रंग गया था और फेनावली रूपी फूलोंकी मालाओंसे सुशोभित हो रहा था।

तब वे समुद्रके अथाह मध्यभागमें पहुँचे। चारों ओर कही किनारा दिखाई नहीं पड़ता था। वह मध्यभाग इन्द्रनीलनामक मणियोके समान नीले रंगका था; जान पड़ता था जैसे सूर्यकी किरणोंसे पिघला हुआ आकाश हो। ॥ ३ ॥

जब वे वहाँ पहुंचे हुए थे तब सायंकालमें सूर्यकी किरणों के कोमल होने पर किसी भारी उत्पातका लक्षण उत्पन्न हुआ।

(उत्ताल) तरंगोंके टूटनेसे (चारों ओर) फेन फैल गया। प्रचण्ड वायु-के चलनेसे भयंकर शब्द होने लगा। (नीचेसे ऊपरतक) सारा जल आन्दो-लित हो उठा। एक ही क्षणमें समुद्रने रौद्र रूप धारण कर लिया। ॥ ४ ॥

तूफान द्वारा सञ्चालित बड़ी बड़ी जल-राशियाँ भयंकर वेगसे चक्कर काटने लगीं। प्रलय-कालमें काँपते हुए पर्वतोंसे युक्त पृथ्वीके समान समुद्रने उग्र रूप धारण कर लिया। ॥ ५ ॥

बिजलीके समान चमकीली और चञ्चल जिह्वाओं वाले, अनेक मस्तकों से युक्त, कृष्ण सर्पो के समान बिजलीसे युक्त काले बादलोंने सूर्य-मार्ग (=आकाश)को आच्छादित कर लिया और लगातार घोर गर्जन किया। ॥ ६ ॥

घने बादलोंमें जिसकी किरणें छिप गईं वह सूर्य धीरे धीरे अस्त हुआ। दिवसके अन्तमें चारों ओर फैला हुआ अन्धकार अत्यन्त गाढ़ा हो गया (या मेघमें ही मिल गया)। ॥ ७ ॥

जल-धारा रूपी तीरोंसे तरंगोंके विद्ध होनेपर समुद्र मानो क्रोधसे ऊपर उठने लगा। जहाज मानो भय-भीत होकर काँपने लगा और उन यात्रियोंके हृदयोंको शोकाकुल कर दिया। ॥ ८ ॥

वे धीर पुरुष भयसे कातर, शोकसे चुप, और (विपत्तिका) प्रतीकार करनेमें घबड़ाये हुए थे। अपने देवताओंको मनाते हुए उन्होंने अपने अपने सत्त्वगुण (= स्वभाव) के अनुसार आन्तरिक भाव प्रकट किये। ॥ ९ ॥

अथ ते सांयात्रिकाः पवनबलचलितसलिलवेगवशगया नावा परिभ्रम्यमाणा बहुभिरप्यहोभिर्नैव कुतश्चित्तीरं ददृशुर्न च यथेप्सितानि समुद्रचिह्नानि। अपूर्वैरेव तु समुद्रचिह्नैरभिवर्धमानवैमनस्या भयविषादव्याकुलतामुपजग्मुः। अथैतान्सुपारगो बोधिसत्त्वो व्यवस्थापयन्नुवाच। अनाश्चर्यं खलु महासमुद्रमध्यमवगाढानामौत्पातिकक्षोभपरिक्लेशः। तदलमत्रभवतां विषादानुवृत्त्या। कुतः।

नापत्प्रतीकारविधिर्विषादस्तस्मादलं दैन्यपरिग्रहेण।
धैर्यात्तु कार्यप्रतिपत्तिदक्षाः कृच्छ्राण्यकृच्छ्रेण समुत्तरन्ति ॥१०॥
विषाददैन्यं व्यवधूय तस्मात्कार्यावकाशं क्रियया भजध्वम्।
प्राज्ञस्य धैर्यज्वलितं हि तेजः सर्वार्थसिद्धिग्रहणाग्रहस्तः ॥११॥

तद्यथाधिकारावहिता भवन्तु भवन्तः। इति ते सांयात्रिकास्तेन महात्मना धीरीकृतमनसः कूलदर्शनोत्सुकमतयः समुद्रमवलोकयन्तो ददृशुः पुरुषविग्रहानामुक्तरूप्यकवचानिवोन्मज्जतो निमज्जतश्च। सम्यक् चैषामाकृतिनिमित्तमुपधार्य सविस्मयाः सुपारगाय न्यवेदयन्त। अपूर्वं खल्विदमिह महासमुद्रे चिह्नमुपलभ्यते। एते खलु।

आमुक्तरूप्यकवचा इव दैत्ययोधा
घोरेक्षणाः खुरनिकाशविरूपघोणाः।
उन्मज्जनावतरणस्फुरणप्रसंगा-
त्क्रीडामिवार्णवजलेऽनुभवन्ति केऽपि ॥१२॥

सुपारग उवाच—नैते मानुषा अमानुषा वा मीना खल्वेते। यतो न भेतव्यमेभ्यः। किन्तु—

सुदूरपमकृष्टाः स्मः पत्तनद्वितयादपि।
खुरमाली समुद्रोऽयं तद्यतध्वं निवर्तितुम् ॥१३॥

तब हवाके जोरसे वेगपूर्वक चलते हुए जलके वशीभूत जहाजसे चक्कर काटते हुए उन व्यापारियोंने न कहीं तीर देखा और न समुद्रमें इच्छित (=शुभ) चिह्न ही देखे। इन अभूत-पूर्व (अशुभ) चिह्नोंसे उनकी उदासी बढ़ती ही गई। वे भय और विषादसे व्याकुल हो गये। तब बोधिसत्त्व सुपारगने उन्हें स्थिर करते हुए कहा—"महासमुद्रके मध्यमें पहुँचनेवालोंको उत्पात-जन्य (समुद्र–) क्षोभसे कष्ट होता ही है, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। यहाँ आप लोगोंका विषाद करना व्यर्थ है। क्योंकि—

विपत्तिका प्रतीकार करनेका उपाय विषाद करना नहीं है। इसलिए उदास होना बेकार है। जो कार्य करनेमें दक्ष हैं वे धैर्य धारण कर विपत्तियों (के सागर) को अनायास ही पार करते हैं। ॥ १० ॥

अतः विषाद और उदासीको छोड़कर आप कार्य करनेके अवसरपर कार्य करें; क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्यका धैर्य-प्रज्वलित तेज (=पराक्रम) समस्त सिद्धियोंको ग्रहण करनेके लिए हाथका अग्रभाग है। ॥ ११ ॥

'इसलिए आप लोग अपने अपने कार्यमें सावधान हो जायँ।" इस प्रकार उस महात्माके द्वारा शान्तचित्त किये जानेपर, तीर देखनेके लिए उत्सुक होकर, समुद्रकी ओर देखते हुए, उन्होंने देखा कि पुरुष-आकृतिके प्राणी जैसे चांदीके कवच पहने हुए हों और (पानीमें) उब-डूब कर रहे हों (गोते लगा रहे हों)। उनकी आकृति और लक्षणका ठीक ठीक निरूपण कर उन्होंने आश्चर्यके साथ यह (समाचार) सुपारगसे निवेदन किया। "अवश्य ही इस महासमुद्रमें यह अपूर्व लक्षण दिखाई पड़ रहा है। निश्चय ही ये कवच पहने हुए दैत्य-योद्धाओंके समान विकराल दृष्टिवाले, (चौपाये जानवरके) खुरके समान कुरूप नासिकावाले प्राणी लगातार डुबकी लगाते हुए और ऊपर उठते हुए, समुद्र-जलमें मानो क्रीड़ा कर रहे हैं।" ॥ १२ ॥

सुपारगने कहा—'ये मनुष्य या दैत्य नहीं हैं। ये हैं मछलियाँ, जिनसे डरना नहीं चाहिए। किंतु

हमलोग (बहावमें पड़कर) दोनों ही नगरोंसे बहुत आगे आ गये हैं। यह खुरमाली[1] नामक समुद्र है। अतः लौटनेकी कोशिश करें। ॥ १३ ॥

चण्डवेगवाहिना सलिलनिवहेनैकान्तहरेण च पाश्चात्येन वायुना समाक्षिप्तया नावा न ते सांयात्रिकाः शेकुर्विनिवर्तितुम्। अथावगाहमानाः क्रमेण रूप्यप्रभाभासितमनीलफेननिचयपाण्डुरमपरं समुद्रमालोक्य सविस्मयाः सुपारगमूचुः—

स्वफेनमग्नैरिव कोऽयमम्बुभिर्महार्णवः शुक्लदुकूलवानिव।
द्रवानिवेन्दोः किरणान्समुद्वहन्समन्ततो हास इव प्रसर्पति ॥१४॥

सुपारग उवाच—कष्टम्। अतिदूरं खल्ववगाह्यते।

क्षीरार्णव इति ख्यात उदधिर्दधिमाल्यसौ।
क्षमं नातः परं गन्तुं शक्यते चेन्निवर्तितुम् ॥१५॥

वणिज ऊचुः—न खलु शक्यते विलम्बयितुमपि वहनं कुत एव सन्निवर्तयितुमतिशीघ्रवाहित्वाद्वहनस्य प्रतिकूलत्वाच्च मारुतस्येति। अथ व्यतीत्य तमपि समुद्रं सुवर्णप्रभानुरञ्जितप्रचलोर्मिमालमग्निज्वालकपिलसलिलमपरं समुद्रमालोक्य विस्मयकौतूहलास्ते वणिजः सुपारगं पप्रच्छुः।

बालार्कलक्ष्म्येव कृताङ्गरागैः समुन्नमद्भिः सलिलैरनीलैः।
ज्वलन्महानग्निरिवावभाति को नाम तस्माच्च महार्णवोऽयम् ॥१६॥

सुपारग उवाच—

अग्निमालीति विख्यातः समुद्रोऽयं प्रकाशते।
अतीव खलु साधु स्यान्निवर्तेमहि यद्यतः ॥१७॥

इति स महात्मा नाममात्रमकथयत्तस्य सरित्पतेर्न तोयवैवर्ण्यकारणं दीर्घदर्शित्वात्। अथ ते सांयात्रिकास्तमपि समुद्रमतीत्य पुष्परागेन्द्रनीलप्रभोद्योतितसलिलं परिपक्वकुशवननिकाशवर्णं समुद्रमालोक्य कौतूहलजाताः सुपारगं पप्रच्छुः—

प्रचण्ड वेगसे बहनेवाली जल-राशि और भसानेवाली पाश्चात्य[1] वायुके वशीभूत था उनका जहाज। अतः वे यात्री नहीं लौट सके। तब क्रमसे भीतर प्रवेश करते हुए उन्होंने चाँदीकी चमकसे चमकते हुए तथा श्वेत फेन-पुञ्जसे उज्ज्वल दूसरे समुद्रको देखा और आश्चर्यके साथ सुपारगसे कहा—

"यह कौन महासमुद्र है? इसका जल अपने ही फेनोंसे ढका हुआ है; जान पड़ता है जैसे यह सफेद वस्त्र पहने हुए हो। चन्द्रमाकी द्रवीभूत किरणोंको धारण करता हुआ यह हास्यकी तरह चारों ओर फैल रहा है।" ॥ १४ ॥

सुपारगने कहा—"हा कष्ट! हम बहुत दूर आ गये है।

यह क्षीरसागर नामक दधिमाली (=दहीकी माला धारण करनेवाला) समुद्र है। यदि लौट सकें तो यहाँसे आगे जाना उचित नहीं है।" ॥ १५ ॥

बनियोंने कहा—"जहाज तेजीसे बहता जा रहा है और हवा प्रतिकूल है। अतः जहाजको लौटानेकी बात तो दूर रही, इसे रोकना भी शक्य नही है।"

तब उस समुद्रको भी पार कर, उन बनियोंने दूसरे समुद्रको देखा, जिसकी चञ्चल तरंगें सुनहले रंगसे रँगी हुई थीं और जिसका जल अग्नि-शिखाओंकी तरह भूरा था। उस समुद्रको देखकर उन्होंने विस्मय और कौतूहलके साथ सुपारगसे पूछा—

"बाल सूर्यकी आभासे मानो रँगा गया इसका नीलिमा-रहित जल बहुत ऊँचा उठ रहा है। महा-अग्निके समान प्रज्वलित हो रहा यह कौन महासमुद्र है? ॥ १६ ॥"

सुपारगने कहा—

"अग्निमाली नामक यह समुद्र दिखाई पड़ रहा है। बहुत अच्छा हो यदि हम यहाँसे लौट जायें।" ॥ १७ ॥

उस महात्माने उस समुद्रका केवल नाम ही बतलाया, किंतु उस दीर्घ-दर्शीने पानीके बदले हुए रंगका कारण नहीं बतलाया। तब उस समुद्रको भी पार कर उन पोत-वणिकोंने दूसरा समुद्र देखा, जिसका जल पुष्पराग और इन्द्रनीलकी जैसी प्रभासे भासित था और जिसका रंग पके हुए कुशोंके जंगलोंका-सा था। तब कौतूहलके वशीभूत होकर उन्होंने सुपारगसे पूछा—

परिणतकुशपर्णवर्णतोयः सलिलनिधिः कतमो न्वयं विभाति।
सकुसुम इव फेनभक्तिचित्रैरनिलजवाकलितैस्तरङ्गभङ्गैः ॥१८॥

सुपारग उवाच—भोः सार्थवाहा निवर्तनं प्रति यत्नः क्रियताम् न खल्वतः क्षमते परं गन्तुम्।

कुशमाली समुद्रोऽयमत्यङ्कुश इव द्विपः।
प्रसह्यासह्यसलिलो हरन्हरति नो रतिम् ॥१९॥

अथ ते वाणिजकाः परेणापि यत्नेन निवर्तयितुमशक्नुवन्तस्तमपि समुद्रमतीत्य वंशरागवैडूर्यप्रभाव्यतिकरहरितसलिलमपरं समुद्रमालोक्य सुपारगमपृच्छन्।

मरकतहरितप्रभैर्जलैर्वहति नवामिव शाद्वलश्रियम्।
कुमुदरुचिरफेनभूषणः सलिलनिधिः कतमोऽयमीक्ष्यते ॥२०॥

अथ स महात्मा तेन वणिग्जनस्य व्यसनोपनिपातेन दह्यमानहृदयो दीर्घमुष्णमभिनिश्वस्य शनैरुवाच—

अतिदूरमुपेताः स्थ दुःखमस्मान्निर्वर्तितुम्।
पर्यन्त इव लोकस्य नलमाल्येष सागरः ॥२१॥

तच्छ्रुत्वा ते वाणिजका विषादोपरुध्यमानमनसो विस्रस्यमानगात्रोत्साहा निश्वसितमात्रपरायणास्तत्रैव निषेदुः। व्यतीत्य च तमपि समुद्रं सायाह्नसमये विलम्बमानरश्मिमण्डले सलिलनिधिमिव प्रवेष्टुकामे दिवसकरे समुद्वर्तमानस्येव सलिलनिधेरशनीनामिव च सम्पततां वेणुवनानामिव चाग्निपरिगतानां विस्फुटतां तुमुलमतिभीषणं श्रुतिहृदयविदारणं समुद्रध्वनिमश्रौषुः। श्रुत्वा च सन्त्रासवशगाः स्फुरन्मनसः सहसैवोत्थाय समन्ततोऽनुविलोकयन्तो ददृशुः प्रपात इव श्वभ्र इव च महति तमुदकौघं निपतन्तं दृष्ट्वा च परमभयविषादविह्वलाः सुपारगमुपेत्योचुः।

"यह कौन समुद्र है, जिसके पानीका रंग वैसा ही है जैसा कि पके हुए कुशों (के पत्तों) का और जो (समुद्र) वायु-वेगसे उठती हुई फेनिल चित्र-विचित्र तरंग रूपी फूलोंसे सुशोभित है?" ॥ १८ ॥

सुपारगने कहा—"हे व्यापारियो, लौटनेकी कोशिश कीजिए। इससे आगे जाना उचित नही।

यह कुशमाली नामक समुद्र है। अंकुशकी परवाह नहीं करनेवाले (अनियंत्रित, मतवाले) हाथीके समान यह अपने प्रचण्ड जल-वेग से हमें बहाता हुआ हमारा आनन्द अपहरण कर रहा है।" ॥ १९ ॥

जब बहुत कोशिश करके भी वे व्यापारी नही लौट सके, तब उस समुद्रको भी पार कर उन्होंने दूसरे समुद्रको देखा, जिसका जल वंशराग और वैदूर्यकी सम्मिलित प्रभाके समान हरे रगका था। उसे देखकर उन्होने सुपारगसे पूछा—

"यह कौन समुद्र दिखाई पड़ रहा है? इसका जल मरकतमणिकी तरह हरे रंगका है। यह अभिनव तृणोंकी (श्यामल) शोभा धारण कर रहा है और कुमदकी तरह सुन्दर फेनसे विभूषित है।" ॥ २० ॥

उन व्यापारियोंके विपत्तिमें पड़नेसे उस महात्माका हृदय जलने लगा। देर तक गर्म साँसें लेते, और छोड़ते हुए उसने धीरे धीरे कहा—

"आप लोग बहुत दूर आ गये हैं। यहाँसे लौटना कठिन है। यह नलमाली नामक सागर, संसारकी मानो अन्तिम सीमा है।" ॥ २१ ॥

यह सुनकर उन व्यापारियोंके चित्त विषादसे भर गये और उनके शरीरकी स्फूर्ति नष्ट हो गई। केवल साँसें लेते और छोड़ते हुए वे वहीं बैठ गये। उस समुद्रको भी पार कर सायंकालमें जब लटकती हुई किरणोंके साथ सूर्य मानो समुद्रमें प्रवेश करना चाहता था तब जैसे समुद्रके क्षुब्ध होने (या उलटने) का, जैसे वज्र-पातोंका, जैसे अग्निकी लपेटमें पड़कर फटते हुए बाँसके जंगलोंका, श्रुति-हृदय-विदारक अतिभीषण तुमुल समुद्र-गर्जन सुनाई पड़ा। उसे सुनकर वे भयभीत हो गये, उनके चित्त विचलित हो उठे। हठात् उठकर चारों ओर दृष्टि-पात करते हुए उन्होंने देखा कि विशाल जल-राशि जैसे (पर्वतके) प्रपातमें या जैसे बड़े खन्दकमें गिर रही थी। यह देखकर वे अत्यन्त भय एवं विषादसे विह्वल हो गये और सुपारगके समीप जाकर बोले—

निर्भिन्दन्निव नः श्रुतीः प्रतिभयश्चेतांसि मथ्नन्निव
क्रुद्धस्येव सरित्पतेर्ध्वनिरयं दूरादपि श्रूयते।
भीमे श्वभ्र इवार्णवस्य निपतत्येतत्समग्रं जलं
तत्कोऽसावुदधिः किमत्र च परं कृत्यं भवान्मन्यते ॥२२॥

अथ स महात्मा ससम्भ्रमः कष्टं कष्टमित्युक्त्वा समुद्रमालोकयन्नुवाच—

यत्प्राप्य न निवर्तन्ते मृत्योर्मुखमिवामुखम्।
अशिवं समुपेताः स्थ तदेतद्वडवामुखम् ॥२३॥

तदुपश्रुत्य ते वाणिजका वडवामुखमुपेता वयमिति त्यक्तजीविताशा मरणभयविक्लवीभूतमनसः

सस्वरं रुरुदुः केचिद्विलेपुरथ चुक्रुशुः।
न किञ्चित्प्रत्यपद्यन्त केचित्त्रासविचेतसः ॥२४॥

विशेषतः केचिदभिप्रणेमुर्देवेन्द्रमार्तिप्रहतैर्मनोभिः।
आदित्यरुद्रांश्च मरुद्वसूंश्च प्रपेदिरे सागरमेव चान्ये ॥२५॥

जेपुश्च मन्त्रानपरे विचित्रानन्ये तु देवीं विधिवत्प्रणेमुः।
सुपारगं केचिदुपेत्य तत्तद्विचेष्टमानाः करुणं विलेपुः ॥२६॥

आपद्गतत्रासहरस्य नित्यं परानुकम्पागुणसम्भृतस्य।
अयं प्रभावातिशयस्य तस्य तवाभ्युपेतो विनियोगकालः ॥२७॥

आर्ताननाथाञ्छरणागतान्नस्त्वं त्रातुमावर्जय धीर चेतः।
अयं हि कोपाद्वडवामुखेन चिकीर्षति ग्रासमिवार्णवोऽस्मान् ॥२८॥

नोपेक्षितुं युक्तमयं जनस्ते विपद्यमानः सलिलौघमध्ये।
नाज्ञां तवात्येति महासमुद्रस्तद्वार्यतामप्रशमोऽयमस्य ॥२९॥

"हमारे कानोंको मानो फाड़ता हुआ, हमारे हृदयोंको मानो विदीर्ण करता हुआ क्षुब्ध सागरका यह घोर गर्जन दूरसे भी सुनाई पड़ रहा है। (आप बतलायें कि) यह कौन समुद्र है और आपकी समझसे यहाँ हमारा क्या परम कर्त्तव्य है।" ॥ २२ ॥

तब वह महात्मा घबराहटमें आकर बोल उठे—"हा कष्ट, हा कष्ट।" फिर समुद्रकी ओर देखते हुए कहा—

आपलोग इस अमङ्गलमय बडवा-मुख में पहुँच गये है, जो मृत्यु-मुखका मानो प्रवेश-द्वार है। यहाँ पहुंचनेपर कोई नही (बचकर) निकलते।" ॥२३॥

यह सुनकर कि "हम बडवा-मुखमें आ गये है" उन बनियोंने जीनेकी आशा छोड़ दी और वे मरण-भयसे व्याकुल हो उठे।

कुछ लोग जोरोंसे रोये विलपे और चिल्लाये। कुछ लोग डरके मारे बेहोश होकर कुछ नहीं कर सके। ॥ २४ ॥

कतिपयोंने आर्त चित्तसे देवेन्द्रको खूब प्रणाम किया (पूजा), और दूसरोंने आदित्यों रुद्रों मरुतों और सागरकी ही शरण ली। ॥ २५ ॥

कइयोंने नाना प्रकारके मंत्रोंका जप किया, दूसरोंने देवीकी विधिवत् पूजा की। कुछ लोगोंने सुपारगके समीप जाकर, तरह तरहकी (शारीरिक) चेष्टाएँ करते हुए, करुणापूर्वक विलाप किया। ॥ २६ ॥

"आप विपत्तिमें पड़े हुओंका भय हरण करनेवाले और दूसरोंपर सदा अनुकम्पा करनेवाले हैं। आपके लोकोत्तर प्रभावका उपयोग करनेका यह समय आ गया है। ॥ २७ ॥

हे धीर, हम दुःखियों अनाथों और शरणागतोंकी रक्षा करनेका आप निश्चय करें। यह क्रुद्ध समुद्र अपने बडवा-मुखसे हमें निगलना चाहता है। ॥ २८ ॥

इस जल-राशिके बीच मृत्युको प्राप्त हो रहे हमलोगोंकी उपेक्षा करना आपके लिए उचित नहीं है। यह महासमुद्र आपकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सकता। अतः आप इसके इस क्रोधको शान्त करें।" ॥ २९ ॥

अथ स महात्मा महत्या करुणया समापीड्यमानहृदयस्तान्वाणिजकान्व्यवस्थापयन्नुवाच। अस्त्यत्रापि नः कश्चित्प्रतीकारविधिः प्रतिभाति। तत्तावत्प्रयोक्ष्ये। यतो मुहूर्तं धीरास्तावद्भवन्तु भवन्त इति। अथ ते वाणिजका अस्त्यत्रापि किल प्रतीकारविधिरित्याशया समुपस्तम्भितधैर्यास्तदवहितमनसस्तूष्णीं बभूवुः। अथ सुपारगो बोधिसत्त्व एकांसमुत्तरासङ्गं कृत्वा दक्षिणेन जानुमण्डलेनाधिष्ठाय नावं समावर्जितसर्वभावः प्रणम्य तथागतेभ्यस्तान्सांयात्रिकानामन्त्रयते स्म। श्रृण्वन्त्वत्रभवन्तः सांयात्रिकाः सलिलनिधिव्योमाश्रयाश्च देवविशेषाः।

स्मरामि यत आत्मानं यतः प्राप्तोऽस्मि विज्ञताम्।
नाभिजानामि सञ्चिन्त्य प्राणिनं हिंसितुं क्वचित् ॥३०॥
अनेन सत्यवाक्येन मम पुण्यबलेन च।
वडवामुखमप्राप्य स्वस्ति नौर्विनिवर्तताम् ॥३१॥

अथ तस्य महात्मनः सत्याधिष्ठानबलात्पुण्यतेजसा सह सलिलजवेन स मारुतो व्यावर्तमानस्तां नावं निवर्तयामास। निवृत्तां तु तां नावमभिसमीक्ष्य ते वाणिजकाः परमविस्मयप्रहर्षोद्धतमानसा निवृत्ता नौरिति प्रणामसभाजनपुरःसरं सुपारगाय न्यवेदयन्त। अथ स महात्मा तान्वाणिजकानुवाच। स्थिरीभवन्तु भवन्तः शीघ्रमारोप्यन्तां शीतानि। इति च तेन समादिष्टाः प्रमोदादुद्भूतबलोत्साहास्ते तदधिकृतास्तथा चक्रुः।

अथ मुदितजनप्रहासनादा प्रविततपाण्डुरशीतचारुपक्षा।
सलिलनिधिगता रराज सा नौर्गतजलदे नभसीव राजहंसी ॥३२॥

निवृत्तायां तु तस्यां नाव्यनुकूलसलिलमारुतायां विमानलीलया स्वेच्छयैव चाभिप्रयातायां नातिश्यामीभूतसन्ध्याङ्गरागासु प्रवितन्य-

उस महात्माका हृदय करुणासे भर आया। उन बनियोंको सान्त्वना देते हुए उसने कहा—"मुझे जान पड़ता है कि अब भी हमारी रक्षाका कोई उपाय है। मैं इसका प्रयोग करूँगा। किंतु आपलोग मुहूर्त भरके लिए धैर्य धारण करें।" 'अब भी हमारी रक्षाका कोई उपाय है' इस आशासे उन बनियोंने धैर्य धारण किया और उसकी ओर ध्यान लगाकर वे चुप हो गये। तब बोधिसत्त्व सुपारगने एक कंधेपर चादर रखकर और दाहिने घुटनेको जहाज पर टेककर सर्वभावसे तथागतोंको प्रणाम किया। फिर व्यापारियोंको सम्बोधित करते हुए कहा—

"आप मान्य व्यापारियो तथा समुद्रके ऊपर आकाशमें रहनेवाले पूज्य देवगण, सुनिये।

जबसे मैं अपनेको याद करता हूँ, जबसे मुझे ज्ञान (=होश), हुआ है, ध्यान करने पर भी मुझे स्मरण नही हो रहा है कि मैंने कदाचित् किसी प्राणीकी हिंसा की है।॥ ३०॥

इस सत्य-वचनसे और मेरे पुण्य-बलसे जहाज बडवा-मुखमें प्रविष्ट हुए विना ही सकुशल लौट जाय।" ॥ ३१॥

तब उस महात्माके सत्य-बल और पुण्य-प्रतापसे जल-प्रवाहके साथ साथ बदलती हुई हवाने जहाजको मोड़ दिया। जहाजको मुड़ा हुआ देखकर व्यापारियोंके मनमें अत्यन्त आश्चर्य और प्रसन्नता हुई और उन्होंने सुपारगको प्रणाम कर सम्मानपूर्वक निवेदन किया—"जहाज लौट चला।" तब उस महात्माने उनसे कहा—"आपलोग स्थिर हो जायें और शीघ्र ही पाल चढ़ायें।" यह आज्ञा पाकर, उस कार्यके अधिकारियोंने, जिनके शरीरमें आनन्दसे शक्ति और उत्साहका सञ्चार हो गया, आज्ञा पालन की।

तब सफेद पालके सुन्दर पंख फैल गये। प्रमुदित यात्रियोंके हास्यसे जहाज गूंज उठा। समुद्रमें चलता हुआ जहाज ऐसे शोभित हुआ जैसे मेघ-मुक्त (निर्मल) आकाशमें (उड़ता हुआ) राज-हंस। ॥ ३२॥

जहाज लौट चला। अनुकूल प्रवाह और हवामें वह विमान की तरह स्वेच्छासे उड़ रहा था। संध्याकालकी लाली मिटी नहीं थी। अन्धकारका

मानतमोवितानास्वालक्षितनक्षत्रभूषणासु दिक्षु किञ्चिदवशेषप्रभे दिवसकरमार्गे प्रवृत्तक्षणदाधिकारे सुपारगस्तान्वाणिजकानुवाच—भोः सार्थवाहा नलमालिप्रभृतिभ्यो यथादृष्टेभ्यः समुद्रेभ्यो बालुकाः पाषाणाश्च वहनमारोप्यन्तां यावत्सहते। एवमिदं यानपात्रं निर्घातभराक्रान्तं न च पार्श्वानि दास्यति मङ्गलसम्मताश्चैते बालुकापाषाणा नियतं लाभसिद्धये वो भविष्यन्तीति । अथ ते सांयात्रिकाः सुपारगप्रेमबहुमानावर्जितमतिभिर्देवताभिरनुप्रदर्शितेभ्यः स्थलेभ्य आदाय बालुकापाषाणबुद्ध्या वैडूर्यादीनि रत्नानि वहनमारोपयामासुः। तेनैव चैकरात्रेण सा नौर्भरुकच्छमुपजगाम ।

अथ प्रभाते रजतेन्द्रनीलवैडूर्यहेमप्रतिपूर्णनौकाः ।
स्वदेशतीरान्तमुपागतास्ते प्रीत्या तमानर्चुरुदीर्णहर्षाः ॥३३॥

तदेवं धर्माश्रयं सत्यवचनमप्यापदं नुदति प्रागेव तत्फलमिति धर्मानुवर्तिना भवितव्यम्। कल्याणमित्राश्रयवर्णेऽपि वाच्यमेवं कल्याणमित्राश्रिताः श्रेयः प्राप्नुवन्तीति ॥

इति सुपारगजातकं चतुर्दशम् ।

---

१५ मत्स्यजातकम्

शीलवतामिहैवाभिप्रायाः कल्याणाः समृध्यन्ति प्रागेव परत्रेति शीलविशुद्धौ प्रयतितव्यम्। तद्यथानुश्रूयते ।

बोधिसत्त्वः किल कस्मिंश्चिन्नातिमहति कह्लारतामरसकमलकुवलयविभूषितरुचिरसलिले हंस-कारण्डव-चक्रवाक-मिथुनोपशोभिते तीरान्तरुहतरुकुसुमावकीर्णे सरसि मत्स्याधिपतिर्बभूव। स्वभ्यस्तभावाच्च बहुषु जन्मान्तरेषु परार्थचर्यायास्तत्रस्थोऽपि परहितसुखप्रतिपादनव्यापारो बभूव।

चन्दोवा चारों ओर फैल रहा था। दिशाओंके नक्षत्ररूपी आभूषण दिखाई पड़ने लगे थे। सूर्य-मार्गकी प्रभा कुछ कुछ बची हुई थी। रात्रिका आरम्भ हो ही रहा था कि सुपारगने उन बनियोसे कहा—"हे व्यापारियो, नलमाली आदि जिन समुद्रोंको आपने क्रमशः देखा था उनसे बालू और पत्थर उचित परिमाणमें लेकर जहाज पर चढ़ा लें। इस प्रकार जहाजके पार्श्व, भारी तूफान आने पर भी, स्थिर रहेंगे। ये बालू और पत्थर मंगलमय है, इनसे अवश्य आपको लाभ होगा।" तब सुपारगके प्रति प्रेम और सम्मान-भाव होनेके कारण देवताओंने उन स्थानोंको बतला दिया जहाँसे उन यात्रियोंने वैदूर्य आदि रत्नोंको बालू और पत्थर समझकर जहाजपर चढ़ा लिया। उस एक ही रातमें जहाज भरुकच्छ पहुँच गया।

प्रातःकाल होनेपर सोना-चाँदी इन्द्रनील और वैदूर्यसे भरे हुए जहाजको लेकर वे अपने देशके समुद्र-तटपर पहुँच गये और अत्यन्त आनन्दित होकर प्रेमपूर्वक सुपारगकी पूजा की। ॥ ३३ ॥

इस प्रकार धर्माश्रित सत्य-वचन भी विपत्तिको टालता है, फिर धर्माचरणके फलका क्या कहना? इसलिए धार्मिक होना ही चाहिए। कल्याण (कारी) मित्रके आश्रयका वर्णन करनेमें भी यों कहना चाहिए—"कल्याणमित्र (सन्मित्र, धार्मिक मित्र) के आश्रयमें रहकर मनुष्य कल्याण प्राप्त करते हैं।"

सुपारग-जातक चतुर्दश समाप्त।

---

१५ मत्स्य-जातक

शीलवान् (=सदाचारी) व्यक्तियोंके उत्तम अभिप्राय इहलोकमें ही सिद्ध होते हैं, फिर परलोकका क्या कहना? अतः शील (=आचरण) की विशुद्धिके लिए प्रयत्न करना चाहिये। तब जैसी कि अनुश्रुति है :—

एकबार बोधिसत्त्व किसी सरोवरमें, जिसे बहुत बड़ा नहीं कहा जा सकता, मछलियोंके स्वामी हुए। उस सरोवरका सुन्दर जल कह्लार[1] तामरस[2] कमल और कुवलय[3]से विभूषित, हंस कारण्डव और चक्रवाकके जोड़ोंसे सुशोभित तथा तीर-वर्ती वृक्षोंके फूलोंसे व्याप्त था। अपने अनेक जन्मान्तरों (=पूर्व-जन्मों) में परोपकारका अभ्यास होनेके कारण उस मत्स्य-जन्ममें भी (वहाँ रहते हुए) वह दूसरोंके हित-सुखके कार्योंमें लगे रहते थे।

अभ्यासयोगाद्धि शुभाशुभानि कर्माणि सात्म्येन भवन्ति पुंसाम् ।
तथाविधान्येव यदप्रयत्नाज्जन्मान्तरे स्वप्न इवाचरन्ति ॥ १ ॥

इष्टानामिव च स्वेषामपत्यानामुपरि निविष्टहार्दो महासत्त्वस्तेषां मीनानां दानप्रियवचनार्थचर्यादिक्रमैः परमनुग्रहं चकार ।

अन्योन्यहिंसाप्रणयं नियच्छन्परस्परप्रेम विवर्धयंश्च ।
योगादुपायज्ञतया च तेषां विस्मारयामास स मत्स्यवृत्तम् ॥ २ ॥
तत्तेन सम्यक्परिपाल्यमानं वृद्धिं परां मीनकुलं जगाम ।
पुरं विनिर्मुक्तमिवोपसर्गैर्न्यायप्रवृत्तेन नराधिपेन ॥ ३ ॥

अथ कदाचित्सत्त्वानां भाग्यसम्पद्वैकल्यात्प्रमादाच्च वर्षाधिकृतानां देवपुत्राणां न सम्यग्देवो ववर्ष । अथासम्यग्वर्षिणि देवे तत्सरः फुल्लकदम्बकुसुमगौरेण नवसलिलेन न यथापूर्वमापुपूरे । क्रमेण चोपगते निदाघकालसमये पटुतरदीप्तिभिः खेदालसगतिभिरिव च दिनकरकिरणैस्तदभितप्तया च धरण्या ज्वालानुगतेनेव च ह्लादाभिलाषिणा मारुतेन तर्षवशादिव प्रत्यहमापीयमानं तत्सरः पल्वलीबभूव ।

निदाघकाले ज्वलितो विवस्वाञ्ज्वालाभिवर्षीव पटुश्च वायुः ।
ज्वरातुरेवाशिशिरा च भूमिस्तोयानि रोषादिव शोषयन्ति ॥ ४ ॥

अथ बोधिसत्त्वो वायसगणैरपि परितर्क्यमाणं प्रागेव सलिलतीरान्तचारिभिः पक्षिगणैर्विषाददैन्यवशगं विस्पन्दितमात्रपरायणं मीनकुलमवेक्ष्य करुणायमाणश्चिन्तामापेदे । कष्टा बतेयमापदापतिता मीनानाम् ।

प्रत्यहं क्षीयते तोयं स्पर्धमानमिवायुषा ।
अद्यापि च चिरेणैव लक्ष्यते जलदागमः ॥ ५ ॥

अभ्यास-बलसे भले-बुरे कर्म मनुष्योंकी आत्माके गुण (=सहज स्वभाव) बन जाते हैं। इसीलिए वे उन कर्मोंको दूसरे जन्ममें भी अनायास ही करते रहते हैं, जैसे स्वप्नमें कर रहे हों। ॥ १॥

वह महासत्त्व (=महाप्राणी) अपनी प्रिय सन्तानोंकी तरह उन मछलियोंसे स्नेह करते थे और दान मधुर वचन उपकार आदिसे उनपर अत्यन्त अनुग्रह करते थे।

उनके आपसी हिंसा-भावको रोकते हुए तथा पारस्परिक प्रेम-भावको बढ़ाते हुए उसने अपने उद्योग और नीति-कुशलताके कारण उनसे मत्स्य-भाव भुलवा दिया। ॥ २ ॥

उसके द्वारा सम्यक् रूपसे परिपालित होते हुए मत्स्य-कुलकी खूब वृद्धि हुई, जैसे न्याय-मार्ग पर चलनेवाले राजाका नगर उपद्रवोंसे मुक्त होकर उन्नतिके शिखरपर चढ़ जाता है। ॥ ३ ॥

तब एक बार प्राणियोंके दुर्भाग्यसे तथा वर्षाके अधिकारी देव-पुत्रोंके प्रमादसे वृष्टि पर्याप्त नहीं हुई। वृष्टि पर्याप्त नहीं होनेसे वह सरोवर पुष्पित कदम्ब वृक्षोंके फूलोंसे रंगे हुए पीत-वर्ण अभिनव जलसे पहलेकी तरह परिपूर्ण नहीं हुआ। क्रमसे ग्रीष्मऋतु आनेपर तीक्ष्ण श्रान्त मन्थरगति सूर्य-किरणों द्वारा, किरणोसे संतप्त धरती द्वारा तथा तृप्ति चाहनेवाली गर्म हवाद्वारा प्याससे प्रतिदिन पिया जाता हुआ वह सरोवर (सूखकर) तलैया हो गया।

ग्रीष्मकालमें प्रज्वलित सूर्य, आगकी लपटें बरसानेवाला वायु तथा ज्वरसे पीड़ित व्यक्तिके समान तपी हुई पृथिवी मानो क्रोधसे जल सोखते हैं। ॥४॥

तब विषाद और दीनताके वशीभूत होकर (सूखे सरोवरमें) मछलियाँ छटपटाने लगीं। कौए और तीरवर्ती पक्षी उन्हें (अपना आहार बनानेको) सोचने लगे। यह देखकर मत्स्य-कुलपर करुणा करते हुए बोधिसत्त्वने चिन्तन किया—"हा, मछलियोंपर यह कैसी दारुण विपत्ति आई!

(प्राणियोंकी) आयुसे मानो होड़ करता हुआ पानी प्रतिदिन क्षीण हो रहा है। अब भी देखते हैं कि बादलके आनेमें बहुत देर है। ॥ ५ ॥

अपयानक्रमो नास्ति नेताप्यन्यत्र को भवेत्।
अस्मद्व्यसनसंकृष्टाः समायान्ति च नो द्विषः ॥ ६ ॥

अस्य निःसंशयमिमे तोयशेषस्य संक्षयात्।
स्फुरन्तो भक्षयिष्यन्ते शत्रुभिर्मम पश्यतः ॥ ७ ॥

तत्किमत्र प्राप्तकालं स्यादिति विमृशन्स महात्मा सत्याधिष्ठान-मेकमार्तायनं ददर्श। करुणया च समापीड्यमानहृदयो दीर्घमुष्णम-भिनिश्वस्य नभः समुल्लोकयन्नुवाच—

स्मरामि न प्राणिवधं यथाहं सञ्चिन्त्य कृच्छ्रे परमेऽपि कर्तुम्।
अनेन सत्येन सरांसि तोयैरापूरयन्वर्षतु देवराजः ॥ ८ ॥

अथ तस्य महात्मनः पुण्योपचयगुणात्सत्याधिष्ठानबलात्तदभिप्रसा-दितदेवनागयक्षानुभावाच्च समन्ततस्तोयावलम्बिबिम्बा गम्भीरमधुर-निर्घोषा विद्युल्लतालङ्कृतनीलविपुलशिखरा विजृम्भमाणा इव प्रवि-सर्पिभिः शिखरभुजैः परिष्वजमाना इव चान्योन्यमकालमेघाः कालमेघाः प्रादुरभवन्।

दिशां प्रमिण्वन्त इव प्रयामं शृङ्गैर्वितन्वन्त इवान्धकारम्।
नभस्तलादर्शगता विरेजुश्छाया गिरीणामिव कालमेघाः ॥ ९ ॥

संसक्तकेकैः शिखिभिः प्रहृष्टैः संस्तूयमाना इव नृत्तचित्रैः।
प्रसक्तमन्द्रस्तनिता विरेजुर्धीरप्रहासादिव ते घनौघाः ॥१०॥

मुक्ता विमुक्ता इव तैर्विमुक्ता धारा निपेतुः प्रशशाम रेणुः।
गन्धश्चचारानिभृतो धरण्यां विकीर्यमाणो जलदानिलेन ॥११॥

यहाँसे निकल भागनेका उपाय नहीं है। और हमें दूसरी जगह ले जाये भी तो कौन (ले जाये)? हमारी विपत्तिसे आकृष्ट होकर हमारे शत्रु समीप आ रहे हैं। ॥ ६ ॥

इस बचे हुए जलके सूखनेपर निश्चय है कि शत्रु आकर तड़पती हुई मछलियोंको मेरे देखते ही खा जायँगे।" ॥ ७ ॥

'इस समय क्या करना उचित है' यह सोचते हुए उस महात्माने देखा कि सत्यका प्रभाव पीड़ित प्राणियोंका एक सहारा है। उसका हृदय करुणासें भर आया। गर्म और लम्बी साँस लेकर आकाशकी ओर देखते हुए उसने कहा—

"चिन्तन करनेपर मुझे स्मरण नही हो रहा है कि घोर संकटमें भी मैंने कभी किसी प्राणीकी हिसा की है। मेरे इस सत्य (के प्रभाव) से देवराज जल बरसाकर जलाशयोंको भर दें।" ॥ ८ ॥

तब उस महात्माकी पुण्य-राशिके प्रतापसे, सत्यके प्रभावसे, उसके द्वारा प्रसन्न किये गये देवों नागों और यक्षोंके अनुभावसे असमयके काले बादल[१] चारों ओर प्रकट हो गये। जलके भारसे लटकते हुए वे गम्भीर और मधुर गर्जन कर रहे थे। उनके विशाल शिखर विद्युल्लताओं (=बिजली) से अलंकृत थे। अपने पसरते हुए शिखरों और भुजाओंसे वे मानो अंगड़ाई ले रहे थे या मानो एक दूसरेका आलिङ्गन कर रहे थे।

आकाशरूपी आइनेमें पर्वतोंकी परछाहीके समान विराजमान काले बादल अपने शृङ्गोंद्वारा मानो दिशाओंके विस्तारको माप (बता) रहे थे और अन्धकार फैला रहे थे। ॥ ९ ॥

(बिजलीकी चमकसे) हँसते हुए बादलोंने बार बार गम्भीर गर्जन किया और मोरोंने प्रसन्न होकर अनेक प्रकारसे नाचते हुए एवं अनवरत बोलते हुए मानो उन बादलोंकी स्तुति की। ॥ १० ॥

(अपने सम्पुटोंसे) गिरते हुए मोतियों (की पाँतियों) के समान मेघोंसे जल-धाराएँ गिरीं। धूल शान्त हो गई। पृथ्वीसे तेज गन्ध निकली, जिसे बादलोंके साथ बहनेवाली हवाने (चारों ओर) बिखेर दिया। ॥११॥

निदाघसम्पर्कविवर्धितोऽपि तिरोबभूवार्ककरप्रभावः ।
फेनावलीव्याकुलमेखलानि तोयानि निम्नाभिमुखानि सस्रुः ॥१२॥
मुहुर्मुहुः काञ्चनपिञ्जराभिर्भाभिर्दिगन्ताननुरञ्जयन्ती ।
पयोदतूर्यस्वनलब्धहर्षा विद्युल्लता नृत्तमिवाचचार ॥१३॥

अथ बोधिसत्त्वः समन्ततोऽभिप्रसृतैरापाण्डुभिः सलिलप्रवाहैरापूर्यमाणे सरसि धारानिपातसमकालमेव विद्रुते वायसाद्ये पक्षिगणे प्रतिलब्धजीविताशे च प्रमुदिते मीनगणे प्रीत्याभिसार्यमाणहृदयो वर्षनिवृत्तिसाशङ्कः पुनः पुनः पर्जन्यमाबभाषे ।

उद्गर्ज पर्जन्य गभीरधीरं प्रमोदमुद्वासय वायसानाम् ।
रत्नायमानानि पयांसि वर्षन्संसक्तविद्युज्ज्वलितद्युतीनि ॥१४॥

तदुपश्रुत्य शक्रो देवानामिन्द्रः परमविस्मितमनाः साक्षादभिगम्यैनमभिसंराधयन्नुवाच--

तवैव खल्वेष महानुभाव मत्स्येन्द्र सत्यातिशयप्रभावः ।
आवर्जिता यत्कलशा इवेमे क्षरन्ति रम्यस्तनिताः पयोदाः ॥१५॥
महत्प्रमादस्खलितं त्विदं मे यन्नाम कृत्येषु भवद्विधानाम् ।
लोकार्थमभ्युद्यतमानसानां व्यापारयोगं न समभ्युपैमि ॥१६॥
चिन्तां कृथा मा तदतः परं त्वं सतां हि कृत्योद्वहनेऽस्मि धुर्यः ।
देशोऽप्ययं त्वद्गुणसंश्रयेण भूयश्च नैवं भवितार्तिवश्यः ॥१७॥

इत्येवं प्रियवचनैः संराध्य तत्रैवान्तर्दधे । तच्च सरः परां तोयसमृद्धिमवाप ॥

तदेवं शीलवतामिहैवाभिप्रायाः कल्याणाः समृध्यन्ति प्रागेव परत्रेति शीलविशुद्धौ प्रयतितव्यम् ॥

इति मत्स्यजातकं पञ्चदशम् ।

यद्यपि ग्रीष्म-ऋतुके सम्पर्कसे धूप बहुत बढ़ गई थी, किंतु अब वह (बादलोंमें) अदृश्य हो गई। अपने फेन-पुञ्जसे पहाड़के तटोंको व्याप्त करते हुए जल-प्रवाह नीचेकी ओर दौड़ने लगे। ॥ १२ ॥

मेघ-मृदङ्गके शब्दसे आनन्दित होकर विद्युल्लता (=बिजली) ने सुवर्ण की-सी पीली आभाओंसे दिगन्तोंको बार बार रञ्जित (=प्रकाशित) करते हुए मानो नृत्य किया। ॥ १३ ॥

चारों ओर फैले हुए पीले जल-प्रवाहसे सरोवर भरने लगा। (पृथ्वी-पर) जलधाराके गिरते ही कौए आदि पक्षी भाग गये। मछलियाँ आनन्दित हुईं और उन्हें जीवन-रक्षाकी आशा हुई। बोधिसत्त्वका हृदय आनन्दसे भर गया। वर्षा बन्द होनेकी आशंकासे उसने बार बार पर्जन्य-देवसे कहा—

"हे पर्जन्य, गम्भीर गर्जन कीजिये। लगातार चमकती हुई बिजलीके प्रकाशसे युक्त होनेके कारण रत्नोंके समान दिखाई पड़नेवाले जल बरासते हुए आप कौओंका आनन्द विलीन कीजिये।" ॥ १४ ॥

यह सुनकर देवेन्द्र शक्रके मनमें बड़ा विस्मय हुआ। वह स्वयं उसके समीप गये और स्तुति करते हुए कहा—

"हे महानुभाव, हे मत्स्येन्द्र, आपके ही अलौकिक सत्यका यह प्रभाव है कि मधु-रतापूर्वक गर्जते हुए ये बादल झुकाये गये कलशोंके समान जल बरसा रहे हैं। ॥१५॥

असावधानीके कारण मैंने यह भारी भूल की है कि लोकोपकारमें दत्त-चित्त आप-सरीखोंके कार्योंमें मैंने सहायता न की। ॥ १६ ॥

अब आगे आप चिन्ता न करें। मैं सज्जनोंका कार्य-भार वहन करूँगा। और आपके सद्गुणोंके सम्पर्कसे यह देश फिर कभी इस प्रकार पीड़ित न होगा।" ॥१७॥

इस प्रकार मधुर वचनोंसे उसकी स्तुति कर वह वहीं अन्तर्धान हो गये। और, वह सरोवर जलसे परिपूर्ण हो गया।

इस प्रकार, शीलवान् (=सदाचारी) व्यक्तियोंके उत्तम अभिप्राय इहलोकमें ही सिद्ध होते हैं, फिर परलोकका क्या कहना? अतः शील (=आचरण) की विशुद्धिके लिए प्रयत्न करना चाहिए।

मत्स्य-जातक पञ्चदश समाप्त।

---

१६ वर्तकापोतकजातकम्

सत्यपरिभावितां वाचमग्निरपि न प्रसहते लङ्घयितुमिति सत्यवचनेऽभियोगः करणीयः । तद्यथानुश्रूयते ।

बोधिसत्त्वः किलान्यतमस्मिन्नरण्यायतने वर्तकापोतको भवति स्म । स कतिपयरात्रोद्भिन्नाण्डकोशः प्रविरोक्ष्यमाणतरुणपक्षः परिदुर्बलत्वादलक्ष्यमाणाङ्गप्रत्यङ्गप्रदेशः स्वमातापितृप्रयत्नरचिते तृणगहनोपगूढे गुल्मलतासंनिश्रिते नीडे संबहुलैर्भ्रातृभिः सार्धं प्रतिवसति स्म । तदवस्थोऽपि चापरिलुप्तधर्मसंज्ञत्वान्मातापितृभ्यामुपहृतान्प्राणिनो नेच्छति स्माभ्यवहर्तुम् । यदेव त्वस्य तृणबीजन्यग्रोधफलाद्युपजह्रतुर्मातापितरौ तेनैव वर्तयामास । तस्य तया रूक्षाल्पाहारतया न कायः पुष्टिमुपययौ । नापि पक्षौ सम्यक्प्रविरुरोहतुः । इतरे तु वर्तकापोतका यथोपनीतमाहारमभ्यवहरन्तो बलवन्तः सञ्जातपक्षाश्च बभूवुः । धर्मता ह्येषा यद्गुत—

धर्माधर्मनिराशङ्कः सर्वाशी सुखमेधते ।
धर्म्यां तु वृत्तिमन्विच्छन्विचिताशीह दुःखितः ॥ १ ॥

अपि चोक्तं भगवता सुजीवितमह्लीकेणेति गाथाद्वयम् ।

सुजीवितमह्लीकेण ध्वाङ्क्षेणाशुचिकर्मणा ।
प्रस्कन्दिना प्रगल्भेन सुसंक्लिष्टं तु जीवितम् ॥ २ ॥

ह्लीमता त्विह दुर्जीवं नित्यं शुचिगवेषिणा ।
संलीनेनाप्रगल्भेन शुद्धाजीवेन जीवता ॥ ३ ॥

१६ वर्तका-पोतक-जातक

सत्य-पूत[1] वाणीका उल्लंघन अग्नि भी नहीं कर सकता, इसलिए सत्य-वचनका अभ्यास करना चाहिए। तब जैसी कि अनुश्रुति है:—

एक बार बोधिसत्त्व किसी जंगलके भीतर वर्तका-पोतक (=बटेर-बच्चा) हुए। अभी कुछ ही दिन बीते थे कि वह अण्डेको फोड़कर बाहर आये थे। उसके नन्हें पंख बाहर निकल ही रहे थे। दुर्बलताके कारण उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग (अच्छी तरह) नहीं पहचाने जाते थे। अपने माता-पिताके द्वारा बनाये गये तृणोंके दुष्प्रवेश घोंसलेमें, जो झाड़ीकी लताके सहारे स्थित था, अपने अनेक भाइयोंके साथ रहते थे। उस अवस्थामें भी उसका धर्म-ज्ञान लुप्त नही हुआ था। वह अपने माता-पिताके द्वारा लाये गये जीव-जन्तुओंको नही खाना चाहते थे। किंतु उसके माता-पिता जो कुछ (जंगली) तृणोंके बीज, वट-वृक्षके फल आदि ले जाते थे उसे ही खाकर वह अपना जीवन-धारण करते थे। उस रूखे-सूखे अल्प आहारके कारण उसका शरीर पुष्ट नहीं हुआ और न उसके पंख ही अच्छी तरह उत्पन्न हुए। किंतु दूसरे बटेरके बच्चे जो कुछ लाये गये सभी प्रकारके आहारको खाकर बलवान् हो गये और उनके पंख भी उत्पन्न (विकसित) हुए। यह तो स्वाभाविक ही है कि—

धर्म-अधर्मका विचार नहीं करनेवाला सर्व-भक्षी (प्राणी) सुखसे रहता है (अनायास ही फूलता-फलता है); किंतु धर्मोचित वृत्ति (आजीविका) की खोज करनेवाला और बीछ बीछकर (निर्दोष चीजें) खानेवाला दुःखी रहता है।॥ १॥

[भगवान्‌ने भी 'सुजीवितमह्रीकेण' इत्यादि गाथा-युगल कहा है:—

अपवित्र कर्म करनेवाला निर्लज्ज पतित और प्रगल्भ कौआ सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है, किंतु ऐसा जीवन पापपूर्ण है[2] ॥ २॥

किंतु नित्य पवित्रताकी खोज करनेवाला शुद्ध आजीविकावाला सलज्ज सावधान (या शान्त) और अप्रगल्भ व्यक्ति दुःखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है।॥३॥

इति गाथाद्वयमेतदार्यस्थाविरीयकनिकाये पठ्यते ।] तेषामेवमवस्थानां नातिदूरे महान्वनदावः प्रतिभयप्रसक्तनिनदो विजृम्भमाणधूमराशिविकीर्यमाणज्वालावलीलोलविस्फुलिङ्गः सन्त्रासनो वनचराणामनयो वनगहनानां प्रादुरभवत् ।

स मारुताघूर्णितविप्रकीर्णैर्ज्वालाभुजैर्नृत्तविशेषचित्रैः ।
वल्गन्निव व्याकुलधूमकेशः सस्वान तेषां धृतिमाददानः ॥ ४ ॥

चण्डानिलास्फालनचञ्चलानि भयद्रुतानीव वने तृणानि ।
सोऽग्निः ससंरम्भ इवाभिपत्य स्फुरत्स्फुलिङ्गप्रकरो ददाह ॥ ५ ॥

भयद्रुतोद्भ्रान्तविहङ्गसार्थं परिभ्रमद्भीतमृगं समन्तात् ।
धूमौघमग्नं पटुवह्निशब्दं वनं तदार्त्येव भृशं ररास ॥ ६ ॥

क्रमेण चोत्पीड्यमान इव स वह्निः पटुना मारुतेन तृणगहनानुसारी तेषां नीडसमीपमुपजगाम । अथ ते वर्तकापोतका भयविरसव्याकुलविरावाः परस्परनिरपेक्षाः सहसा समुत्पेतुः । परिदुर्बलत्वादसञ्जातपक्षत्वाच्च बोधिसत्त्वस्तु नोत्पतितुं प्रयत्नं चकार । विदितात्मप्रभावस्त्वसम्भ्रान्त एव स महासत्त्वः सरभसमिवोपसर्पन्तमग्निं सानुनयमित्युवाच—

व्यर्थाभिधानचरणोऽस्म्यविरूढपक्ष—
स्त्वत्सम्भ्रमाच्च पितरावपि मे प्रडीनौ ।
त्वद्योग्यमस्ति न च किञ्चिदिहातिथेय—
मस्मान्निवर्तितुमतस्तव युक्तमग्ने ॥ ७ ॥

इस गाथा-युगलका पाठ आर्य स्थाविरीयक निकायमें मिलता है।[१]]

जब उन (बटेर-बच्चों) की ऐसी अवस्था थी तब कुछ ही दूरपर महान् दावाग्नि प्रकट हुआ, जिससे निरन्तर भयंकर शब्द हो रहा था, धुआँ निकल रहा था, ज्वालाएँ फैल रही थीं और चिनगारियाँ छिटक रही थीं। इससे वनमें रहनेवाले जीव-जन्तुओंको बहुत भय हुआ और जंगलके वनस्पतियोंके ऊपर विपत्ति आ गई।

(वह दावाग्नि वायु-द्वारा सञ्चालित ज्वालारूपी भुजाओंको फैलाता हुआ, बिखरे हुए धुआँरूपी बालोंको हिलाता हुआ, विशेष प्रकारका नृत्य करता हुआ, उछल उछलकर आगे बढ़ता हुआ, उन (पशु-पक्षियों और वनस्पतियों) का धैर्य हरण कर रहा था। ॥ ४ ॥

प्रचण्ड वायुके स्पर्शसे काँपते हुए (या उड़ते हुए), मानो भयसे भागते हुए, तृणोंको क्रोधसे पकड़कर वह अग्नि अपनी चमकती हुई चिनगारियोंसे जला रहा था। ॥ ५ ॥)

(डरसे घबराकर भागते हुए पक्षियोंसे युक्त, भय-भीत होकर चारों ओर दौड़ते हुए जानवरोंसे भरा हुआ, धूम-राशिमें डूबा हुआ तथा अग्निके तीक्ष्ण शब्दसे युक्त वह जंगल मानो पीड़ासे कराह रहा था।)

तेज हवासे मानो उत्पीड़ित होता हुआ वह अग्नि तृणोंकी खोज करता हुआ उन (बटेरों) के घोसलोंके समीप पहुँच गया। तब वे बटेर-बच्चे भयसे व्याकुल हो फूट फूट कर रोते हुए एक दूसरेका खयाल न कर सहसा ही उड़ गये। किंतु अपनी दुर्बलता और पंख उत्पन्न नहीं होनेके कारण बोधिसत्त्वने उड़नेका प्रयत्न नहीं किया। अपना प्रभाव जानकर वह महासत्त्व विचलित नहीं हुए और तेजीसे समीप आते हुए अग्निसे अनुनयपूर्वक कहा—

"मेरे (छोटे छोटे अशक्त) पैरोंको पैर कहना व्यर्थ है, मेरे पंख भी (अच्छी तरह) नहीं उत्पन्न हुए हैं। आपके डरसे मेरे माता-पिता भी उड़ गये। हे अग्नि, आपके अतिथि-सत्कारके योग्य यहाँ कुछ भी नहीं है, अतः यहाँसे आपका लौटना ही उचित है।" ॥ ७ ॥

इत्युक्ते सत्यपरिभावितवचसा तेन महासत्त्वेन—

उदीर्यमाणोऽप्यनिलेन सोऽग्निर्विशुष्कसंसक्ततृणेऽपि कक्षे ।
नदीमिव प्राप्य विवृद्धतोयां तद्वाचमासाद्य शशाम सद्यः ॥ ८ ॥

अद्यापि तं हिमवति प्रथितं प्रदेशं
दावाग्निरुद्धतशिखोऽपि समीरणेन ।
मन्त्राभिशप्त इव नैकशिरा भुजङ्गः
सङ्कोचमन्दलुलितार्चिरुपैति शान्तिम् ॥ ९ ॥

तत्किमिदमुपनीतमिति । उच्यते ।

वेलामिव प्रचलितोर्मिफणः समुद्रः
शिक्षां मुनीन्द्रविहितामिव सत्यकामः ।
सत्यात्मनामिति न लङ्घयितुं यदाज्ञां
शक्तः कृशानुरपि सत्यमतो न जह्यात् ॥१०॥

तदेवं सत्यवचनपरिभावितां वाचमग्निरपि न प्रसहते लङ्घयितुमिति सत्यवचनेऽभियोगः करणीयः ॥ तथागतवर्णेऽपि वाच्यमिति ॥

इति वर्तकापोतकं जातकं षोडशम् ।

---

१७ कुम्भजातकम्

अनेकदोषोपसृष्टमतिकष्टं मद्यपानमिति साधवः परमप्यस्माद्वारयन्ति प्रागेवात्मानमिति ॥ तद्यथानुश्रूयते ।

बोधिसत्त्वः किल करुणातिशयपरिभावितमतिः परहितसुखोपपादनपरः पुण्यां प्रतिपदमुद्भावयन्दानदमसंयमादिभिः कदाचिच्छक्रो देवानामिन्द्रो बभूव । स प्रकर्षिणामपि दिव्यानां विषयसुखानां निकामलाभी सन्नपि करुणावशगत्वान्नैव लोकार्थचर्यासमुद्योगशिथिलं मनश्चकार ।

उस महासत्त्वके द्वारा इस सत्य-पूत वाणीमें कहे जाने पर—

वह अग्नि यद्यपि हवासे प्रेरित होता हुआ सूखे और घने तृणोंसे युक्त सूखी लकड़ियोंके बीच प्रज्वलित हो रहा था, तो भी वह उसके वचनको सुनकर तत्क्षण शान्त हो गया, मानो जल की अधिकतासे बढ़ी हुई किसी नदीमें पहुँच गया हो। ॥ ८॥

आज भी हिमवान्‌के उस विख्यात स्थान पर हवाके कारण ऊँची उठती लपटोंवाला दावाग्नि भी पहुँचकर संकोचमें पड़ जाता है, उसकी ज्वालाएँ ठण्ढी हो जाती हैं और वह बुझ जाता है, जैसे कि अनेक शिरवाला सर्प मन्त्रोंके प्रभावसे शान्त हो जाता है। ॥ ९॥

यह दृष्टान्त (=कथा) क्यों उपस्थित किया गया? कहता हूँ।

जैसे चञ्चल तरंगरूपी फणवाला समुद्र अपने तीरका या सत्यकाम[1] पुरुष मुनीन्द्रकी शिक्षाका अतिक्रमण नहीं कर सकता, वैसे ही अग्नि भी सत्यात्माओंकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सकता; अतः सत्यको नहीं छोड़ना चाहिए। ॥१०॥

तब इसी प्रकार सत्य-पूत वाणीका उल्लंघन अग्नि भी नहीं कर सकता। इसलिए सत्य वचनका अभ्यास करना चाहिए। तथागतका वर्णन करनेमें भी यह कथा कहनी चाहिए।

वर्तका-पोतक-जातक षोडश समाप्त।

---

१७ कुम्भ-जातक

मद्य-पान अनेक दोषोंका घर और अत्यन्त कष्ट-प्रद है, यह देखकर साधु पुरुष दूसरोंको भी इससे रोकते हैं अपनेको तो पहले ही। तब जैसी कि अनुश्रुति है—

जब बोधिसत्त्व अतिशय अनुकम्पाके कारण शुद्धचित्त (पवित्रात्मा) होकर, दूसरोंका हित-सुख सम्पादन करनेमें तत्पर होकर, दान दम संयम आदिसे अपना पवित्र आचरण प्रकट कर रहे थे तब वे एक बार देवोंके इन्द्र शक्र हुए। यद्यपि उत्कृष्ट दिव्य विषय-सुख उन्हें इच्छानुसार सुलभ थे तथापि करुणाके वशीभूत होकर उन्होंने लोकोपकारके उद्योगमें अपने मनको ढीला नहीं किया।

प्रायेण लक्ष्मीमदिरोपयोगाज्जागर्ति नैवात्महितेऽपि लोकः।
सुरेन्द्रलक्ष्म्यापि तु निर्मदोऽसावभूत्परार्थेष्वपि जागरूकः॥ १॥

अनेकतीव्रव्यसनातुरेषु सत्त्वेषु बन्धुष्विव जातहार्दः।
धैर्यात्स्वभावज्ञतयाश्रितश्च नासौ विसस्मार परार्थचर्याम्॥ २॥

अथ कदाचित्स महात्मा मनुष्यलोकमवलोकयन्ननुकम्पासमावर्जितेन मैत्रस्निग्धेन स्वभावमहता चक्षुषा ददर्श सर्वमित्रं नाम राजानमकल्याणमित्रसंपर्कदोषात् सपौरजानपदं मद्यपानप्रसङ्गाभिमुखम्। तत्र चास्यादोषदर्शितामवेक्ष्य महादोषतां च मद्यपानस्य स महात्मा महत्या करुणया समापीड्यमानहृदयश्चिन्तामापेदे। कष्टा बतेयमापदापतिता लोकस्य।

प्रमुखस्वादु पानं हि दोषदर्शनविक्लवान्।
श्रेयसोऽपहरत्येव रमणीयमिवापथम्॥ ३॥

तत्किमत्र प्राप्तकालं स्यात्। भवतु दृष्टम्।

प्रधानभूतस्य विचेष्टितानि जनोऽनुकर्तुं नियतस्वभावः।
इत्यत्र राजैव चिकित्सनीयः शुभाशुभं तत्प्रभवं हि लोके॥ ४॥

इति विनिश्चित्य स महासत्त्वस्तप्तकाञ्चनवर्णमापुरुषोद्ग्रथितजटाविटपधरं वल्कलाजिनसंवीतमोजस्वि ब्राह्मं वपुरभिनिर्माय सुरापूर्णं च वामपार्श्वस्थं नातिबृहन्तं कुम्भं सर्वमित्रस्य राज्ञः परिषदि संनिषण्णस्य प्रस्तावोपनतासु प्रवृत्तासु सुरासवशीधुमैरेयमधुकथासु पुरतोऽन्तरिक्ष प्रादुरभूत्। विस्मयबहुमानावर्जितेन च प्राञ्जलिना तेन जनेनाभ्युत्थाय प्रत्यर्च्यमानः सजल इव जलधरो गम्भीरमभिनदन्नुच्चैरुवाच।

प्राय: धन-मदके कारण लोग अपने हितमें भी तत्पर नहीं रहते, किंतु वे देवेन्द्रकी लक्ष्मी पाकर भी मदसे निर्लिप्त और परोपकारमें भी जागरूक रहे। ॥१॥

दारुण विपत्तियोंसे पीड़ित प्राणियोंके प्रति, जैसे अपने बन्धुओंके प्रति, दयार्द्र होकर वे अपने धैर्य और स्वभावके कारण परोपकारको नहीं भूले। ॥ २ ॥

एक बार जब वह महात्मा मनुष्य-लोकका निरीक्षण कर रहे थे तो उन्होंने अनुकम्पासे विनम्र और मैत्रीसे स्निग्ध अपनी स्वभावतः विशाल आँखोंसे देखा कि सर्वमित्र नामक राजा अकल्याण (बुरे) मित्रोंके कुसङ्गमें पड़कर नगर और ग्रामकी जनताके साथ मद्य-पानमें आसक्त है। मद्य-पानमें महादोष है और वह इस दोषको नहीं देख रहा है, यह जानकर उस महात्माका हृदय करुणासे भर आया। वे सोचने लगे —"हा कष्ट! मनुष्योंके ऊपर यह विपत्ति आई है।

जो दोष देखनेमें असमर्थ हैं उन्हें यह मद्य-पान—जो आरम्भमें स्वादिष्ठ लगता है—रमणीय कुमार्गकी भाँति कल्याणसे दूर ले जाता है। ॥ ३ ॥

इस विषयमें अब क्या किया जाय। देखता हूँ—

जो (मनुष्योंके बीच) प्रधान है उसके कार्योंका अनुकरण करना जनताका निश्चित स्वभाव है। अत: इस विषयमें राजा की ही चिकित्सा करना उचित है; क्योंकि लोगोंका जो कुछ भला-बुरा होता है वह राजा के गुण-दोष से ही।" ॥४॥

यह निश्चय कर उस महात्माने तपे हुए सोनेके रंगका तेजस्वी ब्राह्मण-रूप बनाया। पुरुषकी लम्बाईकी जटा धारण की। वल्कल और मृग-चर्मसे अपनेको ढक लिया। वाम पार्श्वमें मदिरासे भरा हुआ मँझोले आकारका घड़ा ले लिया। राजा सर्वमित्र अपनी सभामें बैठा था, वहाँ सुरा आसव शीधु (शराब) मैरेय (मदिरा) और मधु (मद्य) की कथा आरम्भ हो चुकी थी। उसी समय वे राजाके समक्ष अन्तरिक्षमें प्रकट हुए। विस्मय और सन्मान-भावसे प्रेरित होकर सभासद्गण उठ खड़े हुए और हाथ जोड़कर उनकी पूजा करने लगे। तब सजल बादलके समान गम्भीर गर्जन करते हुए उन्होंने उच्च स्वरसे कहा—

पुष्पमालाहसत्कण्ठमिमं भरितमाकण्ठम् ।
अवतंसकृताकुम्भं क्रेतुमिच्छति कः कुम्भम् ॥ ५ ॥

सवलयमिव पुष्पमालया प्रविततयानिलकम्पलीलया ।
किसलयरचनासमुत्कटं घटमिममिच्छति कः क्रयेण वः ॥ ६ ॥

अथैनं स राजा विस्मयावर्जितकौतूहलः सबहुमानमीक्षमाणः कृताञ्जलिरुवाच ।

दीप्त्या नवार्क इव चारुतया शशीव
संलक्ष्यसे च वपुषान्यतमो मुनीनाम् ।
तद्वक्तुमर्हसि यथा विदितोऽसि लोके
संभावना हि गुणतस्त्वयि नो विचित्रा ॥ ७ ॥

शक्र उवाच ।

पश्चादपि ज्ञास्यसि योऽहमस्मि घटं त्विदं क्रेतुमितो घटस्व ।
न चेद्भयं ते परलोकदुःखादिहैव तीव्रव्यसनागमाद्वा ॥ ८ ॥

राजोवाच । अपूर्वः खल्वयमत्रभवतः पश्य विक्रयारम्भः ।

गुणसंवर्णनं नाम दोषाणां च निगूहनम् ।
प्रसिद्ध इति लोकस्य पण्यानां विक्रयक्रमः ॥ ९ ॥

युक्तो वानृतभीरूणां त्वद्विधानामयं विधिः ।
न हि कृच्छ्रेऽपि संत्यक्तुं सत्यमिच्छन्ति साधवः ॥१०॥

तदाचक्ष्व महाभाग पूर्णः कस्य घटो न्वयम् ।
किं वा विनिमये प्राप्यमस्मत्तस्त्वादृशैरपि ॥११॥

शक्र उवाच । श्रूयतां महाराज ।

नायं तोयदविच्युतस्य पयसः पूर्णो न तीर्थाम्भसः
कैञ्जल्कस्य सुगन्धिनो न मधुनः सर्पिर्विशेषस्य वा ।
न क्षीरस्य विजृम्भमाणकुमुदव्यभ्रेन्दुपादच्छवेः
पूर्णः पापमयस्य यस्य तु घटस्तस्य प्रभावं शृणु ॥१२॥

"फूलोंकी मालासे इस घड़ेका कण्ठ उज्ज्वल है और यह कण्ठतक भरा हुआ है। इस अलंकृत घड़ेको कौन खरीदना चाहता है ? ॥ ५ ॥

हवामें हिलती हुई फूलोंकी बड़ी मालासे, जैसे कंकणसे, परिवेष्टित तथा किसलयोंसे विभूषित इस घड़ेको आप लोगोंमेंसे कौन खरीदना चाहता है ?" ॥६॥

तब विस्मय और कुतूहलके वशीभूत होकर राजाने उनकी ओर देखते हुए कहा—

"आप बाल सूर्यके समान दीप्तिमान् और चन्द्रमाके समान सुन्दर हैं। आपके रूपसे जान पड़ता है कि आप मुनियोंमेंसे कोई हैं। अतः आप बतलायें कि लोग क्या कहकर आपको जानते हैं। हम आपमें तरह तरहके सद्‌गुणोंकी संभावना करते हैं।" ॥ ७ ॥

शक्रने कहा—

"मैं जो हूँ वह आप पीछे भी जानेंगे। यदि आप परलोकमें होनेवाले दुःख और इहलोकमें ही आनेवाली भारी विपत्तिसे भय-भीत नहीं हैं तो इस घड़ेको खरीदनेका यत्न करें।" ॥ ८ ॥

राजाने कहा—"आपका बेचनेका यह उपक्रम अपूर्व है।

गुणोंका वर्णन करना और दोषोंका छिपाना—संसारमें सौदा बेचनेकी यही प्रसिद्ध पद्धति है। ॥ ९ ॥

या असत्यसे डरनेवाले आप-सरीखोंका यही तरीका उचित है। कष्टमें पड़कर भी सज्जन सत्यको नहीं छोड़ना चाहते। ॥ १० ॥

अतः, हे महाभाग, बतलाइये कि किस चीजसे यह घड़ा भरा हुआ है और इसके विनिमय (=बदले)में आप सरीखे (महापुरुष) हमसे क्या लेंगे।" ॥ ११ ॥

शक्रने कहा—"सुनिये, हे महाराज,

यह बादलसे गिरे हुए (वृष्टि-) जलसे या तीर्थ-जलसे भरा हुआ नहीं है, न पुष्प-परागके सुगन्धित मधुसे और न उत्तम घृतसे ही भरा हुआ है, खिलते हुए कुमद और मेघोन्मुक्त चन्द्र-किरणके समान उज्ज्वल दूधसे भी भरा हुआ नहीं है। जिस पाप-वस्तुसे यह घड़ा परिपूर्ण है उसका प्रभाव सुनिये। ॥ १२ ॥

यत्पीत्वा मददोषविह्वलतयास्वतन्त्रश्चर-[1]
न्देशेष्वप्रपतेष्वपि प्रपतितो मन्दप्रभावस्मृतिः ।
भक्ष्याभक्ष्यविचारणाविरहितस्तत्तत्समास्वादये-
त्तत्संपूर्णमिमं गतं क्रयपथं क्रीणीत कुम्भाधमम् ।।१३।।
अनीशः स्वे चित्ते विचरति यया संहृतमति-
र्द्विषां हासायासं समुपजनयन्गौरिव जडः ।
सदोमध्ये नृत्येत्स्वमुखपटहेनापि च यया
क्रयार्हा सेयं वः शुभविरहिता कुम्भनिहिता ।।१४।।
पीत्वोचितामपि जहाति ययात्मलज्जां
निर्ग्रन्थवद्वसन-संयम-खेद-मुक्तः ।
धीरं चरेत्पथिषु पौरजनाकुलेषु
सा पश्यतामुपगता[2] निहितात्र कुम्भे ।।१५।।
यत्पीत्वा वमथुसमुद्गतान्नलिप्ता
निःशङ्कैः श्वभिरवलिह्यमानवक्त्राः ।
निःसंज्ञा नृपतिपथिष्वपि स्वपन्ति
प्रक्षिप्तं क्रयसुभगं तदत्र कुम्भे ।।१६।।
उपयुज्य यन्मदबलादबला विनिबन्धयेदपि तरौ पितरौ ।
गणयेच्च सा धनपतिं न पतिं तदिदं घटे विनिहितं निहितम् ।।१७।।
यां पीतवन्तो मदलुप्तसंज्ञा वृष्ण्यन्धका विस्मृतबन्धुभावाः ।
परस्परं निष्पिपिषुर्गदाभिरुन्मादनी सा निहितेह कुम्भे ।।१८।।
यत्र प्रसक्तानि कुलानि नेशुर्लक्ष्मीनिकेतान्युदितोदितानि ।
उच्छेदनी वित्तवतां कुलानां सेयं घटे क्रय्यतयाधिरूढा ।।१९।।

१ पा० 'यत्पीत्वा मददोषविह्वलतया लोकोऽस्वतन्त्रश्चर-' ?
२ पा० 'पण्यतामुपगता' —स्पेयर ।

जिसको पीकर नशेकी व्याकुलतामें अस्वतंत्र होकर चलता हुआ आदमी बेहोश होकर समतल भूमिपर भी फिसलता है, भक्ष्य-अभक्ष्यके विचारसे रहित होकर सब चीजोंको खा सकता है, उसी पेय वस्तुसे भरा हुआ यह अधम घड़ा बिक्रीके लिए आया है, इसे खरीदो। ॥१३॥

जिसके पीनेसे मनुष्य हतबुद्धि होकर अपने चित्तपर अधिकार खो बैठता है और मूर्ख बैलके समान शत्रुओंका हास्यास्पद होता है, जिसके पीनेसे सभामें जाकर अपने मुखरूपी ढोलको बजाता हुआ नृत्य कर सकता है यह वही अशुभ वस्तु इस घड़ेमें रखी हुई है, आप इसे खरीद सकते हैं। ॥ १४ ॥

जिसको पीकर मनुष्य उचित आत्म-लज्जा भी खो देता है और नग्न व्यक्ति (या दिगम्बर जैन भिक्षु) के समान कपड़ा पहनने (संभालने) के परिश्रमसे मुक्त होकर नागरिकोंसे भरे हुए रास्तोंपर धीरे-धीरे चलता है वही सौदा इस घड़ेमें रखा हुआ है।॥ १५ ॥

जिसके पीनेसे बेहोश होकर लोग राज-मार्गपर सोते हैं और वमनसे निकले हुए अन्नसे लिप्त उनके मुखोंको कुत्ते निर्भय होकर चाटते रहते हैं वही सुन्दर सौदा इस घड़ेमें रखा हुआ है। ॥ १६ ॥

जिसके उपयोगसे मत्त होकर अबला नारी भी अपने माता-पिताको वृक्षपर बाँध सकती है या अपने धनवान् पतिका भी अनादर कर सकती है वही वस्तु इस घड़ेमें रखी हुई है। ॥ १७ ॥

जिसके पीनेसे नशेमें बेहोश होकर वृष्णि-अन्धकोंने बन्धु -भावको भूलकर गदाके प्रहारों से एक-दूसरे को पीस डाला वही उन्मादनी (पागलपन पैदा करने वाली सुरा) इस घड़ेमें रखी हुई है।॥ १८ ॥

जिसमें आसक्त होकर कितने ही ऐश्वर्यशाली कुल नष्ट हुए, धनवानों के कुलोंका नाश करनेवाली यह वही चीज इस घड़ेमें बिक्रीके लिए रखी हुई है। ॥ १९ ॥

अनियतरुदितस्थितविहसितवा-
ग्जडगुरुनयनो ग्रहवशग इव ।
परिभवभवनं भवति च नियतं
यदुपहतमतिस्तदिदमिह घटे ॥२०॥

प्रवयसोऽपि यदाकुलचेतनाः स्वहितमार्गसमाश्रयकातराः ।
बहु वदन्त्यसमीक्षितनिश्चयं क्रयपथेन गतं तदिदं घटे ॥२१॥

यस्या दोषात्पूर्वदेवाः प्रमत्ता लक्ष्मीमोषं देवराजादवाप्य ।
त्राणापेक्षास्तोयराशौ ममज्जुस्तस्याः पूर्णं कुम्भमेतं वृणीत ॥२२॥

ब्रूयादसत्यमपि सत्यमिव प्रतीतः
कुर्यादकार्यमपि कार्यमिव प्रहृष्टः ।
यस्या गुणेन सदसत्सदसच्च विद्या-
च्छापस्य मूर्तिरिव सा निहितेह कुम्भे ॥२३॥

उन्मादविद्यां व्यसनप्रतिष्ठां साक्षादलक्ष्मीं जननीमघानाम् ।
अद्वैतसिद्धां कलिपद्धतिं तां क्रीणीत घोरां मनसस्तमिस्राम् ॥२४॥

परिमुषितमतिर्यया निहन्यादपि पितरं जननीमनागसं वा ।
अविगणितसुखायतिर्यतिं वा क्रयविधिना नृप तामितो गृहाण ॥२५॥

एवंविधं मद्यमिदं नरेन्द्र सुरेति लोके प्रथितं सुराभ ।
न पक्षपातोऽस्ति गुणेषु यस्य स क्रेतुमुद्योगमिदं करोतु ॥२६॥

निषेव्य यद्दुश्चरितप्रसक्ताः पतन्ति भीमान्नरकप्रपातान् ।
तिर्यग्गतिं प्रेतदरिद्रतां च को नाम तद्द्रष्टुमपि व्यवस्येत् ॥२७॥

जिसके सेवनसे रोने हँसने बैठने (खड़ा होने) या बोलनेका नियम टूट जाता है, ग्रहाविष्ट (ग्रहके वशीभूत) व्यक्तिके समान आँखें भारी और निश्चल हो जाती हैं। जिससे हतबुद्धि होकर मनुष्य अवश्य ही अपमानका पात्र बन जाता है वही है इस घड़ेमें। ॥२०॥

जिससे आकुल-चित्त होकर वयस्क भी अपनी भलाईके रास्तेपर चलनेमें असमर्थ होते हैं, विना विचारे बहुत बोलते हैं, यह वही चीज बिक्रीके लिए इस घड़ेमें है। ॥ २१ ॥

जिसके दोषसे पूर्वकालके देवोंने प्रमाद (असावधानी) किया, देव-राज के द्वारा लक्ष्मीसे च्युत हुए, और रक्षाके लिए जाकर समुद्रमें डूब गये (या छिप गये), उसीसे भरा है यह घड़ा, इसे ग्रहण करो। ॥ २२ ॥

जिसके प्रभावसे असत्यको भी विश्वासपूर्वक सत्य समझकर कहे, अकार्य-को भी कार्य समझकर प्रसन्नतापूर्वक करे, सत् (भला) को असत् (बुरा) और असत्‌को सत् समझे, मूर्त्त अभिशापके समान वही चीज इस घड़ेमे रखी हुई है। ॥ २३ ॥

यह उन्माद पैदा करनेवाली विद्या, विपत्तिका घर, साक्षात् अलक्ष्मी, पापोंकी जननी, और कलिका निश्चित मार्ग है, इस घोर मानसिक अन्ध-कारको खरीदो। ॥ २४ ॥

जिससे बुद्धि-विहीन होकर भावी सुखकी उपेक्षा करता हुआ मनुष्य निष्पाप माता-पिता या मुनिकी हत्यातक कर सकता है, हे राजन्, उसे खरीदकर आप इस घड़ेसे ग्रहण करें। ॥ २५ ॥

हे देवोपम नरेन्द्र, इस प्रकारका है यह मद्य। संसारमें सुरा नामसे यह विख्यात है। जो सद्‌गुणोंका पक्षपाती (प्रेमी) नहीं है वह इसे खरीदने का उद्योग करे। ॥ २६ ॥

जिसके सेवनसे कुकर्मोंमें फँसकर लोग भयंकर नरकोंमें पशु-पक्षियोंकी योनिमें और कष्ट-प्रद प्रेत-योनिमें गिरते हैं उसे क्या कोई देखनेका भी विचार कर सकता है? ॥ २७ ॥

लघुरपि च विपाको मद्यपानस्य यः स्या-
न्मनुजगतिगतानां शीलदृष्टीः स हन्ति ।
ज्वलितदहनरौद्रे येन भूयोऽप्यवीचौ
निवसति पितृलोके हीनतिर्यक्षु चैव ॥२८॥

शीलं निमीलयति हन्ति यशः प्रसह्य
लज्जां निरस्यति मतिं मलिनीकरोति ।
यन्नाम पीतमुपहन्ति गुणांश्च तांस्तां-
स्तत्पातुमर्हसि कथं नृप मद्यमद्य ॥२९॥

अथ स राजा तैस्तस्य हृदयग्राहकैर्हेतुमद्भिर्वचोभिरवगमितमद्य-पानदोषो मद्यप्रसङ्गादपवृत्ताभिलाषः शक्रमित्युवाच ।

स्निग्धः पिता विनयभक्तिगुणाद्गुरुर्वा
यद्वक्तुमर्हति नयानयविन्मुनिर्वा ।
तावत्त्वया स्वभिहितं हितकाम्यया मे
तत्कर्मणा विधिवदर्चयितुं यतिष्ये ॥३०॥

इदं च तावत्सुभाषितप्रतिपूजनमर्हति नोऽत्रभवान् प्रतिग्रहीतुम् ।
ददामि ते ग्रामवरांश्च पञ्च दासीशतं पञ्च गवां शतानि ।
सदश्वयुक्तांश्च रथान्दशेमान्हितस्य वक्ता हि गुरुर्ममासि ॥३१॥

यद्वा मयान्यत्करणीयं तत्संदेशादर्हत्यत्रभवान्भूयोऽपि मामनुग्रही-तुम् ॥ शक्र उवाच ।

अर्थोऽस्ति न ग्रामवरादिना मे सुराधिपं मामभिगच्छ राजन् ।
संपूजनीयस्तु हितस्य वक्ता वाक्प्रग्रहेण प्रतिपन्मयेन ॥३२॥

जिस मद्य-पानका थोड़ा-सा भी परिणाम मनुष्य-योनिमें रहनेवालोंके आचार-विचारकी हत्या करता है, और जिसके कारण पुनः (परलोकमें) प्रज्वलित अग्निसे भयंकर अवीचि नरकमें, पितृ-लोक (=प्रेत-लोक) में, और पशु-पक्षियोंकी निकृष्ट योनिमें निवास करना पड़ता है, ॥ २८ ॥

जो मद्य-पान शीलका नाश करता है, कीर्तिकी बलात् हत्या करता है, लज्जाको दूर करता है, बुद्धिको मलिन करता है, नाना प्रकारके सद्गुणों-को नष्ट करता है, वह मद्य-पान, हे राजन्, क्या आपके लिए अब उचित है?" ॥ २९ ॥

राजाने जब उनके उन हृदयाकर्षक युक्ति-युक्त वचनोंको सुनकर मद्य-पानके दोष जान लिये तब मद्य-पानकी ओरसे निरभिलाष (विमुख) होकर शक्रसे कहा—

"स्नेही पिता या (शिष्यकी) विनय-भक्तिके कारण गुरु या नीति-अनीतिके जाननेवाले मुनि जो कुछ कह सकते हैं वह सब आपने मेरी भलाई की इच्छासे अच्छा ही कहा। मैं आचरणद्वारा आपके वचनोंकी विधिवत् पूजा करनेकी चेष्टा करूँगा। ॥ ३० ॥

और तबतक इन सुभाषितों (=सदुक्तियों) के पुरस्कारमें आप मुझसे यह पूजा स्वीकार करें—

मैं आपको पाँच उत्तम ग्राम, एक सौ दासियाँ, पाँच सौ गाएँ और अच्छे घोड़ोंसे युक्त ये दश रथ देता हूँ, क्योंकि आप हित-वक्ता मेरे गुरु हैं। ॥ ३१ ॥

या मेरे करने योग्य और कुछ हो तो उसके लिए आदेश देकर आप मुझे पुनः अनुगृहीत करें।" शक्रने कहा—

"मुझे उत्तम ग्राम आदि से प्रयोजन नहीं है। हे राजन्, आप मुझे देवताओंका अधिपति (इन्द्र) समझें। आचरणके रूपमें वचनको ग्रहण कर (वचनको आचरणमें लाकर) हित-वक्ताकी पूजा करनी चाहिए। ॥३२॥

अयं हि पन्था यशसः श्रियश्च परत्र सौख्यस्य च तस्य तस्य ।
अपास्य तस्मान्मदिराप्रसङ्गं धर्माश्रयान्मद्विषयं भजस्व ॥३३॥

इत्युक्त्वा शक्रस्तत्रैवान्तर्दधे । स च राजा सपौरजानपदो मद्यपानाद्विरराम ।

तदेवमनेकदोषोपसृष्टमतिकष्टं मद्यपानमिति साधवः परमस्माद्वारयन्ति प्रागेवात्मानमिति ॥ एवं लोकहितः पूर्वजन्मस्वपि स भगवानिति तथागतवर्णेऽपि वाच्यम् ॥

इति कुम्भजातकं सप्तदशम् ।

---

१८ अपुत्रजातकम्

शीलप्रशमप्रतिपक्षसंबाधं गार्हस्थ्यमित्येवमात्मकामा न रोचयन्ते । तद्यथानुश्रूयते ।

बोधिसत्त्वः किल कस्मिंश्चिदिभ्यकुले श्लाघनीयवृत्तचारित्रसंपन्ने प्रार्थनीयसंबन्धे कुलोद्भवानां निपानभूते श्रमणब्राह्मणानां कोशकोष्ठागारनिर्विशेषे मित्रस्वजनानामभिगमनीये कृपणवनीपकानामुपजीव्ये शिल्पिजनस्यास्पदभूते लक्ष्म्या दत्तानुग्रहसत्कारे राज्ञो लोकाभिसंमते जन्म प्रतिलेभे । स कालानामत्ययेनाभिवृद्धः कृतश्रमो लोकाभिमतेषु विद्यास्थानेष्वपरोक्षबुद्धिर्विविधविकल्पाश्रयासु कलासु जननयनकान्तेन च वपुषा धर्माविरोधिन्या च लोकज्ञतया स्वजन इव लोकस्य हृदयेषु पर्यवर्तत ।

नहि स्वजन इत्येव स्वजनो बहुमन्यते ।
जनो वा जन इत्येव स्वजनाद्दृश्यतेऽन्यथा ॥ १ ॥

इस मार्गपर चलनेसे (इहलोकमें) कीर्ति और लक्ष्मी प्राप्त होगी तथा परलोकमें नाना प्रकारके सुख मिलेंगे। अतः मद्य-पानकी आदत छोड़कर धर्मकी शरणमें रहते हुए स्वर्ग प्राप्त करो।" ॥ ३३ ॥

यह कहकर शक्र वहीं अन्तर्धान हो गये। वह राजा ग्राम-वासियों और नगर-निवासियोंके साथ मद्य-पानसे विरत हुआ।

इस प्रकार मद्य-पान अनेक दोषोंसे युक्त और अत्यन्त कष्टप्रद है, यह देखकर सज्जन दूसरेको भी इससे रोकते हैं, अपनेको तो पहले ही। इस प्रकार अपने पूर्व-जन्मोंमें भी वह भगवान् लोकोपकारी थे, यह तथागत के वर्णनमें भी कहना चाहिए।

कुम्भ-जातक सप्तदश समाप्त।

---

१८ अपुत्र-जातक

शील और शान्तिमें बाधक होनेके कारण गृहस्थ-जीवन आत्म-संयम (आत्म-कल्याण) चाहनेवालोंको नहीं पसन्द होता है। तब जैसी कि अनुश्रुति है—

एक बार बोधिसत्त्वने किसी धनी और सदाचारी कुलमें जन्म लिया। कुलीन व्यक्ति उस कुलसे सम्बन्धके लिए इच्छुक रहते थे। वह परिवार श्रमणों और ब्राह्मणोंके लिए कुआँके समान था। मित्रों और स्वजनोंके लिए उसके कोश और भण्डार समान रूपसे खुले रहते थे। वहाँ दरिद्रों और याचकोंकी पहुँच थी। वह परिवार शिल्पियोंकी आजीविकाका अवलम्ब और लक्ष्मीका निवास-स्थान था। राजाके अनुग्रह-सत्कारका पात्र और लोक-सन्मानित था। ऐसे कुलमें जन्म पाकर जब बोधिसत्त्व काल-क्रमसे बड़े हुए तब उन्होंने लोक-विख्यात विद्याओंके अभ्यासमें परिश्रम किया और नाना प्रकारकी कलाओंसे परिचय प्राप्त किया। अपनी दर्शनीय आकृति और धर्म-संगत लोक-व्यवहारकी अभिज्ञता (जानकारी) से वे लोगोंके हृदयमें स्वजनके समान विराजमान हुए।

स्वजन होनेके कारण ही स्वजनका सन्मान नहीं किया जाता; और, न पराया होनेके कारण ही किसीको स्वजनसे भिन्न समझा जाता है। ॥ १ ॥

गुणदोषाभिमर्शात्तु बहुमानावमानयोः।
व्रजत्यास्पदतां लोकः स्वजनस्य जनस्य वा ॥ २ ॥

कृतप्रव्रज्यापरिचयत्वात्तु तस्य महासत्त्वस्य

पर्येष्टिदुःखानुगतां विदित्वा गृहस्थतां धर्मविरोधिनीं च।
सुखोदयत्वं च तपोवनानां न गेहसौख्येषु मनः ससञ्जे ॥ ३ ॥

स मातापित्रोः कालक्रियया संविग्नहृदयस्तमनेकशतसहस्रसंख्यं गृहविभवसारं मित्रस्वजनकृपणश्रमणब्राह्मणेभ्यो यथार्हमतिसृज्य प्रवव्राज ॥ सोऽनुपूर्वेण ग्रामनगरनिगमराष्ट्रराजधानीष्वनुविचरन्नन्यतमनगरमुपश्रित्य कस्मिंश्चिद्वनप्रस्थे निवसति स्म। स ध्यानगुणाभ्यासात् सात्मीभूतेनाकृतकेनेन्द्रियप्रसादेन श्रुतिहृदयह्लादिना च विद्वत्तासूचकेनानुत्सिक्तेन विगतलाभाशाकार्पण्यदैन्येन विनयौजस्विना यथार्हमधुरोपचारसौष्ठवेन धर्माधर्मविभागनिपुणेन च वचसा प्रव्रजिताचारशोभरया (च) सज्जनेष्टया चेष्टया तत्राभिलक्षितो बभूव। कौतूहलिना च जनेन समुपलब्धकुलप्रव्रज्याक्रमः सुष्ठुतरं लोकसंमतस्तत्राभूत्।

आदेयतरतां यान्ति कुलरूपगुणाद्गुणाः।
आश्रयातिशयेनेव चन्द्रस्य किरणाङ्कुराः ॥४॥

अथास्य तत्राभिगमनमुपलभ्य पितृवयस्यः समभिगम्य चैनं गुणबहुमानात् कुशलपरिप्रश्नपूर्वकं चास्मै निवेद्यात्मानं पितृवयस्यतां च संकथाप्रस्तावागतमेनं स्नेहादुवाच। चापलमिव खल्विदमनुवर्तितं भवन्तेनानपेक्ष्य कुलवंशमस्मिन्वयसि प्रव्रजता।

आराध्यते सत्प्रतिपत्तिमद्भिर्धर्मो यदायं भवने वने वा।
श्रीमन्ति हित्वा भवनान्यतस्त्वं कस्मादरण्येषु मतिं करोषि ॥ ५ ॥

अपने गुण-दोषोंके अनुसार ही मनुष्य स्वजन या परायेके योग्य सन्मान या अपमानका पात्र होता है। ॥ २ ॥

वह महात्मा प्रव्रज्यासे परिचित थे।

उन्होंने देखा कि गार्हस्थ्य एषणा (भोगोंकी चाह व खोज) के दुःखसे युक्त और धर्मका बाधक है, जब कि तपोवन सुख-प्राप्तिका स्थान है। यह देखकर घरके सुखोंमें उनका मन नहीं लगा। ॥ ३ ॥

माता-पिताके काल करनेसे (=मरनेसे) उनके हृदयमें वैराग्य हो गया। उन्होंने अपने घरकी वह लाखोंकी सम्पत्ति मित्रों स्वजनों दीन-दुखियों श्रमणों (=संन्यासियों) और ब्राह्मणोंको यथायोग्य दान कर दी और वे (घर छोड़कर) प्रव्रजित हो गये। वे क्रमसे ग्रामों नगरों निगमों राज्यों और राजधानियोंमें विचरण करते हुए किसी नगरके निकट एक वनमें रहने लगे। ध्यानका अभ्यास होनेसे उनकी इन्द्रियोंमें स्वाभाविक शान्ति थी। उनकी वाणी- कान और हृदयको आनन्द देनेवाली, विद्वत्तासूचक, अभिमान-रहित, लाभकी आशासे होनेवाले दुःख-दैन्यसे रहित, विनयपूर्ण एवं ओजस्विनी, यथायोग्य मधुर व्यवहारके कारण मनोहर, तथा धर्म और अधर्मका विवेचन करनेमें निपुण थी। उनका आचरण प्रव्रज्या और सज्जनताके अनुरूप था। उन्होंने घर छोड़कर प्रव्रज्या ग्रहण की है, यह समाचार पाकर कौतूहलपूर्ण जनताने उनका बड़ा सन्मान किया—

कुल और रूपको पाकर सद्गुण अधिक उपादेय हो जाते है, जैसे उत्तम आश्रयको पाकर चन्द्रमाकी किरणें चमकती हैं[1]। ॥ ४ ॥

उनका वहाँ पहुँचना जानकर उनके पिताके मित्रने उनके गुणोंके प्रति आदर-भावके कारण उनके समीप जाकर कुशल-प्रश्न पूछा। और, अपना तथा पिताकी मित्रताका परिचय देकर वार्तालापके प्रसङ्गमें उनसे स्नेह-पूर्वक कहा—"इस (नई) अवस्थामें कुल और वंशकी उपेक्षा कर आप प्रव्रजित हुए हैं, यह आपकी चपलता (लड़कपन) है।

जब कि सदाचारियोंके द्वारा यह धर्म वनमें या घरमें भी प्राप्त किया जा सकता है तब अपने श्री-सम्पन्न (धन-धान्य-पूर्ण) घरको छोड़कर आप क्यों जंगलमें रहना पसन्द करते हैं ? ॥ ५ ॥

परप्रसादार्जितभैक्षवृत्तिरगण्यमानः खलवज्जनेन ।
कुचेलभृद्बन्धुसुहृद्विहीनो वनान्तभूमावपविद्धकायः ॥ ६ ॥

मूर्तं दरिद्रत्वमिवोपगुह्य कथं नु शोकस्य वशं प्रयासि ।
इमामवस्थां हि तवेक्षमाणा द्विषोऽपि बाष्पापिहितेक्षणाः स्युः ॥७॥

तदेहि पित्र्यं भवनं तवेदं श्रुतार्थसारं भवतापि नूनं ।
संपादयेथा निवसंस्त्वमत्र धर्मं च सत्पुत्रमनोरथं च ॥ ८ ॥

लोकप्रवादः खल्वपि चैषः ।

परकर्मकरस्यापि स्वे निपानसुखा गृहाः ।
किं पुनः सुखसंप्राप्ताः समृद्धिज्वलितश्रियः ॥ ९ ॥

अथ बोधिसत्त्वः प्रविवेकसुखामृतरसपरिभावितमतिस्तत्प्रवण-हृदयः समुपलब्धविशेषो गृहवनवासयोः कामोपभोगनिमन्त्रणायां तृप्त इव भोजनकथायामसुखायमान उवाच ।

इदं स्नेहोद्गतत्वात्ते काममल्पात्ययं वचः ।
सुखसंज्ञां तु मा कार्षीः कदाचिद्गृहचारके ॥१०॥

गार्हस्थ्यं महदस्वास्थ्यं सधनस्याधनस्य वा ।
एकस्य रक्षणायासादितरस्यार्जनश्रमात् ॥११॥

यत्र नाम सुखं नैव सधनस्याधनस्य वा ।
तत्राभिरतिसंमोहः पापस्यैव फलोदयः ॥१२॥

यदपि चेष्टं गृहस्थेनापि शक्यमयमाराधयितुं धर्म इति काममेव-मेतत् । अतिदुष्करं तु मे प्रतिभाति धर्मप्रतिपक्षसंबाधत्वाच्छ्रमबाहु-ल्याच्च गृहस्य । पश्यतु भवान् ।

आप दूसरोंकी कृपासे प्राप्त भिक्षापर रहते हैं, लोग आपको दुष्ट (बदमाश) समझकर उपेक्षाकी दृष्टिसे देखते हैं। आप फटा-पुराना कपड़ा पहनते हैं। बन्धुओं और मित्रोंको छोड़कर वन-भूमिमें एकान्त-वास करते हैं (अपने शरीरको कष्ट देते हैं)। ॥ ६ ॥

साक्षात् दरिद्रताका आलिङ्गन कर आप क्यों कष्ट उठा रहे हैं? यदि आपके शत्रु भी आपकी इस अवस्थाको देख पायें तो उनकी भी आँखें आँसुओं (के प्रवाह) से बन्द हो जायँ। ॥ ७ ॥

अतः आप अपने पिताके घर, जिसकी उत्तम सम्पत्ति आपको भी अवश्य विदित है, लौट चलिये। वहाँ रहकर आप धर्म और सत्पुत्र[1] प्राप्त कीजिये। ॥८॥

यह लोकोक्ति भी तो है—

दूसरोंके काम करनेवाले (मजदूर या नौकर) के लिए भी अपना घर जलाशयके समान सुख-दायक होता है। फिर अनायास-प्राप्त समृद्धिशाली श्री-सम्पन्न घर (के सुख) का क्या कहना?" ॥ ९ ॥

बोधिसत्त्वकी बुद्धि वैराग्य-सुखके अमृत-रससे पवित्र हो गई थी। उनका हृदय उसीमें डूबा हुआ था। उन्हें गृहस्थ-जीवन और वन-वासका अन्तर विदित था। कामोपभोगके निमन्त्रणसे उन्हें उतना ही कष्ट हुआ जितना कि (भोजनसे) परितृप्त व्यक्तिको भोजनकी बात सुनकर होता है। उन्होंने कहा—

"अवश्य ही स्नेहके वशीभूत होकर आपने यह वचन कहा है, अतः इससे बहुत दुःख नहीं हुआ। किंतु गृहस्थीमें सुख होनेका भान कभी नहीं करना चाहिए।॥१०॥

धनी हो या निर्धन, दोनोंके लिए ही गृहस्थ-जीवन बड़ा कष्ट-दायक है। एकको (धनकी) रक्षामें कष्ट होता है और दूसरेको उपार्जनमें परिश्रम करना पड़ता है। ॥ ११ ॥

जिस गृहस्थ-जीवनमें धनी या निर्धन दोनोंको ही कष्ट होता है उसमें यदि आनन्द-प्राप्तिका भ्रम हो तो यह पापका ही फलोदय है। ॥ १२ ॥

यह कहना कि घरमें रहकर भी यह धर्म प्राप्त किया जा सकता है, सत्य है। किंतु मुझे तो यह अत्यन्त दुष्कर जान पड़ता है; इसलिए कि गृहस्थ-जीवन धर्मके प्रतिपक्षों (धर्मकी विरोधी चीजों) से भरा हुआ है और उसमें थकावट (अशान्ति) भी बहुत है। आप देखें—

गृहा नानीहमानस्य न चैवावदतो मृषा।
न चानिक्षिप्तदण्डस्य परेषामनिकुर्वतः ॥१३॥

तदयं गृहसुखावबद्धहृदयस्तत्साधनोद्यतमतिर्जनः।
यदि धर्ममुपैति नास्ति गेहमथ गेहाभिमुखः कुतोऽस्य धर्मः।
प्रशमैकरसो हि धर्ममार्गो गृहसिद्धिश्च पराक्रमक्रमेण ॥१४॥
इति धर्मविरोधदूषितत्वाद्गृहवासं क इवात्मवान्भजेत।
परिभूय सुखाशया हि धर्मं नियमो नास्ति सुखोदयप्रसिद्धौ ॥ १५॥
नियतं च यशःपराभवः स्यादनुतापो मनसश्च दुर्गतिश्च।
इति धर्मविरोधिनं भजन्ते न सुखोपायमपायवन्नयज्ञाः ॥१६॥

अपि च। सुखो गृहवास इति श्रद्धागम्यमिदं मे प्रतिभाति।

नियतार्जनरक्षणादिदुःखे वधबन्धव्यसनैकलक्ष्यभूते।
नृपतेरपि यत्र नास्ति तृप्तिर्विभवैस्तोयनिधेरिवाम्बुवर्षैः ॥१७॥

सुखमत्र कुतः कथं कदा वा परिकल्पप्रणयं न चेदुपैति।
विषयोपनिवेशनेऽपि मोहाद्व्रणकण्डूयनवत्सुखाभिमानः ॥१८॥

बाहुल्येन च खलु ब्रवीमि।

प्रायः समृद्ध्या मदमेति गेहे मानं कुलेनापि बलेन दर्पम्।
दुःखेन रोषं व्यसनेन दैन्यं तस्मिन्कदा स्यात्प्रशमावकाशः ॥१९॥

घर (गृहस्थी) उसके लिए नहीं है जो इच्छासे रहित है, जो झूठ नहीं बोलता है, जो (कभी किसीको) दण्ड नहीं देता है[1] और जो दूसरोंको कष्ट नहीं पहुँचाता है। ॥ १३ ॥

जिसका मन घरके सुखोंमें आबद्ध है वह उन्हें प्राप्त करनेके लिए उद्यम करेगा (उन सुखोंकी प्राप्तिके साधनोंमें अपना मन लगायेगा)।

यदि मनुष्य धर्म प्राप्त करता है तो उसे घर (का सुख) नहीं मिलेगा या यदि वह घरकी ओर उन्मुख होता है तो उसे धर्म कहाँसे मिलेगा ? क्योंकि धर्मका मार्ग केवल शान्ति-रससे ओत-प्रोत (आप्लावित) है और गृहस्थ-जीवनकी सफलता पराक्रमसे होती है। ॥ १४ ॥

जो गृहस्थ-जीवन धर्म-विरोधी होनेके कारण दूषित है उसे कौन संयतात्मा स्वीकार करेगा ? यदि सुखकी आशासे धर्मका अतिक्रमण किया जाय तो सुखका मिलना निश्चित नहीं है। ॥ १५ ॥

निश्चित है कि इससे कीर्ति नष्ट होगी, मानसिक अनुताप होगा और दुर्गति होगी। इसी लिए नीतिज्ञ मनुष्य धर्म-विरोधी सुख-मार्गको विपत्ति-प्रद समझकर नहीं अपनाते। ॥ १६ ॥

और भी। 'गृहस्थ-जीवन सुख-दायक है' यह, मैं समझता हूँ, विश्वासकी बात है।

गृहस्थीमें उपार्जन-रक्षा आदिका दुःख होना निश्चित है, वध-बन्धन (मारे जाने और बाँधे जाने) का भय बना रहता है। जैसे जल-वृष्टिसे समुद्रको, वैसे ही सम्पत्तिसे राजाको भी तृप्ति नहीं होती है। ॥ १७ ॥

यदि मनुष्य (सुखकी) कल्पना न करे तो (गृहस्थीमें) कब कैसे और कहाँसे सुख होगा ? जैसे घावके खुजलानेमें वैसे ही विषयासक्तिमें भ्रमसे ही सुखका भान होता है। ॥ १८ ॥

मैं साधारण तौरपर कहता हूँ—

प्रायः देखा जाता है कि गृहस्थीमें सम्पत्ति पाकर मद होता है, कुल (की उन्नति) से अभिमान होता है, शक्तिसे दर्प होता है, दुःख (अपमान) से क्रोध होता है, और विपत्तिसे दीनता होती है। उसमें शान्तिका मौका ही कब मिलता है ? ॥ १९ ॥

अतश्च खल्वहमत्रभवन्तमनुनयामि ।

मदमानमोहभुजगोपलयं प्रशमाभिरामसुखविप्रलयम् ।
क इवाश्रयेदभिमुखं विलयं बहुतीव्रदुःखनिलयं निलयम् ॥२०॥

संतुष्टजनगेहे तु प्रविविक्तसुखे वने ।
प्रसीदति यथा चेतस्त्रिदिवेऽपि तथा कुतः ॥२१॥

परप्रसादार्जितवृत्तिरप्यतो रमे वनान्तेषु कुचेलसंवृतः ।
अधर्ममिश्रं तु सुखं न कामये विषेण संपृक्तमिवान्नमात्मवान् ॥२२॥

इत्यवगमितमतिः स तेन पितृवयस्यो हृदयग्राहकेण वचसा बहुमानमेव तस्मिन्महासत्त्वे सत्कारप्रयोगविशेषेण प्रवेदयामास ॥

तदेवं शीलप्रशमप्रतिपक्षसंबाधं गार्हस्थ्यमित्येवमात्मकामाः परित्यजन्तीति ॥ लब्धास्वादाः प्रविवेके न कामेष्वावर्तन्त इति प्रविवेकगुणकथायामप्युपनेयम् ॥

इत्यपुत्रजातकमष्टादशम् ।

---

१९ बिसजातकम्

प्रविवेकसुखरसज्ञानां विडम्बनेव विहिंसेव च कामाः प्रतिकूला भवन्ति । तद्यथानुश्रूयते ।

बोधिसत्त्वः किल कस्मिंश्चिन्महति गुणप्रकाशयशसि वाच्यदोषविरहिते ब्राह्मणकुले जन्मपरिग्रहं चकार । तस्य यत्र कनीयांसः षडपरे भ्रातरस्तदनुरूपगुणाः स्नेहबहुमानगुणान्नित्यानुगुणा बभूवुः सप्तमी च भगिनी । स कृतश्रमः साङ्गेषु सोपवेदेषु वेदेषु समधिगतविद्यायशाः

अतः मैं आप पूज्यसे अनुनय करता हूँ।

घर दारुण विपत्तियोंका स्थान, मद अभिमान और मोहरूप सर्पोंका निवास, शान्ति-सुखका विनाशक तथा सामनेमें उपस्थित सर्वनाश है। अतः घरका आश्रय कौन ले? ॥ २० ॥

(तृष्णा-रहित) सन्तुष्ट प्राणियोंके निवास-स्थान, वैराग्य-सुखसे परिपूर्ण तपोवनमें मन जितना आनन्दित होता है उतना आनन्दित स्वर्गमें भी कहाँसे होगा? ॥ २१ ॥

दूसरोंकी कृपासे प्राप्त (भिक्षा-) वृत्तिपर रहकर और जीर्ण-शीर्ण वस्त्रसे अपनेको ढककर भी मैं जंगलमें प्रसन्न हूँ। मै अधर्म-मिश्रित सुखकी कामना नही करता, जैसे स्वस्थचित्त व्यक्ति विष-मिश्रित अन्नकी कामना नहीं करता।" ॥ २२ ॥

जब उन्होंने इन हृदय-ग्राही शब्दोंमें अपने पिताके साथीको इस तरह समझाया तब उसने विशेष सत्कार-द्वारा उस महाप्राणीके प्रति अत्यन्त सन्मान ही प्रकट किया।

तब 'गृहस्थ-जीवन शील और शान्तिके प्रतिपक्षों (विरोधी चीजों) से भरा हुआ है', यह समझकर आत्म-संयम (आत्म-कल्याण) की कामना करनेवाले लोग गृहस्थ-जीवनका परित्याग करते है। जिन्होंने वैराग्य-रसका आस्वादन कर लिया है वे फिर काम-भोगोंमें नहीं भटकते, इस प्रकार वैराग्यके गुण वर्णन करनेमें भी यह उपदेश देना चाहिए।

अपुत्र-जातक अष्टादश समाप्त।

---

१९ बिस-जातक

जिन्होंने वैराग्य[1]-सुखके रसको जान लिया है उनके लिए काम-भोग, विडम्बना[2] और हिंसा की तरह, प्रतिकूल होते है। यह बात इस अनुश्रुति (दृष्टान्त, कथा) से प्रमाणित होगी।

बोधिसत्त्वने एक बार किसी महान् ब्राह्मण-कुलमें जन्म लिया, जो सद्गुणोंसे प्रकाशित विख्यात अनिन्द्य और निर्दोष था। वहाँ उसके छः छोटे भाई, उसीके अनुरूप गुणवान् तथा स्नेह और सम्मानभावके कारण सदा उसके अनुवर्ती थे। सातवीं एक बहिन थी। बोधिसत्त्वने अङ्गों और उपवेदों सहित वेदोंका अध्ययन किया। विद्यायें और कीर्ति अर्जन की।

संमतो जगति दैवतवन्मातापितरौ परया भक्त्या परिचरन्नाचार्य इव पितेव तान्भ्रातृन्विद्यासु विनयन्नर्यविनयकुशलो गृहमावसति स्म। स कालक्रमान्मातापित्रोः कालक्रियया संविग्नहृदयः कृत्वा तयोः प्रेतकृत्यानि व्यतीतेषु शोकमयेष्विव केषुचिदेव दिवसेषु तान्भ्रातृन्संनिपात्योवाच—

एष लोकस्य नियतः शोकातिविरसः क्रमः।
सह स्थित्वापि सुचिरं मृत्युना यद्वियोज्यते ॥ १ ॥
तत्प्रव्रजितुमिच्छामि श्रेयःश्लाघ्येन वर्त्मना।
पुरा मृत्युरिपुर्हन्ति गृहसंरक्तमेव माम् ॥ २ ॥

यतः सर्वानेव भवतः सम्बोधयामि। अस्त्यत्र ब्राह्मणकुले धर्मेण यथाधिगता विभवमात्रा शक्यमनया वर्तितुम्। तत्सर्वैरेव भवद्भिः परस्परं स्नेहगौरवाभिमुखैः शीलसमुदाचारेष्वशिथिलादरैर्वेदाध्ययनपरैर्मित्रातिथिस्वजनप्रणयवत्सलैर्धर्मपरायणैर्भूत्वा सम्यग्गृहमध्यावस्तव्यम्।

विनयश्लाघिभिर्नित्यं स्वाध्यायाध्ययनोद्यतैः।
प्रदानाभिरतैः सम्यक्परिपाल्यो गृहाश्रमः ॥ ३ ॥

एवं हि वः स्याद्यशसः समृद्धिर्धर्मस्य चार्थस्य सुखास्पदस्य।
सुखावगाहश्च परोऽपि लोकस्तदप्रमत्ता गृहमावसेत ॥ ४ ॥

अथास्य भ्रातरः प्रव्रज्यासङ्कीर्तनाद्वियोगाशङ्काव्यथितमनसः शोकाश्रुदुर्दिनमुखाः प्रणम्यैनमूचुः। नार्हत्यत्रभवान्पितृवियोगशोकशल्यव्रणमसंरूढमेव नो घट्टयितुमपरेण दुःखाभिनिपातक्षारेण।

संसारमें सम्मान प्राप्त किया। देवता-तुल्य माता-पिताकी अत्यन्त भक्ति-पूर्वक सेवा करते हुए तथा आचार्य और पिताके समान उन भाइयोंको विद्याएँ सिखाते हुए वह नीतिज्ञ और विनयी घरमें रहने लगे। काल-क्रमसे माता-पिताकी मृत्यु हुई, जिससे उसके हृदयमें संवेग हो गया। उसने उनका प्रेत्य-कर्म (=श्राद्ध संस्कार) किया। शोकके कतिपय दिवसोंके बीतनेपर उसने अपने भाइयोंको एकत्र करके कहा—

"संसारका यह अटल और दुःखदायी नियम है कि चिरकालतक साथ-साथ रहकर भी मृत्युके कारण (हमें एक-दूसरेसे) अलग होना पड़ता है। ॥१॥

अतः मृत्युरूपी शत्रु घर-गृहस्थीमें अनुरक्त रहते ही मुझे आकर मार डाले, इसके पहले ही मैं प्रशंसनीय कल्याण-मार्ग पर प्रव्रजित होना चाहता हूँ। ॥ २ ॥

अतः मैं आप लोगोंको समझाता हूँ। इस ब्राह्मण-कुलमें धर्म-पूर्वक उपार्जित कुछ सम्पत्ति है, जिससे निर्वाह किया जा सकता है। सो आपलोग परस्पर स्नेह और सम्मानभाव रखते हुए, शील और सदाचार की रक्षा करते हुए, वेदोंके अध्ययनमें लीन रहते हुए, मित्रों अतिथियों और स्वजनों का आदर-सत्कार करते हुए, धर्म-परायण रहते हुए सम्यक् रूपसे घरमें रहिये।

सदा विनयी, वेदाभ्यासी और दानशील रहकर गृहस्थाश्रम-धर्म का सम्यक् पालन कीजिये। ॥ ३ ॥

इस प्रकार आपकी कीर्ति धर्म और सुख-दायक सम्पत्तिकी वृद्धि होगी। और, परलोक भी सुलभ हो जायगा। इसलिए सावधान होकर घरमें रहिये।" ॥ ४ ॥

जब उसके भाइयोंने प्रव्रज्या की बात सुनी तब वियोग की आशंकासे उनके मनमें बड़ी व्यथा हुई। दुःखके आँसुओं से उनके मुख भर गये। उन्होंने प्रणाम करके कहा—

"पितृ-वियोगके शोक-शल्यका घाव अभी भरा नहीं है। यह दूसरा दुःखरूपी नमक देकर उसे ताजा करना आप पूज्यके लिए उचित नहीं है।

अद्यापि तावत्पितृशोकशल्यक्षतानि रोहन्ति न नो मनांसि।
तत्साध्विमां संहर धीर बुद्धिं मा नः क्षते क्षारमिवोपहार्षीः ॥ ५ ॥

अथाक्षमं वेत्सि गृहानुरागं श्रेयःपथं वा वनवाससौख्यम्।
अस्माननाथानपहाय गेहे कस्माद्वनं वाञ्छसि गन्तुमेकः ॥ ६ ॥

तद्यात्रभवतो गतिः सास्माकम्। वयमपि प्रव्रजाम इति॥ बोधिसत्त्व उवाच—

अनभ्यासाद्विवेकस्य कामरागानुवर्तिनः।
प्रपातमिव मन्यन्ते प्रव्रज्यां प्रायशो जनाः ॥ ७ ॥

इति मया निगृह्य नाभिहिताः स्थ प्रव्रज्याश्रयं प्रति जानतापि गृहवनवासविशेषम्। तदेतच्चेदभिरुचितं भवतामेव प्रव्रजाम इति। ते सप्तापि भ्रातरो भगिन्यष्टमाः स्फीतं गृहविभवसारमश्रुमुखं च मित्रस्वजनबन्धुवर्गं विहाय तापसप्रव्रज्यया प्रव्रजिताः। तदनुरक्तहृदयश्चैनान्सहाय एको दासी दासश्चानुप्रव्रजिताः।

तेऽन्यतरस्मिन्महत्यरण्यायतने ज्वलितमिव विकसितकमलवनशोभया विहसदिव च फुल्लकुमुदवनैरनिभृतमधुकरगणममलनीलसलिलं महत्सरः संनिश्रित्य प्रविविक्तमनोज्ञासु च्छायाद्रुमसमुपगूढास्वसंनिकृष्टविनिविष्टासु पृथक्पृथक्पर्णशालासु व्रतनियमपरा ध्यानानुयुक्तमनसो विजह्रुः। पञ्चमे पञ्चमे दिवसे बोधिसत्त्वसमीपं धर्मश्रवणार्थमुपजग्मुः। स चैषां ध्यानोपदेशप्रवृत्तां कामादीनवदर्शनीं संवेजनीयां प्रविवेकसन्तोषवर्णबहुलां कुहनलपनकौसीद्यादिदोषविगर्हणीमुपशमप्रसादपद्धतिं तां तां धर्म्यां कथां चकार।

पितृ-शोकरूपी शल्यसे जो घाव हमारे मनमें हुआ था वह अबतक नही भरा है, इसलिए, हे धीर, अपने इस विचारको रोकिये। हमारे घावमें नमक न छिड़किये। ॥ ५ ॥

या यदि आप गृहानुरागको अनुचित और वनवासके सुखको कल्याणका मार्ग समझते हैं, तो हम अनाथोंको घरमें छोड़कर आप क्यों अकेले ही वन जाना चाहते हैं? ॥ ६ ॥

तब जो गति आपकी होगी वह हमारी भी। हम भी प्रव्रजित होंगे।"

बोधिसत्त्वने उत्तर दिया—

"वैराग्यका अभ्यास नहीं होनेके कारण जो लोग काम-रागके वशीभूत होते हैं वे प्रायः प्रव्रज्याको प्रपात (=पहाड़के खड़े किनारेसे गिरने) के समान समझते हैं। ॥ ७ ॥

इसलिए गृहस्थी और वनवासके अन्तरको जानते हुए भी, अपनेको रोककर मैंने आपलोगोंको प्रव्रज्या ग्रहण करनेके लिए नहीं कहा। तब यदि आपलोगोंको भी यही पसन्द है तो हम सब प्रव्रजित होवें।" वे सातों भाई, बहिन लेकर आठों, विशाल घर-द्वार और बहुमूल्य सम्पत्ति तथा रोते हुए मित्रों स्वजनों और बन्धुओंको छोड़कर तापसोचित प्रव्रज्यासे प्रव्रजित हुए। उनके अत्यन्त अनुरक्त एक सहायक, एक दासी और एक दास भी उनके साथ प्रव्रजित हुए।

वे किसी बड़े जंगलके भीतर पहुँचे। वहाँ गूँजते भौरोंसे युक्त, तथा निर्मल नीले जलसे परिपूर्ण एक सरोवर था, जो (दिनमें) फूले हुए कमलों-की आभासे मानो प्रज्वलित होता था और (चाँदनी रातमें) खिले हुए कुमदोंकी शोभासे हँसता था। उस सरोवरके किनारे उन्होंने पृथक् पृथक् पर्णशालाएँ बनाई, जो कुछ दूर दूर पर स्थित, छाया-वृक्षोंसे आलिङ्गित, एकान्त और मनोहर थीं। उनमें व्रत-नियमोंका पालन करते हुए वे ध्यानाव-स्थित चित्तसे विहार करने लगे। वे प्रति पाँचवें दिन बोधिसत्त्वके समीप धर्मोपदेश सुननेके लिए जाया करते थे। वह उन्हें ध्यानोपदेश करनेवाली, काम-भोगके दोष दिखलानेवाली, संवेग उत्पन्न करनेवाली, वैराग्य और संतोष (या वैराग्य-जन्य संतोष) के अक्षरोंसे भरपूर, कपट वाचालता आलस्य आदि दोषोंकी निन्दा करनेवाली धार्मिक कथाएँ कहा करते थे।

सा चैनान्दासी बहुमानानुरागवशा तथैव परिचचार। सा तस्मात्सरसो बिसान्युद्धृत्य महत्सु पद्मिनीपर्णेषु शुचौ तीरप्रदेशे समान्विन्यस्य च भागान्काष्ठसंघट्टनशब्देन कालं निवेद्यापक्रामति स्म। ततस्तेषामृषीणां कृतजपहोमविधीनां यथावृद्धमेकैकोऽभिगम्य ततो बिसभागमेकैकं यथाक्रममादाय स्वस्यां स्वस्यां पर्णशालायां विधिवत्परिभुज्य ध्यानाभियुक्तमतिर्विजहार। त एवंप्रवृत्ता नैव परस्परं ददृशुरन्यत्र धर्मश्रवणकालात्।

तेषामेवंविधेन निरवद्येन शीलवृत्तसमुदाचारेण प्रविवेकाभिरत्या ध्यानप्रवणमानसतया च सर्वत्र यशः समुपश्रुत्य शक्रो देवानामिन्द्रस्तत्परीक्षानिमित्तं तत्राभिजगाम। तच्चैषां ध्यानाभिमुखत्वं कुकार्येष्वप्रसङ्गमनुत्कण्ठां प्रशमाभिरामं चावस्थानमवेक्ष्य स्थिरतरगुणसम्भावनस्तत्परीक्षानिमित्तमवहितमना बभूव।

अनुत्सुको वनान्तेषु वसञ्छमपरायणः।
आरोपयति साधूनां गुणसम्भावनां हृदि ॥ ८ ॥

अथ द्विपकलभदशनपाण्डुकोमलानि समुद्धृत्य प्रक्षाल्य च बिसानि मरकतहरितप्रभेषु पद्मिनीपत्रेषु कमलदलकेशरोपहारालंकृतान्विरचय्य समान्भागान्काष्ठसंघट्टनशब्दन निवेद्य कालं तेषामृषीणामपसृतायां तस्यां दास्यां बोधिसत्त्वपरीक्षार्थं शक्रो देवानामिन्द्रः प्रथममेव बिसभागमन्तर्धापयामास।

प्रवर्तने हि दुःखस्य तिरस्कारे सुखस्य च।
धैर्यप्रयामः साधूनां विस्फुरन्निव गृह्यते ॥ ९ ॥

वह दासी स्नेह और सम्मान-भावके कारण पूर्ववत् उनकी सेवा करती रही। वह उस सरोवरसे कमल-नाल निकालकर किनारेके पवित्र स्थानपर कमलके बड़े-बड़े पत्तोंपर बराबर बराबर हिस्सा लगाकर रखती थी और काठोंकी चोटके शब्द[1]से (आहार-) काल निवेदन कर वहाँसे हट जाती थी। तब होम-जपकी क्रियाएँ करके वे ऋषि (उम्र) की बड़ाई के अनुसार एक-एक कर वहाँ आते थे और क्रमसे कमल-नालका एक-एक हिस्सा लेकर अपनी अपनी पर्णशालामें चले जाते थे। वहाँ विधिवत् उसे खाकर ध्याना-वस्थित चित्तसे बिहार करते थे। इस प्रकार (साधनामें) लगे हुए वे धर्मोपदेश सुननेके समयको छोड़कर और किसी समय एक दूसरेको न देखते थे।

उनके इस निर्दोष शील-सदाचार, वैराग्य-रति एवं ध्यानमें दत्तचित्तताके कारण उनका यश चारों ओर फैल गया, जिसे सुनकर देवताओंके स्वामी शक्र उनकी परीक्षा लेनेके लिए वहाँ आए। उनकी ध्यान-अभिमुखता कुकार्य-पराङ्मुखता स्थिरता शान्ति और धीरता देखकर उनके सद्गुणोंके स्थायित्वकी संभावनासे[2] वह उनकी परीक्षा लेनेके लिए सावधान हो गये।

जो जंगलके भीतर उत्सुकता-रहित (=विषय-विमुख) और शान्ति-परायण होकर रहता है वह साधुओंके हृदयमें अपने गुणोंके प्रति आदर-भाव उत्पन्न करता है। ॥ ८ ॥

तब हस्ति-शावकके दाँतोंके समान सफेद और कोमल कमल-नाल निकालकर और (जलमें) धोकर, मरकतके समान हरे कमलके पत्तोंपर रखकर, कमलकी पंखुड़ियों और केसरोंके उपहारसे अलंकृत कर, बराबर बराबर हिस्सा लगाकर, काठकी चोटसे उन ऋषियोंका (आहार-) काल निवेदन कर, उस दासीके हटनेपर, बोधिसत्त्वकी परीक्षाके लिए देवताओंके स्वामी इन्द्रने कमल-नालके पहले ही हिस्सेको अन्तर्धान कर दिया।

दुःखका उदय होनेपर और सुखका नाश होनेपर साधुजनोंके उज्ज्वल धैर्य-विस्तारका परिचय मिलता है। ॥ ९ ॥

अथ बोधिसत्त्वोऽभिगतः प्रथमे बिसभागस्थाने बिसभागविरहितं पद्मिनीपत्रं परिव्याकुलीकृतोपहारमभिसमीक्ष्य गृहीतः केनापि मे बिस-प्रत्यंश इत्यवधृतमतिरपेतचेतःसंक्षोभसंरम्भस्तत एव प्रतिनिवृत्य प्रविश्य पर्णशालायां यथोचितं ध्यानविधिमारेभे। वैमनस्यपरिहारार्थं चेतरे-षामृषीणां तमर्थं न निवेदयामास। इतरे त्वस्य भ्रातरो नूनमनेन गृहीतः प्रत्यंश इति मन्यमाना यथोचितानेव स्वान्स्वाननुक्रमेण बिसभागानादाय यथास्वं पर्णशालासु परिभुज्य ध्यायन्ति स्म। एवं द्वितीये तृतीये चतुर्थे पञ्चमे च दिवसे शक्रस्तस्य तं बिसप्रत्यंशमुपनिदधे। बोधिसत्त्वोऽपि च महासत्त्वस्तथैव निःसंक्षोभप्रशान्तचित्तो बभूव।

मनःसंक्षोभ एवेष्टो मृत्युर्नायुःक्षयः सताम्।
जीवितार्थेऽपि नायान्ति मनःक्षोभमतो बुधाः ॥१०॥

अथापराह्णसमये धर्मश्रवणार्थमृषयस्ते यथोचितं बोधिसत्त्वस्य पर्णशालां समभिगता ददृश्वांसश्चैनं कृशतरशरीरं परिक्षामकपोलनयनं परिम्लानवदनशोभमसम्पूर्णस्वरगाम्भीर्यं परिक्षीणमप्यपरिक्षीणधैर्य-प्रशमगुणमभिनवेन्दुप्रियदर्शनमुपेत्योपचारपुरःसरं ससम्भ्रमाः किमिद-मिति कार्श्यनिमित्तमेनमपृच्छन्। तेभ्यो बोधिसत्त्वस्तमर्थं यथानुभूतं निवेदयामास। अथ ते तापसाः परस्परमीदृशमनाचारमसम्भावयन्त-स्तत्पीडया च समुपजातसंवेगाः कष्टं कष्टमित्युक्त्वा व्रीडावनतवदनाः समतिष्ठन्त शक्रप्रभावाच्च समावृतज्ञानगतिविषयाः कुत इदमिति न निश्चयमुपजग्मुः। अथ बोधिसत्त्वस्यानुजो भ्राता स्वमावेगमात्मवि-शुद्धिं च प्रदर्शयञ्छपथातिशयमिमं चकार।

जब बोधिसत्त्व कमल-नालके पहले हिस्सेके स्थानपर आये तो उसने देखा कि कमलके पत्ते पर कमल-नालका हिस्सा नही है और (पंखुड़ियों एवं केसरोंका) उपहार तितर-वितर कर दिया गया है। यह देखकर उसने निश्चय किया —"किसीने मेरा अंश ले लिया है।" मनमें संक्षोभ और क्रोध किये विना ही वह वहाँसे लौटकर पर्णशालामें पहुँच गये और यथोचित ध्यानविधिमें लग गये। वैमनस्य (=उदासी) को रोकनेके लिए दूसरे ऋषियोंसे यह समाचार नही कहा। उन्होंने अपना अंश लिया ही होगा यह मानकर उसके दूसरे भाई अपने अपने यथोचित कमल-नालके हिस्सोंको क्रमसे लेकर अपनी अपनी पर्णशालामें चले गये और भोजन कर ध्यान करने लगे। इसी प्रकार दूसरे तीसरे चौथे और पाँचवें दिन भी शक्रने उसके कमल-नालके हिस्सेको छिपा दिया। महापुरुष बोधिसत्त्व भी उसी प्रकार क्षोभ-रहित और शान्तचित्त रहे।

सज्जन पुरुष मानसिक क्षोभको ही, न कि आयुके क्षयको, मृत्यु मानते हैं। इसी लिए बुद्धिमान् मनुष्य प्राण-संकटमें भी मनमें क्षोभ नही करते।॥ १० ॥

जब अपराह्न-कालमें धर्मोपदेश सुननेके लिए वे ऋषि पूर्ववत् बोधिसत्त्वकी पर्णशालामें गये तो देखा कि उसका शरीर दुबला-पतला हो गया है, गाल और आँखें धँस गई हैं, मुखकी शोभा मुरझा गई है, वाणीकी गम्भीरता खण्डित है, (शरीर) क्षीण होनेपर भी शान्ति और धैर्य क्षीण नहीं हुआ है, और वह अभिनव चन्द्रमाके समान देखनेमें सुन्दर है। शिष्टाचार-पूर्वक समीप पहुँचनेपर घबराहटमें आकर उन्होंने 'यह क्यों' इस प्रकार दुबलेपनका कारण पूछा। बोधिसत्त्वने उनसे वह बात सच सच बतला दी। उन तापसोंको आपसमें इस प्रकारके अनाचारकी आशंका नहीं हुई। उसकी पीड़ासे वे भय-भीत हुए और 'हा कष्ट, हा कष्ट,' कहते हुए लज्जासे मुख झुकाकर खड़े रहे। शक्रके प्रभावसे उनके ज्ञानकी गति कुण्ठित हो जानेके कारण 'यह (अनाचार) क्यों हुआ' इसका निश्चय न कर सके। तब बोधिसत्त्वके छोटे भाईने अपना आवेग और अपनी पवित्रता (=निर्दोषता) प्रकट करते हुए यह कठोर शपथ लेकर कहा—

समृद्धिचिह्नाभरणं स गेहं प्राप्नोतु भार्यां च मनोऽभिरामाम् ।
समग्रतामेतु च पुत्रपौत्रैर्बिसानि ते ब्राह्मण यो ह्यहार्षीत् ॥११॥

अपर उवाच—

मालाः स्रजश्चन्दनमंशुकानि बिभ्रद्विभूषाश्च सुताभिमृष्टाः ।
कामेषु तीव्रां स करोत्वपेक्षां बिसान्यहार्षीद्द्विजमुख्य यस्ते ॥ १२ ॥

अपर उवाच—

कृष्याश्रयावाप्तधनः कुटुम्बी प्रमोदमानस्तनयप्रलापैः ।
वयोऽप्यपश्यन्रमतां स गेहे बिसानि यस्ते सकृदप्यहार्षीत् ॥१३॥

अपर उवाच—

नराधिपैर्भृत्यविनीतचेष्टैरभ्यर्च्यमानो नतलोलचूडैः ।
कृत्स्नां महीं पातु स राजवृत्त्या लोभादहार्षीत्तव यो बिसानि ॥१४॥

अपर उवाच—

पुरोहितः सोऽस्तु नराधिपस्य मन्त्रादिना स्वस्त्ययनेन युक्तः ।
सत्कारमाप्नोतु तथा च राज्ञस्तवापि यो नाम बिसान्यहार्षीत् ॥१५॥

अपर उवाच—

अध्यापकं सम्यगधीतवेदं तपस्विसम्भावनया महत्या ।
अर्चन्तु तं जानपदाः समेत्य बिसेषु लुब्धो न गुणेषु यस्ते ॥१६॥

सहाय उवाच—

चतुःशतं ग्रामवरं समृद्धं लब्ध्वा नरेन्द्रादुपयातु भोक्तुम् ।
अवीतरागो मरणं स चैतु लोभं बिसेष्वप्यजयन्न यस्ते ॥१७॥

दास उवाच—

स ग्रामणीरस्तु सहायमध्ये स्त्रीनृत्तगीतैरुपलाप्यमानः ।
मा राजतश्च व्यसनानि लब्ध बिसार्थमात्मार्थमशीशमद्यः ॥१८॥

"हे ब्राह्मण, जिसने आपके कमल-नाल चुराये हैं वह समृद्धिके चिह्न-स्वरूप आभरणोंसे युक्त घर एवं मनोरम पत्नी तथा पुत्रों और पौत्रोंके साथ परिपूर्णता प्राप्त करे।" ॥ ११ ॥

दूसरेने कहा—"हे द्विज-वर, जिसने आपके कमल-नाल चुराये हैं वह मालाएँ हार चन्दन सुन्दर वस्त्र तथा पुत्रों द्वारा स्पर्श किये गये आभूषण पहनता हुआ काम-भोगोंमें अत्यन्त आसक्त हो।" ॥ १२ ॥

तीसरेने कहा—"जिसने एक बार भी आपके कमल-नाल चुराये हों वह खेतीके सहारे धनोपार्जन करता हुआ, परिवारमें रहता हुआ, बच्चोंकी (मीठी तुतली) बोलीसे आनन्दित होता हुआ और अवस्था (बुढ़ापे या मृत्यु-काल) की उपेक्षा करता हुआ घरमें रमण करे।" ॥ १३ ॥

चौथेने कहा—"जिसने लालचमें पड़कर आपके कमल-नाल चुराये हैं वह भृत्योंकी तरह विनम्र आचरण करनेवाले राजाओंके द्वारा चञ्चल चूड़ाओं (=हिलते हुए मस्तकों) को झुकाकर पूजित होता हुआ, सम्राट्के समान सम्पूर्ण पृथ्वीका पालन करे।" ॥ १४ ॥

पाँचवेंने कहा—"जिसने आपके कमल-नाल चुराये हैं वह स्वस्ति-प्रद (=मङ्गल-कारक) मन्त्र-आदिसे युक्त होकर राजाका पुरोहित हो और उससे सत्कार प्राप्त करे।" ॥ १५ ॥

छठेने कहा—"जिसने आपके कमल-नालोंका, न कि आपके गुणोंका, लोभ किया, वह वेदोंका सम्यक् अध्ययन कर अध्यापक हो और जनता एकत्र होकर तपस्विजनोचित महासम्मानके साथ उसकी पूजा करे।" ॥ १६ ॥

साथीने कहा—"जो आपके कमल-नालोंका लोभ-संवरण न कर सका वह राजासे चार सौ[1] समृद्धिशाली उत्तम ग्राम लेकर भोगे और रागके रहते ही मृत्युको प्राप्त हो।" ॥ १७ ॥

दासने कहा—"जिसने कमलके डन्ठलोंके लिए स्वार्थ (=अपना श्रेय) नष्ट कर दिया वह अपने साथियोंके साथ स्त्रियोंके नृत्य-गीत आदिसे आनन्दित होता हुआ ग्रामका स्वामी बने और राजासे भय (=विपत्ति या कष्ट) न प्राप्त करे।" ॥ १८ ॥

भगिन्युवाच—

विद्योतमानां वपुषा श्रिया च पत्नीत्वमानीय नराधिपस्ताम्
योषित्सहस्राग्रसरीं करोतु यस्त्वद्विधस्यापि[1] बिसान्यहार्षीत् ॥१९॥

दास्युवाच—

एकाकिनी सा समतीत्य साधून्स्वादूपभोगे प्रणयं करोतु।
सत्कारलब्धां मुदमुद्वहन्ती बिसान्यपश्यत्तव या न धर्मम् ॥२०॥

अथ तत्र धर्मश्रवणार्थं समागतास्तद्वनाध्युषिता यक्षद्विरदवानरास्तां कथामुपश्रुत्य परां व्रीडां संवेगं चोपजग्मुः। अथ यक्ष आत्मविशुद्धिप्रदर्शनार्थमिति शपथमेषां पुरतश्चकार।

आवासिकः सोऽस्तु महाविहारे कचङ्गलायां नवकर्मिकश्च।
आलोकसन्धिं दिवसैः करोतु यस्त्वय्यपि प्रस्खलितो बिसार्थम् ॥२१॥

हस्त्युवाच—

षड्भिर्दृढैः पाशशतैः स बन्धं प्राप्नोतु रम्याच्च वनाज्जनान्तम्।
तीक्ष्णाङ्कुशाकर्षणजा रुजश्च यस्ते मुनिश्रेष्ठ बिसान्यहार्षीत् ॥२२॥

वानर उवाच—

स पुष्पमाली त्रपुघृष्टकण्ठो यष्ट्या हतः सर्पमुखं परैतु।
वैकक्ष्यबद्धश्च वसेद्गृहेषु लौल्यादहार्षीत्तव यो बिसानि ॥२३॥

अथ बोधिसत्त्वस्तान्सर्वानेवानुनयविनीताक्षरं शान्तिगाम्भीर्यसूचकमित्युवाच—

यो नष्टमित्याह न चास्य नष्टमिष्टान्स कामानधिगम्य कामम्।
उपैतु गेहाश्रित एव मृत्युं भवत्सु यः शङ्कत ईदृशं वा ॥२४॥

---

१ पा० 'या त्वद्विधस्यापि' ?

बहिनने कहा—"जिसने आप-जैसे (तपस्वी) के भी कमल-नाल चुराये उस अत्यन्त रूपवतीको राजा अपनी पत्नी बनाकर हजार स्त्रियोंमें प्रधान (पटरानी) बनावे।" ॥ १९ ॥

दासीने कहा—"जिस (स्त्री) ने आपके कमल-नालोंको देखा और आपके धर्मको नहीं, वह साधुओंकी उपेक्षा कर एकान्तमें स्वादिष्ठ पदार्थोंको भोगना चाहे और सत्कार पाकर आनन्द अनुभव करे।" ॥ २० ॥

वहाँ धर्मोपदेश सुननेके लिए आये हुए उस वनके निवासी यक्ष हाथी और वानर उस कथाको सुनकर अत्यन्त लज्जित और संविग्न हुए। यक्षने अपनी पवित्रता (=निर्दोषता) बतलाते हुए उनके आगे शपथ लेकर कहा—

"जो कमलके डण्ठलोंके लिए आपके प्रति भी (धर्म-) च्युत हुआ वह कचङ्गलाके महाविहारमें निवास करे और (भवन-) निर्माण-कार्यका अध्यक्ष होकर दिनमें गवाक्ष[1] बनाया करे।" ॥ २१ ॥

हाथीने कहा—"हे मुनि-श्रेष्ठ, जिसने आपके कमल-नाल चुराये हैं वह रम्य जंगलसे मनुष्योंके समीप जाय, छः सौ[2] दृढ़ बन्धनोंसे बाँधा जाय और तीक्ष्ण अंकुशोंके प्रहारोंसे पीड़ित हो।" ॥ २२ ॥

वानरने कहा—"अपनी चञ्चलताके कारण जिसने आपके कमल-नाल चुराये हैं वह फूलोंकी माला पहने, रांगेकी कण्ठीसे उसका गला घिसता रहे, लाठीसे ताड़ित होकर वह सर्प[1] के मुखमें जा पड़े और सिकरीसे बाँधा जाकर घरमें पड़ा रहे।" ॥ २३ ॥

तब बोधिसत्त्वने उन सबसे, अनुनय और नम्रताके शब्दोंमें, अपनी शान्ति और गम्भीरता प्रकट करते हुए कहा—

"(कमल-नालका हिस्सा) नष्ट नहीं होने पर भी जिसने (झूठ ही) कहा 'नष्ट हो गया' या जो आप लोगोंमें इस (अनाचार) की आशंका करता है वह अभिलषित काम-भोगोंको खूब भोगे और घरमें रहते ही मृत्यु प्राप्त करे।" ॥ २४ ॥

अथ शक्रो देवेन्द्रस्तेन तेषां कामोपभोगप्रातिकूल्यसूचकेन शपथातिशयेन समुत्पादितविस्मयबहुमानः स्वेनैव वपुषाभिज्वलता तानृषीनभिगम्य सामर्षवदुवाच—मा तावद्भोः !

यत्प्राप्तिपर्युत्सुकमानसानां सुखार्थिनां नैति मनांसि निद्रा ।
यान्प्राप्तुमिच्छन्ति तपःश्रमैश्च तान्केन कामानिति कुत्सयध्वे ॥२५।

बोधिसत्त्व उवाच—अनन्तादीनवा मार्ष कामाः । संक्षेपतस्तु श्रूयतां यदभिसमीक्ष्य कामान्न प्रशंसन्ति मुनयः ।

कामेषु बन्धमुपयाति वधं च लोकः
शोकं क्लमं भयमनेकविधं च दुःखम् ।
कामार्थमेव च महीपतयः पतन्ति
धर्मोपमर्दरभसा नरकं परत्र ॥२६॥

यत्सौहृदानि सहसा विरसीभवन्ति
यन्नीतिशाठ्यमलिनेन पथा प्रयान्ति ।
कीर्त्या वियोगमसुखैः परतश्च योगं
यत्प्राप्नुवन्ति ननु कारणमत्र कामाः ॥२७॥

इति हीनविमध्यमोत्तमानामिह चामुत्र च यद्वधाय कामाः ।
कुपितान्भुजगानिवात्मकामा मुनयस्तानिति शक्र नाश्रयन्ते ॥२८॥

अथ शक्रो देवानामिन्द्रस्तस्य तद्वचनं युक्तमित्यभिनन्द्य तेन चैतेषामृषीणां माहात्म्येनाभिप्रसादितमनास्तेभ्यः स्वमपराधमाविश्चकार ।

गुणसम्भावनाव्यक्तिर्यत्परीक्ष्योपलभ्यते ।
मया विनिहितान्यस्मात्परीक्षार्थं बिसानि वः ॥२९॥

तत्सनाथं जगद्दिष्ट्या मुनिभिस्तथ्यकीर्तिभिः ।
विशुद्धिः स्थिरचारित्रे तवेतानि बिसानि ते ॥३०॥

काम-भोगोंकी प्रतिकूलता (विरोध, निन्दा)-सूचक उनके इस घोर शपथसे जब देवोंके अधिपति इन्द्रके मनमें विस्मय और सम्मान-भाव उत्पन्न हुआ तब वह अपना उज्ज्वल रूप लेकर प्रकट हुए और उन ऋषियों-के समीप जाकर क्रोध दिखलाते हुए कहा—"ऐसा न कहें।

जिनकी प्राप्तिके लिए उत्सुक रहनेवाले सुखाभिलाषियोंको नींद तक नहीं आती है और जिन्हें प्राप्त करनेके लिए लोग कठोर तपस्या भी करना चाहते हैं उन काम-भोगोंकी आप क्यों निन्दा करते हैं?" ॥ २५ ॥

बोधिसत्त्वने कहा—"महाशय, काम-भोगोंमें अनन्त क्लेश हैं। संक्षेपसे सुनिये, (उन क्लेशोंको) जिन्हें देखकर मुनि काम-भोगोंकी प्रशंसा नहीं करते।

काम-भोगोंके लिए मनुष्य वध-बन्धन शोक थकावट विपत्ति और अनेक प्रकार का दुःख प्राप्त करता है। काम-भोगोंके लिए ही राजा लोग धर्मका उत्पीडन करते हैं और पीछे नरकमें पड़ते हैं। ॥ २६ ॥

मित्रताके बन्धन हठात् ढीले पड़ जाते हैं, कुटिल नीतिके गंदे रास्तेसे चलते हैं, कीर्तिसे वञ्चित होते हैं और परलोकमें दुःख पाते हैं—इसका कारण कामभोग ही है। ॥ २७ ॥

जिन कामभोगोंके कारण उत्तम, मध्यम और हीन (श्रेणीके) मनुष्यों-का इहलोक और परलोकमें विनाश होता है, क्रुद्ध सर्पोंके समान उन काम-भोगोंसे, हे शक्र, आत्म-काम[१] मुनि दूर रहते हैं।" ॥ २

तब देवोंके अधिपति इन्द्रने उसके वचनको उचित समझकर उसका अभिनन्दन किया और उन ऋषियोंके उस माहात्म्यसे प्रसन्न होकर उनके आगे अपना अपराध प्रकट किया।

"परीक्षा करने पर गुणोंके प्रति आदर-भाव प्रकट होता है। अतः परीक्षाके लिए मैंने आपके कमल-नाल छिपाये हैं। सो सौभाग्यसे यह पृथ्वी इन सत्यकीर्ति ऋषियोंसे सनाथा है। ये कमल-नाल आपके स्थिर चरित्रके प्रमाण-स्वरूप हैं।" ॥ २९-३० ॥

इत्युक्त्वा तानि बिसानि बोधिसत्त्वस्य समुपजहार। अथ बोधिसत्त्वस्तदस्यासमुदाचारधाष्ट्र्यं तेजस्विनिभृतेन वचसा प्रत्यादिदेश।

न बान्धवा नैव वयं सहाया न ते नटा नापि विडम्बकाः स्मः।
कस्मिन्नवष्टभ्य नु देवराज क्रीडापथेनैवमृषीनुपैषि ॥३१॥

इत्युक्ते शक्रो देवेन्द्रः ससम्भ्रमापास्तकुण्डलकिरीटविद्युदुद्भासुरवदनः सबहुमानमभिप्रणम्यैनं क्षमयामास।

उक्तप्रयोजनमिदं चापलं मम निर्मम।
पितेवाचार्य इव च क्षन्तुमर्हति तद्भवान् ॥३२॥

निमीलितज्ञानविलोचनानां स्वभाव एष स्खलितुं समेऽपि।
क्षमां च तत्रात्मवतां प्रपत्तुमतोऽप्यदश्चेतसि मा स्म कार्षीः ॥३३॥

इति क्षमयित्वा शक्रस्तत्रैवान्तर्दधे।

तदेवं प्रविवेकसुखरसज्ञानां बिडम्बनेव विहिंसेव च कामाः प्रतिकूला भवन्ति।

[तच्चेदं जातकं भगवान्व्याकार्षीत्।

अहं शारद्वतीपुत्रो मौद्गल्यायनकाश्यपौ।
पूर्णानिरुद्धावानन्द इत्यासुर्भ्रातरस्तदा ॥ ३४ ॥

भगिन्युत्पलावर्णासीद्दासी कुब्जोत्तराभवत्।
चित्रो गृहपतिर्दासो यक्षः सातागिरिस्तदा ॥३५॥

पारिलेयोऽभवन्नागो मधुदातैव वानरः।
कालोदायी च शक्रोऽभूद्धार्यतामिति जातकम् ॥३६॥]

इति बिसजातकमेकोनविंशतितमम्।

यह कहकर वह बोधिसत्त्वके कमल-नाल ले आये। तब बोधिसत्त्वने उसे इस असभ्य और धृष्ट आचरणके लिए तेजस्वि-जनोचित शब्दोंमे फटकारा—

"हम न आपके बन्धु-बान्धव (=दायाद) है, न साथी, न नर्तक और न बिडम्बक[1] ही, तब किस सम्बन्धके बलपर, हे देवराज, आप हम ऋषियों-के साथ इस प्रकार खेल कर रहे है ?" ॥ ३१ ॥

इस प्रकार कहे जानेपर देवेन्द्र शक्रने शीघ्रतासे (अपने शिरसे) कुण्डल और किरीट (=मुकुट) हटा लिये, जिनके प्रकाशसे उसका मुख चमकने लगा और प्रणाम करके उससे क्षमा माँगते हुए कहा—

"हे मोह-ममता-रहित, मैंने अपनी इस चपलताका प्रयोजन बतला दिया; पिताके समान, आचार्यके समान आप इसे क्षमा करें। ॥ ३२ ॥

जिनकी ज्ञान-दृष्टि बन्द है उनका स्वभाव है साधुओंके प्रति अपराध करना और आत्मवान् (=संयतात्मा, साधु) पुरुषोंका स्वभाव है क्षमा करना। अतः आप इस (अपराध) को अपने मनमें स्थान न दें।" ॥ ३३ ॥

इस प्रकार क्षमा कराकर शक्र वहीं अन्तर्धान हो गये।

इस प्रकार, जिन्होंने वैराग्य-सुखके रसको जान लिया है, उनके लिए काम-भोग, हिंसा और विडम्बना के समान, अनिष्ट होते है।

[और भगवान्ने इस जातककी इस प्रकार व्याख्या की—

उस समय मैं, शारद्वती-पुत्र (=सारिपुत्र), मौद्गल्यायन, काश्यप, पूर्ण, अनिरुद्ध और आनन्द (सातो) भाई थे। तब उत्पलावर्णा बहिन और कुब्जोत्तरा दासी थी, चित्र गृहपति दास और सातागिरि यक्ष था। पारिलेय हाथी, मधुदाता वानर और कालोदायी शक्र था, इस प्रकार इस जातकको (मनमें) धारण करो।" ॥ ३४-३६ ॥][2]

बिस-जातक उन्नीसवाँ समाप्त।

२० श्रेष्ठिजातकम्

अभूतगुणसंभावना प्रतोदसंचोदनेव भवति साधूनामिति गुणसंपादने प्रयतितव्यम्। तद्यथानुश्रूयते।

बोधिसत्त्वः किल श्रुतकुलविनयमहानक्षुद्रनिपुणमतिरविषमव्यवहाररतिरनेकशास्त्राभ्यासादालक्षितवचनसौष्ठवः करुणानुवृत्त्या समन्ततो विस्यन्दमानधनसमृद्धिर्महाप्रदानैर्महाधनत्वाद्गृहपतिरत्नसंमतो ऽन्यतमस्य राज्ञः श्रेष्ठी बभूव।

स प्रकृत्यैव धर्मात्मा श्रुतादिगुणभूषणः।
अभूत्प्रायेण लोकस्य बहुमानैकभाजनम्॥ १॥

अथ कदाचित्तस्मिन्महासत्त्वे राजकुलमभिगते केनचिदेव करणीयेन तस्य स्वश्रूर्दुहितरमवलोकयितुं तद्गृहमभिजगाम। कृताभ्यागमनसत्कारा च संकथाप्रस्तावागतं स्वां दुहितरं बोधिसत्त्वभार्यां रहसि कुशलपरिप्रश्नपूर्वकं पर्यपृच्छत्। कच्चित्त्वां तात भर्ता नावमन्यते। कच्चिद्वा वेत्ति परिचर्यागुणम्। न वा दुःशीलतया प्रबाधत इति। सा व्रीडावनतवदना लज्जाऽप्रगल्भं शनकैरुवाच। यादृशोऽयं शीलगुणसमुदाचारेण प्रव्रजितोऽपि दुर्लभः। क इदानीं तादृशः॥ अथ सा तस्या माता जरोपहतश्रुतिस्मृतित्वाल्लज्जासंकुचिताक्षरं तनयया तद्वचनमभिधीयमानं न सम्यगुपधारयामास। प्रव्रजितसंकीर्तनात्तु प्रव्रजितो मे जामातेति निश्चयमुपजगाम। सा सस्वरमभिरुदिता स्वां दुहितरमनुशोचन्ती दुःखावेगवशात् परिदेवनपरा बभूव। कीदृशस्तस्य शीलगुणसमुदाचारो य एवमनुरक्तं स्वं जनमपहाय प्रव्रजितः। किं वा तस्य प्रव्रज्यया।

२० श्रेष्ठि-जातक

गुण नहीं होनेपर भी यदि उसकी कल्पना (प्रशंसा, प्रसिद्धि) की जाय तो इससे साधु-जनोंको अंकुशकी-सी प्रेरणा मिलती है; अतः गुण अर्जन करनेका प्रयत्न करना चाहिए। तब जैसी कि अनुश्रुति है—

एकबार बोधिसत्त्व किसी राजाके कोषाध्यक्ष हुए। वह अपनी विद्या, वंश और विनय (विनम्रता) के लिए विख्यात थे। उनका विचार ऊँचा था और उनकी बुद्धि निपुण थी। वह सबके साथ समान व्यवहार करते थे[1]। अनेक शास्त्रोंके अभ्याससे उनका वचन-सौष्ठव (वाणी-सौन्दर्य) प्रकट होता था। दयालु होनेके कारण वह चारों ओर धन-सम्पत्तिकी धारा बहाते थे। महादानी और महाधनी होनेके कारण वह बड़े बड़े गृहपतियों (=वैश्यों) से पूजित थे[2]।

वह स्वभावसे ही धर्मात्मा और विद्या आदि गुणोंसे विभूषित थे। अतः प्रायः सभी लोगोंके आदरके एकमात्र पात्र हो गये थे। ॥ १ ॥

एक बार किसी कार्यसे उस महापुरुषके राजकुलमें जानेपर उसकी सास अपनी बेटीको देखनेके लिए उसके घर आई। स्वागत-सत्कार होनेपर बात-चीतके प्रसंगमें उसने अपनी पुत्री बोधिसत्त्वकी भार्यासे एकान्तमें कुशल-प्रश्न करते हुए पूछा—"हे तात, क्या स्वामी तेरा अपमान तो नहीं करते हैं? या तेरी सेवा-शुश्रूषाका आदर तो करते हैं[1]? या दुःशील (=दुराचारी) होकर तुझे दुःख तो नहीं देते हैं?" (यह सुनकर) उसने लज्जासे शिर झुका लिया और शालीनतापूर्वक धीरे-धीरे कहा—"इनके-जैसा शीलवान् और सदाचारी तो प्रव्रजित (भिक्षु) भी दुर्लभ है। अब (दूसरा) कौन है उनके समान?" बुढ़ापेके कारण उसकी माताकी सुनने और समझनेकी शक्ति क्षीण हो गई थी; अतः अपनी बेटीके द्वारा लज्जासे संक्षेपमें कहे गये (अस्पष्ट) वचनको ठीक ठीक न समझ सकी। "प्रव्रजित" शब्द सुनकर उसने निश्चय कर लिया कि "मेरा जामाता प्रव्रजित हो गया।" अपनी बेटीके लिए शोक करती हुई वह जोर जोरसे रोने लगी, दुःखके आवेगसे विलाप करने लगी। "कैसा है उसका शील और सदाचार जो इतने अनुरक्त अपने परिवारको छोड़कर प्रव्रजित हो गया। या उसकी इस प्रव्रज्यासे क्या

तरुणस्य वपुष्मतः सतः सुकुमारस्य सुखोचितात्मनः।
क्षितिपाभिमतस्य तस्य वै वनवासे प्रणता मतिः कथम् ॥ २ ॥
स्वजनादनवाप्य विप्रियं जरया वोपहृतां विरूपताम्।
कथमेकपदे रुजं विना विभवोद्गारि गृहं स मुक्तवान् ॥ ३ ॥
विनयाभरणेन धीमता प्रियधर्मेण परानुकम्पिना।
कथमभ्युपपन्नमीदृशं स्वजने निष्करुणत्वचापलम् ॥ ४ ॥
श्रमणद्विजमित्रसंश्रितान्स्वजनं दीनजनं च मानयन्।
शुचिशीलधनः किमाप्नुयान्न स गेहेषु वने यदीप्सति ॥ ५ ॥
अपराधविवर्जितां त्यजन्ननुकूलां सहधर्मचारिणीम्।
अतिधर्मपरः स नेक्षते किमिमं धर्मपथव्यतिक्रमम् ॥ ६ ॥
धिगहो बत दैवदुर्नयाद्यदि भवतं जनमेवमुज्झताम्।
न घृणापथमेति मानसं यदि वा धर्मलवोऽपि सिध्यति ॥ ७ ॥

अथ सा बोधिसत्त्वस्य पत्नी तेन मातुः करुणेनाकृतकेन परिदेवितेन पतिप्रव्रज्याभिसंबन्धेन स्त्रीस्वभावाद्व्यथितहृदया ससंभ्रमा विषाद‌विक्लवमुखी शोकदुःखाभिनिपातसंक्षोभाद्विस्मृतकथाप्रस्तावसंबन्धा प्रव्रजितो मे भर्तेति मद्व्यवस्थापनार्थमम्बा गृहमिदमभिगता विप्रियश्रवणादिति निश्चयमुपेत्य सपरिदेवितं सस्वरं रुदती मोहमुपजगाम बाला ॥ तदुपश्रुत्य गृहजनः परिजनवर्गश्च शोकदुःखावेगादाक्रन्दनं चकार। तच्छ्रुत्वा प्रातिवेश्यमित्रस्वजनबन्धुवर्गः संश्रितजनो ब्राह्मणगृहपतयश्च तस्य गृहपतेरनुरागवशानुगाः प्रायशश्च पौरास्तद्गृहमभिजग्मुः।

सुखमें पले हुए, राजाके प्रिय उस रूपवान् सुकुमार तरुणकी रुचि वन-वास (=संन्यास) में क्यों हुई? ॥ २ ॥

स्वजनसे कोई कष्ट या बुढ़ापेकी कुरूपता पाये विना ही, एकाएक अनायास[1] ही उसने अपने वैभवपूर्ण घरको क्यों छोड़ दिया॥ ३ ॥

विनयसे विभूषित बुद्धिमान् धर्म-प्रिय और दूसरोंपर दया करनेवाले उसने अपने स्वजनके प्रति ऐसी निर्दयतारूपी चपलता (=ऐसा कठोर आचरण) क्यो की? ॥ ४ ॥

साधुओं ब्राह्मणों मित्रों आश्रितों स्वजनों और दीन-दुःखियोंका आदर करनेवाले एवं पवित्र शीलको ही धन समझनेवाले उसके लिए ऐसी कौन-सी चीज है, जिसे वह जंगलमें खोजे और घरमें न पाये? ॥ ५ ॥

अपनी निरपराध और अनुकूल धर्म-पत्नीका परित्याग करनेमें क्या वह धर्मात्मा इस धर्म-उल्लंघनको नहीं देख रहा है? ॥ ६ ॥

अहो, धिक्कार है! दैव-दुर्नीतिके कारण यदि ऐसे अनुरक्त परिवारको छोड़नेवालोंके मनमें दया नहीं होती है या यदि उन्हें थोड़ा-सा भी धर्म प्राप्त होता है।" ॥ ७ ॥

अपने पतिकी प्रव्रज्याके संम्बन्धमें अपनी माताकी उस करूण और अकृत्रिम विलापको सुनकर स्त्री-स्वभावके कारण बोधिसत्त्वकी पत्नीके हृदयमें व्यथा और घबड़ाहट हुई। विषादसे उसका मुख विकल था। शोक और दुःखके क्षोभसे वह बातचीतके प्रसंगको भूल गई। "मेरे पति प्रव्रजित हो गये, इस अप्रिय समाचारको सुनकर मेरी माता मुझे सांत्वना देनेके लिए यहाँ आई हैं" यह निश्चय कर वह लड़की उच्च स्वरसे रोती-विलपती मूर्छित हो गई। यह जानकर घरके दूसरे लोग तथा नौकर-चाकर शोक और दुःखके आवेगसे रोने लगे। यह सुनकर उस गृहपति (=बोधिसत्त्व) के प्रेमके वशीभूत पड़ोसी मित्र स्वजन बन्धु-बान्धव आश्रित ब्राह्मण और गृहपति—प्रायः समस्त पुर-वासी—उस घरमें आ गये।

प्रायेण लोकस्य बभूव यस्मात्तुल्यक्रमोऽसौ सुखदुःखयोगे ।
अतोऽस्य लोकोऽप्यनुशिक्षयेव तुल्यक्रमोऽभूत्सुखदुःखयोगे ॥ ८ ॥

अथ बोधिसत्त्वो राजकुलात् स्वभवनसमीपमुपगतः साक्रन्दशब्दं स्वभवनमवेत्य महतश्च जनकायस्य संनिपातं स्वं पुरुषमन्वादिदेश ज्ञायतां किमेतदिति । स तं वृत्तान्तमुपलभ्य समुपेत्यास्मै निवेदयामास ।

उत्सृज्य भवनं स्फीतमार्यः प्रव्रजितः किल ।
इति श्रुत्वा कुतोऽप्येष स्नेहादेवंगतो जनः ॥ ९ ॥

अथ स महासत्त्वः प्रकृत्या शुद्धाशयः प्रत्यादिष्ट इव तेन वचसा समुपजातव्रीडसंवेगश्चिन्तामापेदे । भद्रा बत मयि जनस्य संभावना ।

श्लाघनीयामवाप्यैतां गुणसंभावनां जनात् ।
गृहाभिमुख एव स्यां यदि किं मम पौरुषम् ॥१०॥

स्याद्दोषभक्तिः प्रथिता मयैवं गुणेष्ववज्ञाविरसा च वृत्तिः ।
यायामतः साधुजने लघुत्वं किं जीवितं स्याच्च तथाविधस्य ॥११॥

संभावनामस्य जनस्य तस्मात्क्रियागुणेन प्रतिपूजयामि ।
असत्परिक्लेशमयं विमुञ्चंस्तपोवनप्रेमगुणेन गेहम् ॥१२॥

इति विचिन्त्य स महात्मा तत एव प्रतिनिवृत्य राज्ञः प्रतिहारयामास श्रेष्ठी पुनर्द्रष्टुमिच्छति देवमिति । कृताभ्यनुज्ञश्च प्रविश्य यथोपचारं राजसमीपमुपजगाम । किमिदमिति च राज्ञा पर्यनुयुक्तोऽब्रवीत् । इच्छामि प्रव्रजितुं तदभ्यनुज्ञातुमर्हति मां देव इति ॥

अथैनं स राजा ससंभ्रमावेगः स्नेहादित्युवाच ।

मयि स्थिते बन्धुसुहृद्विशिष्टे त्वं केन दुःखेन वनं प्रयासि ।
यन्नापहर्तुं प्रभुता मम स्याद्धनेन नीत्या बलसंपदा वा ॥१३॥

वह प्रायः लोगोंके सुख-दुःखमें समान रूपसे सुखी और दुःखी होते थे; इसलिए लोग भी, मानो उनसे यह शिक्षा पाकर, उनके सुख-दुःखमें सहानुभूति रखते थे। ॥ ८ ॥

जब बोधिसत्त्व राज-कुलसे लौटकर अपने घरके समीप पहुँचे तो अपने घरमें रोने-पीटनेका शब्द और लोगोंकी बड़ी भीड़ एकत्रित जानकर उन्होंने अपने अनुचरको आदेश दिया—"पता लगाओ कि क्या बात है।" वह उस वृत्तान्तको जानकर और उनके समीप लौटकर बोला :—

"आर्य अपने विशाल (वैभवपूर्ण) घरको छोड़कर प्रव्रजित हो गये हैं, कहींसे यह (किंवदन्ती) सुनकर स्नेह-वश लोगोंकी ऐसी अवस्था हो गई है[१]।" ॥ ९ ॥

स्वभावसे ही शुद्धचित्त उस महापुरुषने इस वचनको सुनकर अपमान-जैसा अनुभव किया। लज्जित और विरक्त होकर वे सोचने लगे—"मेरे प्रति लोगोंकी उत्तम श्रद्धा है।

अपने गुणोंके सम्बन्धमें लोगोंकी इस उत्तम श्रद्धा (प्रशंसा, सम्मति) को प्राप्त कर यदि मैं घरकी ओर ही जाऊँ तो इसमें मेरा क्या पौरुष होगा ? ॥ १० ॥

इससे तो दोषोंके प्रति मेरी आसक्ति समझी जायगी और गुणोंकी अवहेलनासे मेरा आचरण नीरस (बुरा) समझा जायगा। इससे सज्जनोंके बीच मेरा लाघव होगा। उस अवस्थामें क्या मैं जीवित भी रह सकूँगा ? ॥ ११ ॥

इसलिए लोगोंकी इस उत्तम श्रद्धा (=प्रशंसा, सम्मति) को कार्यमें परिणत कर सम्मानित करूँगा। तपोवनकी अभिलाषासे बुराइयों और क्लेशोंसे परिपूर्ण घरको छोड़ूँगा।" ॥ १२ ॥

ऐसा सोचकर वह महात्मा वहींसे लौट गये और राजासे कहवाया—"श्रेष्ठी (=कोषाध्यक्ष) पुनः देवका दर्शन करना चाहते हैं।" आज्ञा पाकर उन्होंने भीतर प्रवेश किया और शिष्टाचारके साथ राजाके समीप पहुँचे। "यह क्या ?" इस प्रकार राजा द्वारा पूछे जानेपर वे बोले—"मैं प्रव्रजित होना चाहता हूँ। देव मुझे इसकी आज्ञा दें।" तब राजाने घबड़ाहट और आवेगमें आकर उनसे स्नेहपूर्वक कहा—

"मुझ विशिष्ट बन्धु और मित्रके रहते आप किस दुःखसे जंगलमें जा रहे हैं, जिस (दुःख) को मेरी प्रभुता धनद्वारा, नीतिद्वारा या बलद्वारा दूर नहीं कर सकती ? ॥ १३ ॥

अर्थो धनैर्यदि गृहाण धनानि मत्तः
पीडा कुतश्चिदथ तां प्रतिषेधयामि ।
मां याचमानमिति बन्धुजनं च हित्वा
किं वा त्वमन्यदभिवीक्ष्य वनं प्रयासि ॥१४॥

इति स महात्मा सस्नेहबहुमानमभिहितो राज्ञा सानुनयमेनमुवाच ।

पीडा कुतस्त्वद्भुजसंश्रितानां धनोदयावेक्षणदीनता वा ।
अतो न दुःखेन वनं प्रयामि यमर्थमुद्दिश्य तु तं निबोध ॥१५॥

दीक्षामुपाश्रित इति प्रथितोऽस्मि देव
शोकाश्रुदुर्दिनमुखेन महाजनेन ।
इच्छामि तेन विजनेषु वनेषु वस्तुं
श्रद्धेयतामुपगतोऽस्मि गुणाभिपत्तौ ॥१६॥

राजोवाच । नार्हति भवाञ्जनप्रवादमात्रकेणास्मान् परित्यक्तुम् । नहि भवद्विधानां जनप्रवादसंपादनाभिराध्या गुणविभूतिस्तदसंपादनविराध्या वा ।

स्वेच्छाविकल्पग्रथिताश्च तास्ता निरङ्कुशा लोककथा भ्रमन्ति ।
कुर्वीत यस्ता हृदयेऽपि तावत्स्यात्सोऽपहास्यः किमुत प्रपत्ता ॥१७॥

बोधिसत्त्व उवाच । मा मैवं महाराज । नहि कल्याणो जनप्रवादो नानुविधेयः । पश्यतु देवः ।

कल्याणधर्मेति यदा नरेन्द्र संभावनामेति मनुष्यधर्मा ।
तस्या न हीयेत नरः सधर्मा ह्रियापि तावद्धुरमुद्वहेत्ताम् ॥१८॥

संभावनायां गुणभावनायां संदृश्यमानो हि यथा तथा वा ।
विशेषतो भाति यशःप्रसिद्धया स्यात्त्वन्यथा शुष्क इवोदपानः ॥१९॥

यदि धनसे प्रयोजन है तो मुझसे धन लें। यदि आपको कोई पीडा है, तो मैं उसका निवारण करूँगा। प्रार्थना करते हुए स्वजन और मुझको छोड़ आप किस दूसरी चीजको देख जंगलमें जा रहे हैं ?" ॥ १४ ॥

इस प्रकार राजाद्वारा सस्नेह और सादर पूछे जानेपर उस महात्माने अनुनयपूर्वक उत्तर दिया—

"आपकी भुजाओंके आश्रयमें रहनेवालोंको कोई पीड़ा या निर्धनताका कष्ट कहाँसे हो सकता है ? अतः मैं दुःखसे वन नही जा रहा हूँ, किंतु जिस उद्देश्यसे जा रहा हूँ उसे सुनिये। ॥ १५ ॥

मैंने दीक्षा ले ली है, ऐसी प्रसिद्धि हो गई है, जिस कारण जन-समूह दुःखसे आँसू बहा रहा है। अतः मैं विजन वनमें निवास करना चाहता हूँ; मैंने गुण प्राप्त किया है (=धर्मका आश्रय लिया है), मेरे प्रति लोगोंकी ऐसी श्रद्धा हो गई है।" ॥ १६ ॥

राजाने कहा—"आप केवल जन-प्रवाद (=किंवदन्ती) को सुनकर हमें नहीं छोड़ सकते। आपके-से व्यक्ति जन-प्रवादको संपादन करके (= कार्यमें परिणत कर) गुण-विभूति प्राप्त कर सकते है, या उसे संपादन नहीं करके गुण-सम्पत्ति प्राप्त नहीं कर सकते हैं—ऐसा नही हो सकता।

स्वेच्छासे कल्पित (मन-गढन्त) लोक-कथाओं (=किंवदन्तियों) का अनियन्त्रित प्रचार होता है। जो कोई उन्हें हृदयमें भी स्थान देगा वह उपहासका पात्र है, फिर उन्हें कार्यमें परिणत करनेवालोंका क्या कहना ?" ॥१७॥

बोधिसत्त्वने कहा—"नहीं, महाराज, ऐसा नहीं। कल्याणकारी जन-प्रवादका अनुसरण करना ही चाहिए। देव देखें।"

"हे राजन्, जब मनुष्य कल्याणधर्मा (=उत्तम धर्म वाला) कहकर सम्मानित किया जाय तो वह उस (धर्म) से वञ्चित न हो। लज्जासे भी वह उस भारको सँभाले।। ॥ १८ ॥

गुणोंकी प्रशंसासे सम्मानित होने पर जो कोई वैसा आचरण करता हुआ देखा जाता है वह अपनी कीर्तिके फैलनेसे खूब शोभित होता है; किंतु अन्यथा (आचरण करने वाला) वह सूखे कुएँके समान है। ॥ १९ ॥

गुणप्रवादैरयथार्थवृद्धैर्विमर्शपाताकुलितैः पतद्भिः ।
विचूर्णिता कीर्तितनुर्नराणां दुःखेन शक्नोति पुनः प्रसर्तुम् ॥२०॥

तद्वर्जनीयान्परिवर्जयन्तं परिग्रहान्विग्रहहेतुभूतान् ।
क्रोधोच्छ्रितस्कानिव कृष्णसर्पान्युक्तोऽसि मां देव न संनिषेद्धुम्॥२१॥

स्नेहेन भक्तिज्ञतया च कामं युक्तो विधिर्भृत्यजने तवायम् ।
वित्तेन तु प्रव्रजितस्य किं मे परिग्रहक्लेशपरिग्रहेण ॥२२॥

इत्यनुनीय स महात्मा तं राजानं कृताभ्यनुज्ञस्तेन तत एव वनाय प्रतस्थे ॥ अथैनं सुहृदो ज्ञातयः संश्रिताश्चाभिगम्य शोकाश्रुपरिप्लुतनयनाः पादयोः संपरिष्वज्य निवारयितुमीषुः । केचिदञ्जलिप्रग्रहपुरःसरं मार्गमस्यावृत्य समवातिष्ठन्त । सपरिष्वङ्गसंगतानुनयमपरे गृहाभिमुखमेनं नेतुमीषुः । यत्किञ्चनकारिताक्षेपकर्कशाक्षरमन्ये प्रणयादेनमूचुः । मित्रस्वजनापेक्षाकारुण्यप्रदर्शनमपरेऽस्य प्रचक्रुः । गृहाश्रम एव पुण्यतम इत्येवमन्ये श्रुतियुक्तिसंग्रथितं ग्राहयितुमीहांचक्रिरे । तपोवनवासदुःखतासंकीर्तनैः कार्यशेषपरिसमाप्त्यायाच्ञया परलोकफलसंदेहकथाभिस्तैस्तैश्च वार्त्ताविशेषैर्निवर्तयितुमेनं व्यायच्छन्त ॥ तस्य तान् प्रव्रज्याश्रयविमुखान् वनगमननिवारणधीरमुखान् नयनजलार्द्रमुखान् सुहृदोऽभिवीक्ष्य व्यक्तमिति चिन्ता बभूव ।

सुहृत्प्रतिज्ञैः सुहृदि प्रमत्ते न्याय्यं हितं रूक्षमपि प्रयोक्तुम् ।
रूढः सतामेष हि धर्ममार्गः प्रागेव रुच्यं च हितं च यत्स्यात् ॥२३॥

जब गुणोंके अयथार्थ जन-प्रवाद बढ़ते हैं और वे विचारके प्रहारोंसे आकुल होकर गिर पड़ते हैं (बढ़ने नहीं पाते हैं) तब मनुष्योंकी कीर्ति चूर्ण हो जाती है और वह (कीर्ति) फिर कठिनाईसे ही फैल सकती है। ॥ २० ॥

विग्रह (=कलह और अमङ्गल) के हेतुरूप परिग्रह (=धन-जन) क्रोधसे शिर उठाये हुए कृष्ण सर्पोंके समान त्याज्य हैं। उन्हें त्यागनेमें, हे देव, आपको मुझे रोकना उचित नहीं है। ॥ २१ ॥

स्वामि-भक्त भृत्योंके प्रति स्नेह प्रकट करनेका आपका यह तरीका उचित ही है; किंतु बन्धनके दुःखसे युक्त धनसे मुझ प्रव्रजितको क्या प्रयोजन"? ॥ २२ ॥

इस प्रकार अनुनय-विनय कर उस महात्माने राजासे आज्ञा प्राप्त की और वहींसे जंगलके लिए प्रस्थान कर दिया। तब उनके मित्रों बन्धु-बान्धवों और आश्रितोंने समीप जाकर शोकके आँसू बहाते हुए, उनके पैर पकड़कर उन्हें रोकना चाहा। कुछ लोग हाथ जोड़े उनका रास्ता रोककर खड़े रहे। दूसरोंने आलिङ्गनके साथ साथ अनुनय करते हुए उन्हें घरकी ओर ले जाना चाहा। दूसरोंने जिस किसी कारणसे उन्हें फटकारते हुए प्रेमपूर्वक कठोर वचन कहे। मित्रों और स्वजन-वर्गपर दया दिखलावें, इसके लिए दूसरोंने चेष्टा की। गृहस्थाश्रम ही सबसे पवित्र है, इस प्रकार दूसरोंने शास्त्र और युक्तिद्वारा उन्हें समझाना चाहा। वन-वासके दुःखोंका वर्णन करते हुए, कार्य-शेष समाप्त करनेके-लिए प्रार्थना करते हुए, परलोक-फल (के संबन्ध) में सन्देह प्रकट करते हुए और भाँति भाँतिकी बातें कहकर उन्हें लौटानेकी कोशिश की। अपने उन मित्रोंको संन्यास ग्रहण करने (के विषय) म असहमत, तपोवनकी यात्रासे रोकनेमें दृढ़संकल्प तथा अश्रु-जलसे आर्द्रमुख देखकर उन्हें अवश्य ही यह चिन्ता हुई :—

"मित्रके उन्मत्त (=पथ-भ्रष्ट) होनेपर (मित्रताका दावा करनेवाले) मित्रोंको न्यायोचित और हितकी बात, रूखी होनेपर भी, कहनी ही चाहिए, यही तो सज्जनोंका धर्म-मार्ग (=कर्तव्य) है, फिर जो (उपदेश) हितकर भी हो और प्रिय भी उसका क्या कहना? ॥ २३ ॥

वनाद्गृहं श्रेय इदं त्वमीषां स्वस्थेषु चित्तेषु कथं नु रूढम् ।
यन्निर्विशङ्का वनसंश्रयान्मां पापप्रसङ्गादिव वारयन्ति ॥२४॥

मृतो मरिष्यन्नपि वा मनुष्यश्च्युतश्च धर्मादिति रोदितव्यम् ।
कया नु बुद्ध्या वनवासकामं मामेव जीवन्तममी रुदन्ति ॥२५॥

मद्विप्रयोगस्त्वथ शोकहेतुर्मया समं किं न वने वसन्ति ।
गेहानि चेत्कान्ततराणि मत्तः को न्वादरो बाष्पपरिव्ययेन ॥२६॥

अथ त्विदानीं स्वजनानुरागः करोति नैषां तपसेऽभ्यनुज्ञाम् ।
सामर्थ्यमासीत्कथमस्य नैव व्यूढेष्वनीकेष्वपि तत्र तत्र ॥२७॥

दृष्टावदानो व्यसनोदयेषु बाष्पोद्गमान्मूर्त इवोपलब्धः ।
संरूढमूलोऽपि सुहृत्स्वभावः शाठ्यं प्रयात्यत्र विनानुवृत्त्या ॥२८॥

निवारणार्थानि सगद्गदानि वाक्यानि साश्रूणि च लोचनानि ।
प्रणामलोलानि शिरांसि चैषां मानं समानस्य यथा करोति ॥२९॥

स्नेहस्तथैवार्हति कर्तुमेषां श्लाघ्यामनुप्रव्रजनेऽपि बुद्धिम् ।
मा भून्नटानामिव वृत्तमेतद्व्रीडाकरं सज्जनमानसानाम् ॥३०॥

द्वित्राणि मित्राणि भवन्त्यवश्यमापद्गतस्यापि सुनिर्गुणस्य ।
सहाय एकोऽप्यतिदुर्लभस्तु गुणोदितस्यापि वनप्रयाणे ॥३१॥

ये मे हरन्ति स्म पुरःसरत्वं रणेषु मत्तद्विपसंकटेषु ।
नानुव्रजन्त्यद्य वनाय ते मां किंस्वित्स एवास्मि त एव चेमे ॥३२॥

जंगलसे घर ही श्रेयस्कर है, यह भाव इनके स्वस्थ चित्तोंमें कैसे उत्पन्न हुआ, जो ये निर्भय होकर मुझे जंगलमें जानेसे ऐसे रोक रहे हैं जैसे पापमें पड़नेसे ? ॥ २४ ॥

जो मनुष्य मर चुका हो या मर रहा हो या धर्मसे च्युत हुआ हो उसके लिए रोना उचित है; किंतु ये किस बुद्धि (=दृष्टिकोण) से तपोवनके अभिलाषी मुझ जीवित व्यक्तिके लिए रो रहे है ? ॥ २५ ॥

यदि मेरा वियोग शोकका कारण है तो ये मेरे साथ ही जंगलमें जाकर क्यों नही रहते है ? यदि इन्हें मुझसे बढ़कर घर ही अच्छे लगते है तो आँसू बहाकर यह कैसा आदर करना है ? ॥ २६ ॥

यदि स्वजन-अनुराग (=परिवारकी आसक्ति) इन्हें तपस्यासे रोक रहा है तो वह (स्वजन-अनुराग) उन सैन्य-व्यूहों (में प्रवेश करने) से इन्हें रोकनेमें समर्थ क्यों नही हुआ ? ॥ २७ ॥

विपत्तियोंके आनेपर जिस मित्रताका पराक्रम मैंने देखा है वह इनके आँसुओंमें मानो साकार खड़ी है, किंतु वह (बहुत दिनोंकी) बद्धमूल मित्रता (आज) अनुकूल (सहायक) नहीं होनेके कारण शठता (में परिणत) हो रही है। ॥ २८ ॥

जिस प्रकार स्वजनके प्रति सम्मान-भावके कारण ये मुझे रोकनेके लिए गद्‌गद् वचन कह रहे हैं, आँखोंसे आँसू बहा रहे हैं और शिर झुकाकर प्रणाम कर रहे हैं; उसी प्रकार स्नेह-भावके कारण इन्हें मेरे पीछे प्रव्रजित होनेकी सद्‌बुद्धि प्राप्त हो, जिससे इनका यह आचरण नाटकके पात्रोंका-सा (बनावटी साबित होकर) सज्जनोंके लिए लज्जा-जनक न हो। ॥ २९–३० ॥

विपत्तिमें पडनेपर गुण-हीन व्यक्तिके भी दो-तीन मित्र हो ही जाते हैं; किंतु तपोवन (में जाने) के लिए गुणवान् व्यक्तिको भी एक भी साथी मिलना कठिन है। ॥ ३१ ॥

मतवाले हाथियोंसे भरी हुई युद्ध-भूमियोंमें जो (निर्भय होकर) मेरे आगे आगे चलते थे वे आज वन (में जाने) के लिए मेरे पीछे पीछे नहीं चल रहे हैं। क्या मैं वही हूँ और ये वही हैं ? ॥ ३२ ॥

स्मरामि नैषां विगुणं प्रयातुं स्नेहस्य यत्संक्षयकारणं स्यात् ।
सुहृज्जनस्यैवमियं स्थितिर्मे कच्चिद्भवेत्स्वस्तिनिमित्ततोऽस्मात् ३३

ममैव वा निर्गुणभाव एष नानुव्रजन्त्यद्य वनाय यन्माम् ।
गुणावबद्धानि हि मानसानि कस्यास्ति विश्लेषयितुं प्रभुत्वम् ॥३४॥

ये वा प्रकाशानपि गेहदोषान्गुणान्न पश्यन्ति तपोवने वा ।
निमीलितज्ञानविलोचनांस्तान्किमन्यथाहं परितर्कयामि ॥३५॥

परत्र चैवेह च दुःखहेतून्कामान्विहातुं न समुत्सहन्ते ।
तपोवनं तद्विपरीतमेते त्यजन्ति मां चाद्य धिगस्तु मोहम् ॥३६॥

यैर्विप्रलब्धाः सुहृदो ममैते न यान्ति शान्तिं निखिलाश्च लोकाः ।
तपोवनोपार्जितसत्प्रभावस्तानेव दोषान्प्रसभं निहन्मि ॥ ३७ ॥

इति स परिगणय्य निश्चितात्मा प्रणयमयानि सुहृद्विचेष्टितानि ।
अनुनयमधुराक्षरैर्वचोभिर्विशदमपास्य तपोवनं जगाम ॥३८॥

तदेवमभूतगुणसंभावना प्रतोदसंचोदनेव भवति साधूनामिति गुणसंपादने प्रयतितव्यम् । यतो भिक्षुरित्युपासक इति गुणतः संभाव्यमानेन साधुना तद्भावसाधुभिर्गुणैरभ्यलंकर्तव्य एवात्मा ॥ एवं दुर्लभा धर्मप्रतिपत्तिसहाया इत्येवमप्युन्नेयम् ॥

इति श्रेष्ठिजातकं विंशतितमम् ।

मुझे स्मरण नहीं हो रहा है कि मैंने इनकी कोई बुराई की है, जिससे कि इनका स्नेह क्षीण हो। अतः शायद किसी शुभ उद्देश्यसे मेरे मित्रोंकी यह स्थिति हुई है। ॥ ३३ ॥

या यह मेरी ही गुण-हीनता है कि ये आज वन (में जाने) के लिए मेरा साथ नहीं दे रहे हैं; क्योंकि गुणोंसे बँधे हुए चित्तको भला कौन बिलगा सकता है? ॥ ३४ ॥

जो घरके प्रत्यक्ष दोषोंको या तपोवनके गुणोंको नहीं देख सकते हैं उनके ज्ञान-नेत्र बन्द हैं। उनके बारेमें मैं और क्या सोचूं? ॥ ३५ ॥

ये परलोक और इहलोकमें दुःखके हेतु-रूप काम-भोगोंको नहीं छोड़ सकते हैं और उसके विपरीत (=सुखके हेतुरूप) तपोवनको तथा मुझे छोड़ रहे हैं। अहो, धिक्कार है इस मूढ़ताको। ॥ ३६ ॥

जिन दोषोंके वशीभूत मेरे इन मित्रों तथा समस्त संसारको शान्ति नहीं मिल रही है, तपोवनमें रहकर मैं वह उत्कृष्ट शक्ति प्राप्त करूँगा, जिससे उन दोषोंका बलात् विनाश कर सकूं।" ॥ ३७ ॥

इस प्रकार सोचकर वह दृढ़निश्चयी अनुनयपूर्वक मधुर वचन कहकर अपने मित्रोंकी स्नेहपूर्ण चेष्टाओंकी उपेक्षा कर तपोवन चले गये। ॥ ३८ ॥

तब इस प्रकार (देखते हैं कि) गुण नहीं होनेपर भी यदि उसकी सम्भावना (प्रशंसा, प्रसिद्धि, श्रद्धा) की जाय तो इससे साधु-जनोंको अंकुश-की-सी प्रेरणा मिलती है। अतः गुण प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि "ये भिक्षु हैं, ये उपासक हैं" यह कहकर प्रशंसित और सम्मानित होनेपर सज्जन पुरुषको उस अवस्था (भिक्षु-भाव, उपासकपन) के योग्य गुणोंसे अपनेको अलंकृत करना ही चाहिए। और धर्मका आश्रय लेनेमें साथियोंका मिलना कठिन है, यह निष्कर्ष भी निकालना चाहिए।

श्रेष्ठि-जातक बीसवाँ समाप्त।

परिशिष्ट (टिप्पणियाँ)

पृष्ठ	टि०	
३	१	अज्ञात मार्गके खास खास चिह्नोंका पहले ही परिचय प्राप्त कर लेनेसे उसपर चलनेमें सुविधा होती है।
५	१	अनुकूल माता-पिता-आचार्य आदि गुरुजनोंकी उत्तम सहायता।
,,	२	या 'ब्राह्मणोंके लिए वेदके समान, क्षत्रियोंके लिए आदरणीय राजाके समान'।
७	१	कुहना = लोभसे दम्भपूर्वक मौन-ध्यान आदि करना, पाखण्ड द्वारा वञ्चना।
९	१	या "आत्म-स्नेह (= शरीर-प्रेम) की सीमाको लाँघकर"।
,,	२	या "कितनी कष्टदायक है आत्म-स्नेहकी यह क्रूरता"।
,,	३	या "किस दूसरे प्राणीसे मांसकी याचना करूँ ?"
,,	४	या "समझूंगा कि मैंने पाप किया है और"
११	१	या "श्रद्धा प्रदान करूँगा"।
१३	१	या 'उनके सद्गुणोंके प्रति अपने इन शब्दोंमें मानो अपना सन्मान व्यक्त किया'।
,,	२	काम, मार, शैतान।
१५	१	उत्साह–शक्ति = विक्रम–बल; मंत्र–शक्ति = ज्ञान–बल; प्रभु–शक्ति = कोश–बल और दण्ड–बल। (कौटिल्य अर्थ–शास्त्र २।६)।
,,	२	अर्थ धर्म और काम।
१९	१	उदात्तचित्त, निर्भय।
२३	१	आप दूसरोंका अभ्युदय देखकर प्रसन्न होते हैं और यह दरिद्र दूसरोंकी समृद्धि देखकर दग्ध होगा।
,,	२	या 'गर्हित लोभ-पाशको धारण करता है'।

पृष्ठ	टि०	
३५	१	राजाके प्रति भृत्योंका अनुराग या भृत्योंके प्रति राजाका अनुराग या राजा और भृत्योंका पारस्परिक अनुराग (प्रेम)। उसकी बढ़ती हुई राज-भक्तिके कारण राज्य-लक्ष्मी अचल हो गई।
४३	१	या 'वाणिज्य-व्यापारमें अपनी ईमानदारीके कारण'।
६५	१	पा० '°धीरतया' ?
७३	१	या सत्संग-सुखसे शीतल।
,,	२	अभीष्ट सिद्ध करनेमें समर्थ, मनोरथ पूरा कर सकनेवाला।
७९	१	'प्रतीर' के स्थानपर 'प्रकीर्ण' रखकर अर्थ किया है। 'प्रतीर' रहने पर अर्थ होगा—'जिसके तीरपर एक विमल जलाशय है'।
,,	२	मैंने 'तपसातनुः' के स्थानमें 'तेजसातनुः' रखा है, दे० बु० च० बारह ९७।
८१	१	या 'उबालकर'।
८५	१	या 'हे तपस्वी काश्यप, आपके इस युक्ति-युक्त सुभाषितके लिए मैं......।
,,	२	या 'इच्छासे भी बहुत अधिक'।
,,	३	या 'हे मुनि, आपके इस उचित सुभाषितके लिए भी'।
९७	१	मनुष्योंकी बोली बोल सकनेके पहले यक्ष तुतलाते हैं।
९९	१	'दुर्जन-धनको' 'गर्व' का विशेषण समझा जाय तो अर्थ होगा —'दुर्जनोचित अभिमान नहीं करते हैं'।
१०७	१	या "प्रजाजन (का अभ्युदय) इन्हें सह्य नहीं है।"
,,	२	अनर्थे पाण्डित्यं तेन हताः (दग्धाः) = अनर्थ-पाण्डित्यहताः।
१११	१	'वपुर्गुण' के लिए देखिये बु० च० आठ ६५।
१२३	१	यद्यपि वह उस राज-शास्त्रको जानता था, जिसमें धर्ममार्गका अनुसरण वहीं तक किया गया है जहाँ तक यह अर्थ-सम्मत (अर्थकी प्राप्तिमें सहायक) है—स्पेयर।

पृष्ठ	टि०	
१२३	२	"पीडार्थेऽपि व्यलीकं स्यात्"—अमरकोष।
१२५	१	मद–अवलेप=मद–लेप, मद-धारा; अभिमान।
,,	२	प्रमार्ष्टि=पोंछता है; नष्ट करता है।
,,	३	या 'विश्वन्तरकी दान-आसक्ति-रूपी व्यसन ही नीति-मार्गकी उपेक्षा है।
१२७	१	यथा राजा तथा प्रजा। यदि राजा कुमार्गपर चलेगा तो प्रजा भी कुमार्गपर चलेगी। यदि कोई प्रजा कुमार्गपर चले तो उतना हर्ज नहीं, किंतु यदि राजा कुमार्गपर चले तो इसका प्रभाव समस्त प्रजापर पड़ सकता है।
१३१	१	पा० "वस्तु बाह्यम्" ?=बाहरी चीज।
१३३	१	अनुपभुक्त=अखण्ड, एकान्त, शान्त, निर्मल, पवित्र।
,,	२	मद एव आचार्यः, तेन उपदिष्टानि।
,,	३	गूर्=उद्यम और गतिके अर्थमें। 'उद्गूर्णलगुडः'—पञ्चतन्त्र, नि० सा० प्रेस, पृ० २४०।
१३७	१	वन-वासी मुनिगण पशु-पक्षियोंका भी सत्कार करते थे।
,,	२	निर्+यत्+णिच्+ल्यप्, देना, समर्पण करना, दत्तस्य निर्यातनं, प्रत्यर्पणं।
,,	३	अजिनान्त "कृष्णाजिन" नामके लिए देखिये अष्टाध्यायीके सूत्र "उपकादिभ्यो ····" २।४।६९, "अजिनान्तस्योत्तरपदलोपश्च" ५।३।८२ और "संज्ञायां मित्राजिनयोः" ६।२।१६५ की काशिका वृत्ति।
,,	४	"हेतौ च" २।३।२३ के अनसार तृतीयान्त फलको निमन्त्रणके साथ जोड़कर अर्थ किया है। 'आनमिताग्रशाखाः' के साथ भी रखा जा सकता है।
१३९	१	या 'स्निग्धवल्कल, कोमल छालवाले।'

पृष्ठ	टि०	
१३६	२	पा० "कुसुमरजोवासितसुखपवनं ?"
१४१	१	मनमोहिनी, प्रतिकूल आचरण करनेवाली।
१५३	१	'कहँ चन्द्रिका चन्द्र तजि जाई'—रामचरितमानस।
१५५	१	'प्रतारणा' के लिए देखिये बु० च० ग्यारह ५०।
१५७	१	चतुर्थ पादका पाठ अनिश्चित जान पड़ता है।
१५६	१	देखिये 'प्रत्ययनेयबुद्धिः' सौ० पाँच १७।
१६३	१	'जनप्रकाशेनाडम्बरेण' को वाक्यके उत्तरार्धमें रखकर यहाँ अर्थ किया गया है।
१६५	१	या "स्तुतियोंसे पुञ्जीभूत राजाका यश"।
१७१	१	इन्द्रके योग्य चिह्न या अर्हत्की आकृतिके चिह्नसे विभूषित।
१७५	१	दैत्य-अधिपतियों, या दैत्य-राज।
१७६	१	'आराधनं साधने स्याद्वाप्तौ'—अमरकोष।
,,	२	'साधुः' के स्थानमें 'साधु' रखें—स्पेयर।
१८१	१	'व्याहन्तुं' के साथ केवल 'उत्सेहे' पढ़नेसे अर्थ होगा—'विरोध कर सके।'
१८७	१	अपने और परायेके बीच भेद-भाव किये विना धर्मका अनुसरण करनेवाली उनकी दण्ड-नीति।
,,	२	उन्माद उत्पन्न करनेवाली, पागलपन पैदा करनेवाली।
१९३	१	'काल-नालिका' यह शब्द हर्षचरितके अष्टम उच्छ्वासमें (ह० च० उत्तरार्ध पृष्ठ १७४ पर) समय-सूचक यन्त्रके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।
,,	२	आकार = मनका अभिप्राय, हृद्गत भाव—पद्मचन्द्रकोश।
१६६	१	आहवनीय = अग्नि, जिसमें हवन किया जाय।
,,	२	स्पेयरने लक्ष्मीका अर्थ 'पारलौकिक सुख' किया है।
२०१	१	त्रिवर्ग-साधक, अर्थ धर्म और कामकी प्राप्ति करानेवाली।

पृष्ठ	टि०	
२०३	१	धर्म है आश्रय जिसका, धर्मके आधार पर, धर्मकी दुहाई देकर।
२०५	१	(इष्ट और शुभको समीप) लानेमें तथा (अनिष्ट और अशुभको दूर) हटानेमें; 'जहाजको ले आने और ले जानेमें'—स्पेयर।
,,	२	सांयात्रिक=पोत-वणिक, जहाजी व्यापारी।
,,	३	स्पेयरके अनुसार तीसरे पादका अर्थ है—'महाविपत्तिमें पड़कर भी इस समुद्रमें'।
२०९	१	खुरोंकी माला धारण करनेवाला।
२११	१	पीछेसे या पश्चिमसे बहनेवाली।
२१६	१	संध्या-कालमें खिलनेवाला सुगन्धित श्वेत कमल।
,,	२	लाल कमल।
,,	३	नीला कमल।
२२३	१	मूल शब्द 'कालमेघ' श्लेषात्मक है।
२२५	१	पहाड़=सरोवरका ऊँचा किनारा।
,,	२	तूर्य=नगाड़ा। 'मृदङ्गो घोष-वाद्ययोः' इति हैमः।
२२७	१	भावित=पवित्र, परिशोधित, सुगन्धित।
,,	२	अन्तिम पादको तृतीयान्त करके ध्वाङ्क्ष (कौआ) का विशेषण बनाना अच्छा होगा। अतः 'जीवितम्' के स्थानमें 'जीवता' पाठ रखा जाना चाहिए।
२२९	१	ये दोनों श्लोक धम्मपदके श्लोक १०–११ से मिलते-जुलते हैं।
,,	२	कोष्ठकके भीतरका अंश प्रक्षिप्त है।
२३१	१	सत्यार्थी, सत्यान्वेषी, सत्य-प्रेमी।
२४५	१	'प्रभवति शुचिर्बिम्बोद्ग्राहे मणिर्न मृदां चयः'–उत्तररामचरित २।४
२४७	१	अविकल अर्थ होगा—'सत्पुत्र (प्राप्त करने) के मनोरथको पूर्ण कीजिये।' देखिये, "नरः पितॄणामनृणः प्रजाभिः"—मनुष्य सन्तान-उत्पादन द्वारा पितृ-ऋणसे मुक्त होता है बु० च० ९।६५ क।
२४९	१	न निक्षिप्तः (पातितः) दण्डः येन स अनिक्षिप्तदण्डः, तस्य।

पृष्ठ	टि०	
२५१	१	वैराग्य, एकान्त, ध्यान, शान्ति ।
,,	२	उपहास, प्रवञ्चना ।
,,	३	आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और शिल्पशास्त्र, ये चार उपवेद क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके कहे जाते हैं।
२५७	१	संघट्टन=टकराना; काठसे काठ बजाकर । आजकल कहीं कहीं घंटी बजाकर भोजन-कालकी सूचना दी जाती है।
,,	२	या उनके सद्गुणोंकी दृढ़तर सम्भावनासे ।
२६१	१	स्पेयरके अनुसार 'चतुःशतं' पालिके 'चतुस्सदं' का अशुद्ध संस्कृत-रूप है और पालि-जातककी व्याख्याके अनुसार इसका अर्थ होगा—चार प्रचुरताओं (=अन्न जल जंगल और जनतासे युक्त एक उत्तम ग्राम) ।
६३	१	'प्रतिदिन एक खिड़की'—स्पेयर। आलोक-सन्धि=प्रकाश-मार्ग, रोशन-दान ।
,,	२	स्पेयरके अनुसार पालिमें प्रयुक्त शब्दका अर्थ है छः बन्धन, जो हाथीके गले कमर और चार पाँवोंमें बाँधे जाते हैं।
,,	३	मदारी अपने पास सर्प भी रखता होगा।
२६५	१	आत्माकी प्राप्ति या आत्म-संयमकी इच्छा करनेवाले।
२६७	१	नकल उतारनेवाला, परिहास करनेवाला, उपहास-पात्र, मजाकिया ।
,,	२	कोष्ठके भीतरकी पंक्तियाँ प्रक्षिप्त जान पड़ती हैं। इस सूचीमें साथी (=सहायक) का नाम नहीं है। चित्र और गृहपतिको यदि दो नाम समझा जाय तो चित्र साथीका नाम हो सकता है।
२६९	१	या 'निष्पक्ष-न्याय-प्रेमी थे'।
,,	२	'दयालु और महाधनी होनेके कारण वह चारों ओर दानमें धन-सम्पत्तिकी धारा बहाते थे और गृहस्थोंमें रत्न समझे जाते थे'।
,,	३	या "या तेरी सेवा करना तो जानते हैं ?"
२७१	१	'रुजं विना' का दूसरा अर्थ होगा 'रोग-ग्रस्त हुए विना ही'।
२७३	१	या, स्नेहवश लोग एकत्र हुए हैं।